श्री काशी संस्कृत ग्रन्थमाला २०९

हिन्दी
काव्यालङ्कारसूत्राणि

डॉ० बेचन झा

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा विक्रेता
पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० १३९
जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी (भारत)

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला
२०९

श्रीवामनाचार्यविरचिततदुपज्ञवृत्तिक-

काव्यालङ्कारसूत्राणि

श्रीगोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालविरचित-

'काव्यालङ्कारकामधेनु'-टीकया हिन्दीव्याख्यया चोपेतानि

हिन्दीव्याख्याकारः

डॉ० बेचन झा

(अध्यक्ष : संस्कृत विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना)

प्रस्तावनालेखकः

डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी

(अध्यक्ष : साहित्यविद्याविभाग, प्राच्य विद्या धर्मविज्ञान संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी)

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा विक्रेता
पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० १३९
जड़ाव भवन के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : द्वितीय, वि० संवत् २०३३

मूल्य : रु० १५–००

हमारे प्रकाशनों की एकमात्र वितरक संस्था :—

चौखम्भा ओरियन्टालिया

प्राच्यविद्या एवं दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक तथा विक्रेता

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० ३२

गोकुल भवन के ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी–२२१००१ (भारत)

टेलीफोन : ६३०२२ टेलीग्राम : गोकुलोत्सव

प्रधान शाखा :—

चौखम्भा विश्वभारती

चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)

वाराणसी

फोन : ६५४४४

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
209
*****

KĀVYĀLANKĀRA SŪTRA

OF

ĀCHĀRYA VĀMANA

With the

Kāvyālankārakāmadhenu Sanskrit commentary

OF

ŚRĪ GOPENDRA TRIPURAHARA BHŪPĀLA

Edited With Hindī Translation

BY

Dr. BECHANA JHĀ
Prof. of Sanskrit, Patna University, Patna.

INTRODUCTION

BY

Dr. REWĀPRASĀDA DWIVEDĪ
Head of Sahityavidya, B. H. U., Varanasi

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN
Publishers and Book-Sellers
P. O. Chaukhambha, Post Box No. 139
Jadau Bhawan K. 37/116, Gopal Mandir Lane
VARANASI (INDIA)

Also can be had of :—
CHAUKHAMBHA VISVABHARATI
Chowk (Opposite Chitra Cinema)
VARANASI-221001
Phone : 65444

Second Edition 1976
Price : Rs. 15-00

Sole Distributors :—
CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
A House of Oriental and Antiquarian Books
P. O. Chaukhambha, Post Box No. 32
Gokul Bhawan, K. 37/109, Gopal Mandir Lane
VARANASI-221001 (India)
Telephone : 63022 Telegram : Gokulotsav

प्रस्तावना

'उन्मीलत्प्रतिभानकन्दमुदयत्सन्दर्भनालं लस-
च्छलेषव्याकुलशब्दपत्रमतुलं बन्धारविन्दं सदा।
अध्यासीनमलङ्क्रियापरिलसद्‌गन्धं वचोदैवतं
वन्दे रीतिविकासमाशु विगलन्माधुर्यपुष्पासवम्॥—कामधेनुः।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' १२०० वर्ष प्राचीन ग्रन्थ है। इसका निर्माण ८०० ई० में हुआ था। इसके रचयिता हैं आचार्य वामन। इनके समय तक भारतीय काव्यसमीक्षा का इतिहास अपने कम से कम १००० वर्ष बिता चुका था[1]। इस अवधि में काव्य को अकाव्य से भिन्न करने वाले जिन तत्त्वों की पहचान की गई थी वे थे—

१. रस-तत्त्व
२. अलंकार-तत्त्व[2] और
३. गुण-तत्त्व

ये तत्त्व संग्राह्य तत्त्व थे। इनके अतिरिक्त काव्यात्मक अभिव्यक्ति में परित्याज्य तत्त्वों के रूप में दोषों का भी विचार किया गया था।

वामन तक इन तत्त्वों का निरूपण जिन जिन आचार्यों ने किया था वे ये हैं—

१. भरत[3] [ई. पू. २०० से ई. २००]

---

१. कम से कम इसलिए कि—
(क) भरत के जिस नाट्यशास्त्र को प्रथम ग्रन्थ माना जाता है उसका रचनाकाल निश्चित नहीं है तथा
(ख) 'का ते अस्त्यलंकृतिः सूक्तैः' इत्यादि वचनों में अलंकृतितत्त्व पर ऋग्वेद का द्रष्टा ऋषि भी ध्यान देता दिखाई देता है। ऋग्वेद की उपलब्ध संहिता का संकलनकाल १२०० ई० पू० से कम नहीं माना जाता।

२. भरत ने लक्षणनामक भूषण तत्त्व को भी काव्यतत्त्व के रूप में अपनाया है, किन्तु उसका अन्तर्भाव अलंकार तथा गुणों में ही हो जाता है।

३. भरत का ग्रन्थ नाट्यशास्त्र, चौखम्बा, बड़ौदा तथा एशियाटिक सो० कलकत्ता से प्रकाशित।

२. दण्डी[1] [ई० ६६० से ६८०]
३. भामह[2] [ई० ७०० से ७२५]
४. उद्भट[3] [ई० ७५० से ८०० प्रायः समकालीन]

इनमें से उद्भट ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकारसारसंग्रह' में केवल उपमा आदि अलंकारों का निरूपण किया है। शेष सभी आचार्यों में उक्त सभी तत्त्वों पर विचार मिलता है। सभी तत्त्वों पर विचार करने पर भी इन आचार्यों ने एक एक तत्त्व को महत्त्व दिया है। भरत का कहना है 'रसः [4]काव्यार्थः' अर्थात् 'रस ही काव्य का प्रधान तत्त्व है'। दण्डी की मान्यता है 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् [5]प्रचक्षते—' काव्य में शोभा की उत्पत्ति अलंकारों से होती है [फलतः सभी काव्यतत्त्वों में वे ही प्रधान हैं] भामह अलंकार को वक्रोक्तिस्वरूप मानते और कहते हैं—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना[6]॥

—'सातिशय उक्ति ही वक्रोक्ति है। यही वह तत्त्व है जिससे काव्यार्थ विभावित होता है। कवि को चाहिए कि वह अपनी प्रतिभा इसी पर केन्द्रित रखे और काव्य में इसी की निष्पत्ति का प्रयत्न करता रहे। ऐसा कोई अलंकार नहीं जो इसके बिना संभव हो।'

वे अपने ग्रन्थ को 'काव्यालंकार' नाम देते हैं। इससे स्पष्ट है कि वे भी काव्य-तत्त्वों में अलंकार को प्रमुख मानते हैं। उद्भट के ग्रन्थ का नाम 'काव्यालंकारसार-

---

१. दण्डी का ग्रन्थ काव्यादर्श, अनेक बार प्रकाशित, उत्तम संस्करण शोधसंस्थान पूना से श्री रंगाचार्य रड्डी की संस्कृत टीका के साथ १९३८ में प्रकाशित। दण्डी को बहुत से गवेषक भामह के बाद का मानते हैं। हमें यह मान्य नहीं है। द्र० हमारे 'अलंकार-सर्वस्व' की भूमिका, चौखम्बा, वाराणसी १९७१।

२. भामह का ग्रन्थ 'काव्यालंकार' चौखम्बा, वाराणसी से प्रकाशित।

३. उद्भट के ग्रन्थ का नाम 'काव्यालंकारसार' और काव्यालंकारसारसंग्रह भी है। उत्तम संस्करण प्रतीहारेन्दुराज की लघुविवृति के साथ निर्णयसागर से प्रकाशित। श्रीवनहट्ठी के अंग्रेजी अनुवाद तथा डा० राममूर्त्ति त्रिपाठी के हिन्दी अनुवाद के साथ इसके दो अन्य संस्करण भी प्रकाशित हैं।

४. नाट्यशास्त्र अध्याय ६, यद्यपि इसमें उपलब्ध रसनिरूपण प्रक्षिप्त है तथापि यह अंश १० वीं शती तक नाट्यशास्त्र में जुड़ चुका था, क्योंकि इस पर अभिनव गुप्त की व्याख्या मिलती है।

५. काव्यादर्श २।१

६. काव्यालंकार

संग्रह' है और वे केवल अलंकारों का निरूपण करते हैं, इसलिए अवश्य ही उन्हें भी अलंकार में भी अतिशय दिखाई देता है[१]। इससे स्पष्ट है कि भरत, दण्डी और भामह गुणतत्त्व से परिचित हैं किन्तु वे उसे महत्त्व नहीं देते, प्रधान नहीं मानते। भामह ने तो गुणों की संख्या मे कटौती की है। भरत तथा दण्डी ने गुणों की संख्या १० मानी थी। भामह ने उन्हें केवल ३ माना और उनका भी निरूपण मन से नहीं किया[२]। दण्डी और भामह ने गुण के लक्षण पर भी ध्यान नहीं दिया। भरत ने ध्यान दिया था किन्तु उन्हें अभावात्मक माना था यह कहते हुए कि वे दोषविपर्यय[३] हैं। अर्थ यह कि भरत ने गुणों को भावात्मक तत्त्व स्वीकार नहीं किया था। इस प्रकार वामन के पहले तक काव्यशास्त्र के—

तथाकथित[४]—१. रससंप्रदाय
२. अलंकार-संप्रदाय
३. गुण या रीति-संप्रदाय
४. ध्वनि-संप्रदाय
५. वक्रोक्ति-संप्रदाय तथा
६. औचित्य-संप्रदाय

इन छ संप्रदायों में से केवल दो संप्रदायों की स्थापना हुई थी—

१. रससंप्रदाय
२. अलंकार-संप्रदाय

इनमें से रससंप्रदाय को दण्डी और भामह ने अलंकारसंप्रदाय में ही अन्तर्भूत मानना चाहा था। रसवदलंकार की कल्पना कर इन आचार्यों ने रस को भी काव्य-धर्म और अलंकारात्मक काव्यधर्म मानना चाहा[५] था। इस प्रकार वामन के समय एक ही संप्रदाय का बोलबाला था—'अलंकारसंप्रदाय' का। एक विशेषता और थी। यह कि इस अवधि में अलंकारतत्त्व भी बहुत ही स्थूल रूप और अत्यन्त संकीर्ण क्षेत्र तक सीमित कर दिया गया था। यह क्षेत्र था सादृश्य, आरोप, संभावन, संशय,

---

१. उद्भट ने भामह के काव्यालंकार पर कोई टीका भी लिखी थी कदाचित् उसका विवरण नाम था।

२. काव्यालंकार

३. नाट्यशास्त्र १७।९५ चौखम्बा सं०। यदि दोषों को अभाव माना जाए तो भरत के अनुसार गुण अभावाभावात्मक होंगे।

४. तथाकथित इसलिए कि शुद्ध संप्रदाय केवल दो ही हैं १. अलंकार सम्प्रदाय २. ध्वनि संप्रदाय। इन ६ संप्रदायों की चर्चा संप्रदाय नाम से प्राचीन काव्यशास्त्र में नहीं मिलती। द्र० हमारा ग्रन्थ 'आनन्दवर्धन'।

५. काव्यादर्श तथा काव्यालंकार

विरोध आदि उक्तिप्रकारों का, जिन्हें उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, संदेह और विरोध आदि नामों से पुकारा जाता था। अलंकारतत्त्व का जो महामहिम और विराट् सर्वव्यापी, सर्वग्राही और विभुत्वमय स्वरूप नाट्यशास्त्र के पहले निरुक्त युग में या उसके भी पहले संहितायुग में था वह इस अवधि में उपेक्षित था[१]।

इस युग की एक कमी थी। यह कि इस युग में जिस काव्य पर विचार किया जा रहा था उसका स्वरूप, उसको विजातीय तथा सजातीय तत्त्वों से पृथक् करने वाली उसकी मौलिकता का निरूपण नहीं हो सका था। भरत ने काव्य का कोई ऐसा स्वरूप प्रस्तुत किया ही नहीं। दण्डी ने कुछ कहा तो उनका वह कथन अपने आप में एक कविता बन कर रह गया। उनने कहा था—'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना [२]पदावलिः—'काव्यशरीर है इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'। अर्थगत इष्टत्व और इष्ट अर्थ से पदावली की अवच्छिन्नता इस उक्ति में एक पहेली थी। उसका निर्वचन भाषाशास्त्र[३] के आधार पर किसी प्रकार कर भी लिया जाय तो इस उक्ति से निकलने वाले प्रतिबिम्ब को केवल काव्य का प्रतिबिम्ब नहीं कहा जा सकेगा। इसका बिम्ब काव्येतर वाङ्मय भी हो सकता है। यह परछांई जल पर पड़ी परछांई है जिसे देवदत्त का ही नहीं कहा जा सकता, वह यज्ञदत्त की भी हो सकती है। शास्त्रीय भाषा में इसे हम अतिव्याप्ति दोष से दूषित कहेंगे। भामह ने भी इस दिशा में गंभीरतापूर्वक विचार नहीं किया। वे बोले—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्[४]' यानी 'शब्द और अर्थ मिलकर काव्य होते हैं'। क्या है यह मिलना? बड़ी खींचतान की गई। 'सहित शब्द की व्याख्या ने अपनी एक सुविशाल और युगों तक चलने वाली विचार परम्परा को जन्म दिया[५]। [ले देकर आना वहीं पड़ा जहाँ वामन खड़े थे]

---

१. एतदर्थ द्रष्टव्य हमारे १९७१ में चौखम्वा से प्रकाशित हिन्दी अलंकार सर्वस्व की भूमिका का 'अलंकारतत्त्व' नामक अनुच्छेद।

२. काव्यादर्श १।१०

३. भाषाशास्त्र का अर्थ यहाँ वह नहीं है जो 'फायलालॉजी' शब्द से लिया जाता है। यहाँ इसका अर्थ व्याकरणशास्त्र की वह इकाई है जिसमें अर्थविचार किया जाता है। जो व्याकरण शास्त्र संस्कृत में चल रहा है उसकी वास्तविक सीमा शब्द रचना तक सीमित है।

४: भामह काव्यालंकार १।१६। इधर कुछ विद्वान् भामह के इस वाक्य को उनका काव्यलक्षण न मानकर उनके 'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचमलंकृतिः' इस वाक्य को काव्यलक्षण मानने लगे हैं। द्र० डॉ० देवेन्द्र नाथ शर्मा की हिन्दी-काव्यालंकार भूमिका। वस्तुतः यह परम्परा और तर्क दोनों के विरुद्ध है।

५. सहितशब्द से आनन्दवर्धन ने साहित्य शब्द निकाला, राजशेखर ने उसे

वामन के पूर्वतक काव्यशरीर और उसके तब तक आविष्कृत असाधारण तत्त्व रस, अलंकार तथा गुणों में से किसी एक का भी स्वरूप इस प्रकार तय नहीं हुआ था कि उसे 'सिद्धान्त' कहा जा सके ।

दोषों के निरूपण में भी कोई गंभीर अध्ययन तब तक नहीं हुआ था । भरत से लेकर भामह तक दोषों की संख्या १० ही मानी जा रही थी । इनमें भी शब्द और अर्थ को लेकर वर्गीकरण को स्थान नहीं दिया गया था । एक सामान्य चर्चा द्वारा ही इन आचार्यों ने दोषों पर अपना विचार पर्याप्त समझ लिया था[1] । इस प्रकार—

भरत से भामह तक काव्यचिन्तन जिन जिन स्कन्धों में विभक्त हो पाया था उन सबके विषय में हुआ मन्थन पूर्ण स्वस्थता और सिद्धान्तित वैज्ञानिकता तक नहीं पहुँच पाया था । दूसरे शब्दों में यह युग, यह अवधि, यह अन्तराल सर्वथा धूमाच्छन्न और अविशद अन्तराल था । यह भाद्र और आश्विन का सान्धिकाल था, समीक्षा की प्रौढा शरत् या उसकी कार्त्तिकश्री, उसकी शापमोचिनी[2] प्रबोधिनी अभी दूर थी, यद्यपि वह अभिव्यक्ति के गर्भ में पक चुकी थी और उसका प्रसव आसन्न था । प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता वामन ने आप्त भिषक्[3] का कार्य किया और अपनी सूक्ष्मेक्षिका रूपी सुदक्षिणा के गर्भ में आए काव्यबोध के दिलीप को गतिमान् रघु या 'पूर्ण मानव' बना[4] दिया, माना कि वह 'परात्पर पुरुषोत्तम' कुछ बाद बना, जो वह न भी बनता तो अपूर्ण न रहता, उसमें केवल महिमा की ही कुछ कमी रहती है । वामन के इस 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' ग्रन्थ से विदित होगा कि उनने भारतीय काव्यचिन्तन को कितना प्राञ्जल किया और उनकी उस चिन्तन को क्या देन है ।

साहित्यविद्या बनाया । भोजने उससे द्वादशविध सम्बन्धों की रचना की, कुन्तक ने उसमें बराबरी के साथ शोभाजनकता के दर्शन किए और साहित्यमीमांसाकार ने अष्टविध-संबन्धवाद के । शारदातनय ने पुनः भोज के मत को दोहराया । इस प्रकार ९ वी शतीसे १३ वीं शती तक 'साहित्य' पर विचार होता रहा । इस पर द्रष्टव्य हमारा ग्रन्थ 'साहित्यतत्त्वविमर्शः' । इसका संक्षिप्त निरूपण डॉ० राघवन् ने भी अपने अंग्रेजी 'शृङ्गार प्रकाश' में किया है ।

१ इन सबका निरूपण आगे होगा ।

२. मेघदूत के यक्ष का शाप प्रबोधनी को ही छूटा था ।

३. 'भिषग्भिराप्तैः'० रघुवंश सर्ग ३।१२

४. हमारा सिद्धान्त है कि रघुवंश काव्यका नायक रघु ही था, भगवान् राम नहीं । द्र० हमारी आकाशवार्त्ता 'रघुवंश का राजतन्त्र' । इस रूपक का अभिप्राय रघु-वंश द्वितीय तथा तृतीय सर्ग से समझ में आ सकता है ।

वामन की काव्यचिन्तन को देन

वामन ने अपने इस ग्रन्थ में उक्त प्रत्येक विषय पर क्रान्तिकारी चिन्तन प्रस्तुत किया। हम उक्त विषयों में से एक एक विषय को अपनाएँ और उसपर वामन के विचारों तक पहुँचे। वामन के अव्यवहितपूर्व अलंकारों का चिन्तन चल रहा था अतः पहले हम अलंकारों को ही ले—

१. अलंकार

[क] वामन ने 'अलंकार' शब्द को उपमा, रूपक, दीपक आदि की संकीर्ण सीमा और वाह्य सतह से ऊपर उठ व्याप्ति की अनिभूमि तक पहुँचे आयाम में और काव्य के अन्तस्तम तक निविष्ट तत्त्व के रूप में देखा। यह तत्त्व था सौन्दर्य तत्त्व। संस्कृत के संपूर्ण काव्यशास्त्र में पहली घोषणा वामन की है कि—'काव्य का सर्वस्व सौन्दर्य है'। दुःख की बात है कि वामन ने सौन्दर्य के विषय में इससे अधिक कुछ नहीं लिखता, किन्तु पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने तो इतना भी नहीं लिखा था। वामन ने अलंकार शब्द का प्रयोग उपमा आदि के लिये भी स्वीकार किया, किन्तु अमुख्य रूप में। उनका कहना है—

[सू०] 'सौन्दर्यमलंकारः'[1]।

[वृ०] अलंकृतिरलंकारः, करणव्युत्पत्त्या पुनः अलंकारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्त्तते।'

अर्थात् 'वस्तुतः तो अलंकारसंज्ञा सौन्दर्य को ही दी जा सकती है, उपमा आदि जो अलंकार कहा जाता है वह सौन्दर्योत्पत्ति में सहायक होने के कारण।' अभिप्राय यह कि अलंकारतत्त्व फलतत्त्व है, उपेयतत्व है, साधन और उपाय नहीं। साधन या उपाय के लिए अलंकार शब्द का प्रयोग मूर्त्ति या अर्चावतार के लिए भगवान् शब्द के प्रयोग के समान है। अर्चावतार या मूर्त्ति भगवत्तत्त्व का अभिव्यञ्जक एक कल्पित साधनमात्र है। वस्तुतः अलंकारसंज्ञा एक समग्र संज्ञा है, ठीक वैसी है जैसी ब्रह्मसंज्ञा। 'ब्रह्म' ही 'अलं' है और 'अलं' ही 'ब्रह्म'। शब्द सृष्टि में 'अ' से लेकर 'ल्' तक की जो प्रत्याहार[2]–प्रक्रिया है वह यदि वाग्विश्व की समग्रता के लिए सक्षम शास्त्रीय परिभाषा[3]-है, तो कोई

---

१. का० सू० २ १.२

२. प्रत्याहार प्रक्रिया अर्थात् वर्णसमाम्नाय में प्रथम और अन्तिम वर्ण को लेकर रची संज्ञा जो अपने अन्तिम वर्ण को छोड़ शेष सभी वर्णों की ज्ञापिका होती है यथा 'अण्' प्रत्याहार का अर्थ है 'अ इ उ' क्योंकि वर्णसमाम्नाय है 'अइउण्'। 'ण्' आदि केवल प्रत्येक अनुच्छेद के पृथक् उच्चारण के लिए है, क्योंकि उसके बिना 'अइउ' का अनुच्छेद ऋलृ के अनुच्छेद से पृथक् समझ में नहीं आ सकता।

३. व्याकरण के अइउण् आदि १४ महेश्वर सूत्र का प्रत्येक वर्ण 'अ' और 'ल' से बने 'अल्' प्रत्याहार में आ जाता है।

कारण नहीं कि उसे ब्रह्मतत्त्व से भिन्न माना जाए, क्योंकि शब्द और अर्थ दोनों सारस्वत समुद्र की को ऊर्मियाँ हैं, जो परस्पर में अभिन्न हैं क्योंकि दोनों ही अपने मूलरूप में समुद्र[1] हैं। इस प्रकार ब्रह्मदेव की सृष्टि में जो तत्त्व ब्रह्मतत्त्व के रूप में अभिव्यक्ति पाता है वही तत्त्व कवि की सृष्टि में 'अलं' तत्त्व के रूप में। यदि कवि-सृष्टि ब्रह्मसृष्टि का प्रतिबिम्ब है, और यदि वह बिम्ब से अभिन्ना है तो दोनों बिम्बों से व्यंग्य वस्तु में भी अभेद होगा और अन्ततः यही स्वीकार करना होगा कि 'अलम्' और 'ब्रह्मन्' में मूलतः अद्वैत है।

इस महत्, इस विभु और इस निरतिशय[2] तत्त्व से अलंकार तत्त्व का अभेद वामन का ही दर्शन है। सचमुच यह वामन का आचार्यत्व है, ऋषित्व है। दृष्टि की यह समग्रता वामन के चिन्तन को काव्यक्षेत्र में परा भूमिका पर प्रतिष्ठित कर रही है। काव्यक्षेत्र का भावुक यात्री कदाचित् धृष्ठता समझे, किन्तु यह कहे बिना रहा नहीं जाता कि आनन्दवर्धन[3] और अभिनवगुप्त की भी दृष्टि खण्डदृष्टि थी। काव्यसौन्दर्य को समग्रता में वे भी देख नहीं सके, और यदि देख भी सके तो कह नहीं सके। उनका ध्वनिवाद या रसवाद सौन्दर्यरूपी शरत्पूर्णिमा के निरभ्र महाव्योम का एक 'एकल' है, महातारक है, वह सौन्दर्य की महती व्याप्ति का कृत्स्न परिवेष, पूर्ण अवच्छेदक नहीं कहा जा सकता। इस दिशा में वक्रोक्तिसंप्रदाय कुछ आगे बढ़ा माना जा सकता है। किन्तु सौन्दर्यतरंग एक महातरंग है। उसकी समर्थकता और संप्रेषणीयता की होड़ नहीं। रस, ध्वनि और ऐसे ही अन्य शब्द सौन्दर्य के सामने फीके हैं। कदाचित् इसलिए महिमभट्ट की लेखनी से भी निकल गया था 'कवि सौन्दर्य के लिए काव्यकर्म में प्रवृत्त होता है—'सौन्दर्यातिरेकनिष्पत्तये कवेः काव्यक्रियारम्भः[3]। जिसे संस्कृत भाषा के सतत गतिमान् अच्छिन्न प्रवाह का रस प्राप्त होगा वह बड़भागी सौन्दर्य शब्द सुनते ही स्मरण करेगा और सुन्दर के अपभ्रंश में छिपे ऋग्वेद के सूनर शब्द तक जा पहुँचेगा और तब सूनरी उषा की मधुमय चूनरी का दर्शन कर वह अवश्य ही अलंतत्त्व तक जा पहुँचेगा, किसी महान् रस में डूब जायगा। उषा का स्मरण उसके लिए सौन्दर्यतत्त्व की व्याख्या की अपेक्षा न रहने देगा।

---

१. स्मरणीय—'अभिधानात्मकप्रपञ्चोत्पादनानुकूलशक्त्यवच्छिन्न संविदानन्द' शब्द और 'अभिधेयात्मकप्रपञ्चोत्पादनानुकूलशक्त्यवच्छिन्न सदानन्द' अर्थ माना जाता है। ये दोनों 'तदभिन्नाभिन्ने तदभिन्नत्वम्' के अनुसार एक ही है।

२. अतिशयहीन अर्थात् अतिशय की चरम और परम स्थिति को प्राप्त। अर्थात् जिसमें अब और अतिशय संभव नहीं है।

३. आनन्दवर्धन का चिन्तन सौन्दर्योपादानों की व्यवस्था तक सीमित है। उनकी 'ध्वनि' सौन्दर्य नहीं सौन्दर्यसाधन है। जहाँ तक रस का संबन्ध है वह काव्य-तत्त्व नहीं, सहृदयगत धर्म है। हमने अपने अनेक लेखों में यह स्पष्ट कर रखा है।

वामन के इस सौन्दर्यतत्त्व के विषय में यह जान लेना आवश्यक है, कि यह एक वस्तु निष्ठ धर्म है इसलिए रस से भिन्न है, क्योंकि रस प्रमातृनिष्ठ यानी व्यक्तिनिष्ठ तत्त्व है। वामन का चिन्तन एक ऐसे वैज्ञानिक का चिन्तन है जो वस्तु का विश्लेषण स्वनिरपेक्ष होकर करता है यानी जो प्रतिबिम्ब को नहीं, उसके आधार पर बिम्ब को आंकता है।

[ख] वामन ने अलंकार शब्द का प्रयोग उपमा आदि के लिए भी किया और उनका निरूपण एक स्वतन्त्र अधिकरण में किया 'चतुर्थ अधिकरण' में। इस अधिकरण में पहले उनने अलंकारों को शब्द और अर्थ के दो भागों में विभक्त किया। ऐसा विभाजन भरत, दण्डी और भामह ने नहीं किया था। उद्भट में यह विभाजन मिलता है, किन्तु उद्भट वामन के लगभग समकालीन आचार्य हैं, जिनका वामन को ज्ञान नहीं है। विभाजन के साथ शब्द तथा अर्थ के अलंकारों की संख्या में भी वामन ने काफी छँटनी की। उनके समय तक अलंकारों की संख्या ४३ थी।

इनमें से

दण्डी ने—

१. स्वभावोक्ति	२. उपमा	३. रूपक
४. दीपक	५. आवृत्ति	६. आक्षेप
७. अर्थान्तरन्यास	८. व्यतिरेक	९. विभावना
१०. समासोक्ति	११. अतिशयोक्ति	१२. उत्प्रेक्षा
१३. हेतु	१४. सूक्ष्म	१५. लेश
१६. क्रम	१७. प्रेय	१८. रसवत्
१९. ऊर्जस्वि	२०. पर्यायोक्ति	२१. समाहित
२२. उदात्त	२३. अपह्नुति	२४. श्लेष
२५. विशेषोक्ति	२७ तुल्ययोगिता	२६. विरोध
२८. अप्रस्तुतप्रशंसा	२९. व्याजस्तुति	३०. निदर्शना
३१. सहोक्ति	३२. परिवृत्ति	३३. आशीः
३४. संसृष्टि	३५. भाविक	३६. यमक
३७. चित्र		

इन ३७ अलंकारों की निष्पत्ति भरत के उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक इन ४ अलंकारों, ३६ लक्षणों और स्वचिन्तन के आधार पर की थी। इसके अतिरिक्त—

भामह ने—

१. अनुप्रास	२. उपमारूपक
३. उत्प्रेक्षावयव	४. उपमेयोपमा[1]
५. सन्देह	६. अनन्वय

---

१. भामह ने प्रतिवस्तूपमा का भी उल्लेख किया है किन्तु दण्डी के समान पृथक् रूप में नहीं।

इन ६ अलंकारों की कल्पना की। यद्यपि इनमें अनुप्रास का स्वरूप दण्डी के काव्यादर्श में ही स्पष्ट किया जा चुका था, किन्तु दण्डी ने अनुप्रास को अलंकारों में गिनाया नहीं था। अलंकारों में उसकी गणना का श्रेय भामह को ही है। इस प्रकार भामह तक अलंकारों की संख्या ४३ हो चुकी थी। यद्यपि भामह स्वयं ने इनमें से केवल ३८ अलंकारों को ही अलंकार माना है शेष—

१. आवृत्ति   २. हेतु   ३. सूक्ष्म
४. लेश   ५. चित्र

इन पाँच अलंकारों को उनने अलंकार स्वीकार नहीं किया। इनमें से आवृत्ति और चित्र पर वे मौन हैं। किन्तु हेतु सूक्ष्म और लेश का तो उनने खण्डन[1] भी किया है।

वामन ने केवल ३१ अलंकार ही स्वीकार किए जिनमें ३ उनके स्वकल्पित है और शेष २८ प्राचीन। इनका विवरण—

१ प्राचीन—

(क) अमान्य—	दण्डी के—	स्वभावोक्ति, आवृत्ति, हेतु, सूक्ष्म, लेश, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्ति, उदात्त, भाविक, आशीः तथा चित्र	१३
	भामह के—	उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव	२
(ख) मान्य—	दण्डी के—	उपमा, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, अपह्नुति, रूपक, श्लेष, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, विरोध, विभावना, परिवृत्ति, क्रम, दीपक, निदर्शना, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विशेषोक्ति, व्याजस्तुति, तुल्ययोगिता, आक्षेप, सहोक्ति, समाहित, संसृष्टि तथा यमक	२४
	भामह के—	सन्देह, अनन्वय, अनुप्रास, उपमेयोपमा	४

२. स्वकल्पित— १. वक्रोक्ति २. व्याजोक्ति ३. प्रतिवस्तूपमा ३

इनमें से प्रतिवस्तूपमा का निरूपण दण्डी और भामह में भी मिलता है किन्तु स्वतन्त्र अलंकार के रूप में नहीं। स्वतन्त्र अलंकार के रूप में इसकी कल्पना आँठवीं शती की ही देन है, क्योंकि इसे उद्भट ने भी स्वतन्त्र अलंकार स्वीकार किया है।

वामन ने उक्त अलंकारों में शब्दालंकार माना केवल (१) यमक और (२) अनुप्रास को। शेष सबको उनने अर्थालंकार प्रकरण में रखा।

---

१. 'हेतुः सूक्ष्मश्च लेशश्च नालंकारतया मतः।
समुदायाभिधानाच्च वक्रोक्त्यनभिधानतः ॥' काव्यालंकार

विशेषता यह है कि वामन ने इन दोनों प्रकार के अलंकारों में अपने चिन्तन की अनेक नवीन उपलब्धियाँ उपस्थित की है। उदाहरणार्थ—यमक में दण्डी ने निम्नलिखित भेदों की कल्पना की थी—

१–४ [प्रथम आदि एक] एकपादगत यमक
५. दो पादों का अव्यपेत यमक
६. तीन पादों का अव्यपेत यमक
७. चारों पादों का अव्यपेत यमक
८. व्यपेत विजातीय यमक
९. अव्यपेत-व्यपेत यमक
१०. संदष्ट यमक
११. अर्धाभ्यास यमक (समुद्र यमक)
१२. पादाभ्यास यमक
१३. श्लोकाभ्यास यमक
१४. महायमक

इन्हें उन्होंने सुकर और दुष्कर नामक दो वर्गों में भी विभक्त किया था। भामह ने स्वीकार किए केवल पाँच ही प्रकार के यमक—

१. आदि यमक
२. मध्यान्त यमक
३. पादाभ्यास यमक
४. आवली
५. समस्तपाद यमक

इस प्रकार, और संदष्ट समुद्र आदि के विषय में लिखा कि वे इन्हीं पाँच भेदों में अन्तर्भूत हो सकते हैं।

वामन ने भी यमक के अधिक विस्तार में न जाकर दण्डी के प्रायः सभी यमकों को अपना लिया है, भामह के समान उनने कोई कटु प्रहार नहीं किया है। विशेषता यह है कि वे यह भी बतलाते दिखाई देते हैं कि यमक में निहित शिल्प का उत्कर्ष कैसे होता है। वे उसे 'भङ्ग' पर निर्भर मानते हैं और 'भङ्ग' के उपादानों का भी निरूपण करते हैं 'भङ्ग के साधन तीन हैं १. शृङ्खला २. परिवर्त्तक तथा ३. चूर्ण' उनने इनके निरूपण भी उदाहरणों सहित किए हैं और अन्त में कवित्वपूर्ण पद्यों में उन सभी सूत्रों के सिद्धान्तों का संग्रह भी कर दिया है।

अनुप्रास को वे दो भागों में बाँटते हैं वर्णानुप्रास तथा पादानुप्रास। वर्णानुप्रास में भी वे उल्बणता को उचित नहीं मानते। उल्बणता का उदाहरण देते हुए वे लिखते हैं—

'वल्लीवद्धोर्ध्वजूटोद्भटमटति रटत्कोटिकोदण्डदण्डः' ।

उद्भट के समान वे अनुप्रास के निरूपण में भावुकता नहीं बरतते और छेक, तथा वृत्ति में उसे पृथक्-पृथक् दो अलंकार स्वीकार नहीं करते । पादयमक वही यमक है जिसे भामह ने लाटानुप्रास कहा था और उसे किसी अन्य की कल्पना माना था । लाट एक जनपद है । उस पर अनुप्रास का नाम रखने की अपेक्षा अनुप्रास की अपनी स्वगत विशेषता के आधार पर नाम रखना अधिक अच्छा है । लाट तो उसके बहुल प्रचार का क्षेत्र है ।

अर्थालङ्कारों में भी जो संख्या ऊपर दिखलाई गई तालिका में दी गई है वह केवल नामसाम्य[1] पर आश्रित है । तत्त्वतः उसके अनेक अलंकारों में भेद है । विशेषोक्ति इसका उत्तम उदाहरण है । दण्डी और भामह की विशेषोक्ति कुल मिलाकर विभावना ही थी । क्योंकि दोनों ही विशेषोक्ति में कमी रहने पर भी कार्य की पूर्णता को विशेषता का आधायक माना था[2] । वामन ने विभावना को यथावत् रखते हुए विशेषोक्ति को उससे भिन्न करने हेतु लिखा 'रूपकं चेदं प्रायेण' 'यह तो प्रायः रूपक ही है' । परवर्त्ती पण्डितराज आदि ने उसे दृढारोप रूपक माना ही है । वामन ने इसका उदाहरण भी अच्छा चुना—

'द्यूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम् ।[3]

—'जुआ जो है सो पुरुष के लिए बिना सिंहासन का राज्य है ।'

इसमें द्यूत पर राज्य का आरोप किया जा रहा है, किन्तु चमत्कार आरोप में न होकर आरोप्यमाण राज्य की सामान्य राज्य से बतलाई गई 'सिंहासन-हीनता'-रूपी विशेषता में है । संस्कृत में विशेषता के लिए विशेष शब्द का ही प्रयोग होता है अतः यहाँ विशेषता रूप विशेष की उक्ति है अतः यह उक्ति विशेषोक्ति हुई । रूपकत्व भी इसमें है ही । विभावना में कारण के बिना कार्योत्पत्ति बतलाई जाती है । यहाँ जिसका अभाव बतलाया जा रहा है वह है सिंहासन । सिंहासन कोई राज्य का कारण नहीं है । उसके अभाव में राज्य की उत्पत्ति विभावना नहीं हो सकती । फिर यहाँ राज्य की उत्पत्ति हो भी नहीं रही । यहाँ तो केवल उसका आरोप हो रहा है ।

---

१. अलंकारसर्वस्वभूमिका में हमने जो इसी प्रकार की तालिका दी है उसका आधार भी नामसाम्य ही है ।

२. विभावना—दण्डी : काव्यादर्श २।१९९
भामह : काव्यालंकार २।७७
विशेषोक्ति—दण्डी : काव्यादर्श २।३२३
भामह : काव्यालंकार ३।२३

३. ४।३।२३, का० सू० वृत्ति

भामह के उपमारूपक[1] और उत्प्रेक्षावयव को वामन ने यह कहकर पृथक् अलंकार नहीं माना कि इनका अन्तर्भाव संसृष्टि में हो जाएगा। परवर्त्ती सभी आचार्यों ने वामन के इस निर्णय को स्वीकार किया और इन दोनों अलंकारों में सबने संसृष्टि के ही दर्शन किए, स्वतन्त्र अलंकारत्व के नहीं। इस प्रकार वामन ने अलंकार को दो रूपों में देखा—

१. सौन्दर्य रूप में तथा

२ उपमा आदि के रूप में।

२. रस

रसों के विषय में वामन प्रायः दण्डी के ही अनुयायी है। अन्तर इतना ही है कि दण्डी ने रसों को रसवत् अलंकार में अन्तर्भूत माना था और वामन ने उन्हें कान्ति नामक अर्थगुण में अन्तर्भूत माना। एक विशेषता और। दण्डी ने प्रत्येक रस का उदाहरण प्रस्तुत किया[2] था। भामह ने वैसा नहीं किया। उनने केवल शृंगार का उल्लेख किया और अन्य रसों को आदि कहकर उसी के गर्भ में छिपा छोड़ दिया[3]। वामन ने इस विषय में दण्डी का अनुकरण न कर भामह का ही अनुकरण किया और उनने भी केवल शृंगार नाम लेकर शेष को स्वयमेव उत्प्रेक्षणीय बतलाया[4]। अर्थ यह कि इन आचार्यों में रस के विषय में दण्डी ही अधिक उदार ठहरते हैं, भामह और वामन नहीं। कारण हम पहले ही बतला चुके हैं। यह कि वामन का दृष्टिकोण शुद्ध वैज्ञानिक का दृष्टिकोण है, जो वस्तु का परीक्षण स्वतटस्थ होकर करता है। रस काव्यधर्म न होकर काव्यरसिक के धर्म हैं। काव्य तो रसिक को उन तक पहुँचाने का माध्यममात्र बनता है। आनन्दवर्धनाचार्य ने भी रस को रसिकों में ही स्वीकार किया है। उनका वाक्य है—

'वैकटिका एव हि रत्नतत्त्वविदः
सहृदया एव हि काव्यानां रसज्ञाः।'

---

१. अलंकारस्यालंकारयोनित्वं संसृष्टिः ॥ ४।३।३० ॥
तद्भेदावुपमारूपकोत्प्रेक्षावयवौ ॥ ४।३।३१ ॥
उपमाजन्यं रूपकमुपमारूपकम् ॥ ४।३।३२ ॥
उत्प्रेक्षाहेतुरुत्प्रेक्षावयवः ॥ ४।३।३३ ॥

२. काव्यादर्श ९।२८१—९२ दण्डी ने यहाँ आठ ही रस माने हैं।

३. काव्यालंकार ३।६

४. काव्यालंकारसूत्र ३।२।१४

५ ध्वन्यालोक, वि० १९९७ चौखम्बा संस्करण पृ० ५१९ तृतीय उद्योत।

'रत्न के तत्त्वज्ञ जौहरी होते और काव्य के रसज्ञ सहृदय'। शृङ्गार प्रकाश में भोज ने भी रस को काव्यधर्म स्वीकार न कर काव्यज्ञधर्म स्वीकार किया है[1]।

३. गुण

गुणों को सर्वाधिक महत्त्व देने वाले आचार्य वामन ही हैं। वैसे गुणों का निरूपण भरत मुनि से ही आरम्भ हो जाता है और दण्डी भी उनपर पर्याप्त ध्यान देते हैं। ये दोनों आचार्य गुणों की संख्या १० मानते हैं और दसों की संज्ञाएँ निम्नलिखित हैं—

१. श्लेष	२. प्रसाद
३. समता	४. माधुर्य
५. सुकुमारता	६. अर्थव्यक्ति
७. उदारता	८. ओज
९. कान्ति	१०. समाधि।[2]

गुणों की गणना का यह क्रम दण्डी द्वारा स्वीकृत क्रम है। भरत इनकी गणना निम्नलिखित क्रम से करते हैं—

१. श्लेष	२. प्रसाद
३. समता	४. समाधि
५. माधुर्य	६. ओज
७. सौकुमार्य	८. अर्थव्यक्ति
९. उदारता	१०. कान्ति[3]

उक्त दोनों आचार्य इन गुणों का स्वरूप विश्लेषण इस प्रकार करते हैं—

(१) श्लेष—

१. भरत—[क] 'विचार्यग्रहणं वृत्त्या स्फुटं चैव स्वभावतः।
स्वतः सुप्रतिबन्धश्च श्लिष्टं तत् परिकीर्त्यते॥

[ख] ईप्सितेनार्थजातेन सम्बद्धा नु परस्परम्।
श्लिष्टता या पदानां हि श्लेष इत्यभिधीयते॥ १७।९८
—[पाठान्तर]।

---

१. द्रष्टव्य हमारा 'भोजदेवस्य ध्वनिसम्बन्धिनो विचारा' साहित्यसन्दर्भ—लेख-१

२. काव्यादर्श—'श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः॥ १।४१॥

३. भरतनाट्यशास्त्र—'श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते॥
१७।९६॥

पदों की जो अभीष्ट अर्थ से सम्बद्ध तथा परस्पर में श्लिष्टता वही कही जाती है श्लेष। प्रथम का आशय अस्पष्ट।

२. दण्डी—श्लिष्टमस्पृष्टशैथिल्यमल्पप्राणाक्षरोत्तरम्।

अर्थात् अल्पप्राण अक्षरों का अशिथिल वन्ध है श्लेष।

जैसे—'मालतीदाम लंघितं भ्रमरैः

नकि—'मालतीमाला लोलालिकलिता' ॥ का० अ० १।४३-४४।

इन दोनों में बात एक ही कही गई है—'मालती की माला पर भौंरे टूट पड़े' किन्तु प्रथम वाक्य में कसावट है, जबकि दूसरे वाक्य में ढीलापन। कवर्ग आदि वर्गों के अल्पप्राण माने जाने से प्रथम, तृतीय, पञ्चम वर्ण तथा य, र, ल वर्णों में से ही यहाँ कुछ वर्णों का उपयोग किया गया है।

(२) प्रसाद—

१. भरत—'अप्यनुक्तो बुधैर्यत्र शब्दोऽर्थो वा प्रतीयते।

सुखशब्दार्थसम्बोधात् प्रसादः परिकीर्त्यते' ॥ १७।९९ ॥

जहाँ शब्द या अर्थ विना बतलाए प्रतीत हो जाए वह प्रसाद, क्योंकि इससे शब्द और अर्थ का बोध सुख से हो जाता है।

२. दण्डी—'प्रसादवत् प्रसिद्धार्थम्' ॥ १।४५ ॥

अर्थात् प्रसिद्ध अर्थवाला पद प्रसाद युक्त पद।

उदा० 'इन्दोरिन्दीवरद्युति लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।

न कि—'अनत्यर्जुनाब्जन्मसदृक्षांको वलक्षगुः'

[अति अर्जुन = अति सफेद, तद्भिन्न अनत्यर्जुन जो अब्जन्म अब्ज = कमल उस जैसे कलंक से युक्त है लवक्षगु = धवल किरण वाला चन्द्र]।

इस उदाहरण के सभी शब्द व्याकरण से शुद्ध हैं किन्तु उनसे अर्थ निकालने में कठिनाई हो रही है।

(३) समता—

१. भरत—

(क) 'अन्योन्यसमता यत्र तथा ह्यन्योन्यभूषणम्।

अलंकारगुणाश्चैव समासात् समता यथा ॥ १७।१००।

(ख) 'नातिचूर्णपदैर्युक्ता न च व्यर्थाभिधायिभिः।

न दुर्बोधा तैश्च कृता समत्वात् समता मता ॥ पाठान्तर ॥

(क) जहाँ सभी में एक दूसरे की समता हो, ऐक दूसरे एक दूसरे के भूषण हों, और गुण भी हों वह समता, समास के कारण।

(ख) समता वह जिसमें चूर्णपद अधिक न हों, न निरर्थक पद ही हों, और न दुर्बोध पद। इस प्रकार जिसमें समता रहे।

२. दण्डी—'समं बन्धेष्वविषमम्' ॥ काव्यादर्श १।४७ ॥

बन्ध [पदरचना] में अविषमता है समता।

यथा—'कोकिलालापवाचालो मामैति मलयानिलः ॥

कोकिलालाप वाचाल मलयानिल मेरे पास आ रहा है। इस सन्दर्भ में दण्डी ने बन्ध को मृदु, स्फुट और मध्यम वर्णों पर निर्भर बतलाया है और तीनों के उदाहरण दिए हैं। उक्त उदाहरण मृदु बन्ध का है।

(४) माधुर्य—

१. भरत—'बहुशो यच्छ्रुतं वाक्यमुक्तं वापि पुनः पुनः।
नोद्वेजयति यस्माद्धि तन्माधुर्यमिति स्मृतम्' ॥ १७।१०२ ॥

जिससे वाक्य को बार बार सुनने पर भी चित्त में उद्वेग न आए वह माधुर्य।

२. दण्डी—'मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ॥ १।५१॥

माधुर्य वह गुण है जिससे रसवत्ता आती है और नीरस वस्तु में भी रस की प्रतीति होती है, उससे बुद्धिमान् जन वैसे ही प्रसन्न होते हैं जैसे वसन्त से भ्रमर।

उदाहरण—कोई भी सानुप्रास वाक्य ?

दण्डी ने अनुप्रासों का विवेचन इसी संदर्भ में किया है और उनकी त्याज्यता तथा अत्याज्यता पर भी विचार किया है।

(५) सुकुमारता—

१. भरत—सुखप्रयोज्यैर्यच्छब्दैर्युक्तं सुश्लिष्टसन्धिभिः।
सुकुमारार्थसंयुक्तं सौकुमार्यं तदुच्यते ॥ १७।१०४ ॥

सुख से उच्चार्य शब्दों से—जिनमें सन्धि अच्छी हों—युक्त वाक्य को सुकुमार कहेंगे और उसके गुण को सौकुमार्य।

२. दण्डी—'अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिहोच्यते' ॥ ६९ ॥

जिससे अनिष्ठुर अक्षरों की बहुलता हो वह सुकुमार और उसका धर्म सौकुमार्य।

उदाहरण—'मण्डलीकृत्य बर्हाणि कण्ठैर्मधुरगीतिभिः।
कलापिनः प्रनृत्यन्ति काले जीमूतमालिनि' ॥ १।७० ॥

इस मेघमालाओं वाले काल में कलापी बर्हों को मण्डलीकृत कर मधुरगीति वाले कण्ठो के साथ नृत्य कर रहे हैं।

दण्डी का कहना है कि इस उक्ति में न तो कोई अलंकार है और न रस या भाव। तथापि यह आकर्षक है, केवल सुकुमारता के कारण।

(६) अर्थव्यक्ति—

१. भरत—(क) 'यस्यार्थानुप्रवेशो मनसा परिकल्प्यते ।
अनन्तरं प्रयोगस्य सार्थव्यक्तिरुदाहृता' ॥ १७।१०५ ॥
जिसका अर्थ इतने शीघ्र समझ में आ जाए कि वाक्य प्रयोग बाद में हुआ सा प्रतीत हो वह अर्थव्यक्ति ।

(ख) सुप्रसिद्धा धातुना तु लोककर्मव्यवस्थिता ।
या क्रिया क्रियते काव्ये अर्थव्यक्तिरुदाहृता ॥ पाठान्तर
जिस वाक्य में कारक तथा क्रिया के लिए प्रसिद्ध पदों का प्रयोग हो उसका गुण अर्थ व्यक्ति ।

२. दण्डी—'अर्थव्यक्तिरमेयत्वमर्थस्य' ॥ का० १।७३ ॥
अर्थ की अदुरूहता अर्थव्यक्ति ।

यथा—'हरिणोद्धृता भूः खुरक्षुण्णनागासृग्लोहितादुदधेः ।'
श्रीभगवान् ने खुर से आहत नाग के रक्त से लाल समुद्र में से पृथिवी का उद्धार किया ।'

यदि केवल इतना कह दिया जाता कि 'महावराह ने भूमि को लाल समुद्र से निकाला' तो अर्थ संगति के लिए शेष अर्थों की कल्पना करनी पड़ती अतः यह उक्ति अर्थव्यक्ति शून्य होती ।

(७) उदारता—

१. भरत [क] 'अनेकार्थविशेषैर्यत् सूक्तैः सौष्ठवसंयुतैः ।
उपेतमतिचित्रार्थैरुदारं तच्च कीर्त्यते' ॥ १७।१०६ ॥

सौष्ठव युक्त अनेक विशिष्ट तथा विचित्र अर्थों से युक्त उक्ति उदार कहलाती है । और इसकी विशेषता है । उदारता । मूल में यहाँ उदार के स्थान पर उदात्त पाठ मिलता है ।

[ख] 'दिव्यभावपरीतं यच्छृङ्गाराद्भुतप्रयोजितम् ।
अनेकभावसंयुक्तमुदारं तत् प्रकीर्त्तितम् ॥—पाठान्तर ॥
'दिव्य भाव से घिरा श्रृंगार तथा अद्भुत को लेकर निष्पन्न तथा अनेक भावों से युक्त वाक्य को उदार कहा जाता है ।' यहाँ उदात्त पाठ नहीं है ।

२. दण्डी—'उत्कर्षवान् गुणः कश्चिद् यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते ।
तदुदाराह्वयं येन सनाथा काव्यपद्धतिः ॥ १।७६ ॥
जिसके कहने से कोई उत्कर्ष युक्त गुण प्रतीत हो वह वाक्य उदार नामक वाक्य होता है । काव्यमार्ग उसी से सनाथ होता है ।

उदाहरण—'अर्थिनां कृपणा दृष्टिस्त्वन्मुखे पतिता सकृत् ।
तदवस्था पुनर्देव नान्यस्य मुखमीक्षते' ॥ १।७७ ॥

हे स्वामिन्, याचकों की याचनापूर्ण दृष्टि जब तुम्हारे मुख पर पहुँच जाती है तो वहीं अटक जाती है, फिर वह दूसरे का मुख नहीं देखती । दण्डी का कहना है यहाँ त्याग का उत्कर्ष ठीक से लक्षित हो रहा है ।

दण्डी ने श्लाघ्य विशेषणों से युक्त होने को भी उदार कहा है, किन्तु किन्हीं अन्य आचार्यों के मत में ।

(८) ओज—

१. भरत—(क) अवगीताविहीनोऽपि यदुदात्तावभावकः ।
यत्र शब्दार्थसम्पत्तिस्तदोजः परिकीर्त्तितम् ॥ १७।१०३ ॥
अवगीत, अविहीन, उदात्तावभावक तथा शब्दार्थसम्पत्ति से युक्त होता है ओजस्वी बन्ध ।

(ख) समासवद्भिर्विविधैर्विचित्रैश्च पदैर्युतम् ।
सा तु स्वरैरुदारैश्च तदोजः परिकीर्त्यते ॥ पाठान्तर ॥
अनेक प्रकार के समासयुक्त पदों तथा उदार स्वरो से जो युक्त हो वह ओज कहा जाएगा ।

२. दण्डी—'ओजः समासभूयस्त्वम्'
'ओजः गुण में समास की मात्रा अधिक रहती है ।'

दण्डी के अनुसार गद्य का प्राण है, यद्यपि अदाक्षिणात्यों के पद्यों में भी वे यह गुण पाते हैं । इसके उदाहरण उन्होंने दिशाओं के भेद से अनेक दिए हैं । किसी भी समासबहुल और दीर्घसमासा रचना को उसके लिए चुना जा सकता है ।

दूसरे आचार्यों के अनुसार दण्डी ने ओज में 'अनाकुलता' और 'हृद्यता' के भी दर्शन किए हैं ।

(९) कान्ति—

१. भरत—(क) यो मनःश्रोत्रविषयः प्रसादजनको भवेत् ।
शब्दबन्धः प्रयोगेण स कान्ति इति भण्यते ॥ १७।१०७ ॥
मन और श्रोत्र को जो अच्छा लगे, जिससे प्रसन्नता को जन्म मिले वह शब्दबन्ध कान्तियुक्त कहा जाता है ।

(ख) यन्मनःश्रोत्रविषयमाह्लादयति हीन्दुवत् ।
लीलाद्यर्थोपपन्नां वा तां कान्तिं कवयो विदुः ॥ पाठान्तर ॥

जो मन और श्रोत्र का विषय हो, जो चन्द्रमा के समान आह्लादक हो या लीला आदि अर्थों से समृद्ध हो उसे कविजन कान्ति कहते हैं।

२ दण्डी—'कान्तं सर्वजगत्कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात्' । १।८५ ।

कान्तियुक्त वचन वह जो लौकिकता का अतिक्रमण न होने से सारे संसार को प्रिय लगे।

उदा०—'गृहाणि नाम तान्येव तपोराशिर्भवादृशः ।
संभावयति यान्येव पावनैः पादपांसुभिः ।। ९।८६ ।।

वे ही घर घर हैं जिन्हें आप जैसे तपोराशि अपनी पावन पादपांसु-से संभावित करते हैं।

(१०) दण्डी—

१. भरत—

भरत के समाधि गुण का जो लक्षण नाटचशास्त्र के निर्णयसागर संस्करण में मूल में छपा है उसका अर्थ अव्यक्त है। वह यह है—

'उपमास्वियमिष्टानां (?) अर्थानां यत्नतस्तथा ।
प्राप्तानां चातिसंयोगः समाधिः परिकीर्त्यते ।। १७।१०१ ।।

पाठान्तर में जो लक्षण उस संस्करण में मिलता है वह यह है—

'अभियुक्तैर्विशेषस्तु योऽर्थस्यैवोपलभ्यते ।
तेन चार्थेन सम्पन्नः समाधिः परिकीर्त्यते ।।

अभियुक्त पुरुषों की अर्थ की जो विशेषता दिखलाई देती है वही है समाधिगुण।

२. दण्डी—'अन्यधर्म स्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतः, यथा ।।
उदा० कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युन्मिषन्ति च ।

लोकसीमा देखते हुए जहाँ दूसरे की विशेषता का दूसरे पदार्थ में सम्यक् अर्थात् ठीक से आधान हो वह है समाधि। जैसे कुमुद मुंद रहे हैं और कमल खिल रहे हैं।

यहाँ मुंदना और खुलना आँखों का धर्म है। उसे कुसुम और कमलों पर आहित किया गया है, किन्तु बड़ी कुशलता के साथ, जिससे उसमें कोई अस्वाभाविकता प्रतीत नहीं होती।

उक्त १० गुणों में से ओज, माधुर्य और प्रसाद इन ३ गुणों का बहुत ही संक्षिप्त निरूपण इसी क्रम से भामह ने भी किया था। वह यह है—

१. ओजः—केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि ।
यथा—मन्दारकुसुम—रेणुपिञ्जरितालका ।। का० २।२ ।।

ओज का कथन करना चाहने वाले कुछ विद्वान् बहुत से पदों का समास करते हैं। जैसे—

'नायिका के अलक मन्दाररेणुपिञ्जरित थे।'

२. माधुर्य—'श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते' ॥ २।१ काव्या० ॥

अति समास से रहित और श्रव्य अर्थात् सुनने में कर्णप्रिय जो काव्य वह माधुर्य-युक्त माना जाता हैं। उदाहरण नहीं दिया।

३. प्रसाद—'आविद्वदङ्गनाबालप्रतीतार्थं प्रसादवत् ॥ २।३ ॥

विद्वानों से लेकर स्त्रियों और बच्चों तक जिससे अर्थ स्पष्ट रहे वह वचन प्रसाद युक्त होता है ॥ उदाहरण = नहीं दिया।

ओज से माधुर्य और प्रसाद को पृथक् करने वाले तत्त्व का निरूपण करते हुए भी भामह ने लिखा—

'माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादं च सुमेधसः।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते ॥ २।१।

जो विद्वान् माधुर्य और प्रसाद की चाह रखते हैं वे ऐसे पदों का प्रयोग अधिक संख्या में नहीं करते जिनमें समास हो।

स्पष्ट ही भामह की मान्यता भरत और दण्डी से अभिन्न है। भरत और दण्डी माधुर्य तथा प्रसाद में समासाभाव की बात नहीं करते। वे समास को केवल ओजोगुण में याद करते हैं। दण्डी माधुर्य और प्रसाद में उसके अभाव की चर्चा भी कर देते हैं। सच यह है कि गुणों पर भामह की बुद्धि को वैसी ही अरुचि है जैसी मालती को वसन्त पर हुआ करती है। कारण उन्होंने बतलाया नहीं।

गुणों के उक्त निरूपण से स्पष्ट है कि भरत और दण्डी के गुणों में कुछ गुण शब्द गुण थे और कुछ अर्थ गुण, किन्तु उनमें इनके इस प्रकार के वर्गीकरण की चर्चा नहीं थी। वामन ने यह वर्गीकरण बड़ी कुशलता के साथ किया और—

१. प्रसाद २. समाधि

को केवल अर्थ गुण,

१. श्लेष २. ओज

को केवल शब्द गुण एवं

१. समता २. सुकुमारता ३. अर्थव्यक्ति

को उभयगुण मान, निम्नलिखित ३ गुणों पर गए सिरे से प्रकाश डाला—

१. माधुर्य २. उदारता तथा ३. कान्ति।

यह वर्गीकरण एवं विश्लेषण ग्रन्थ के गुणनिरूपणाध्याय से स्पष्ट है ही, निम्न-लिखित तालिका से भी स्पष्ट हो सकता है—

गुण संज्ञा	स्वरूप: भरत	दण्डी	भामह	वामन: शब्दगुण	वामन: अर्थगुण
१. श्लेष	सार्थक पदों का आश्लेष	अल्पप्राण अक्षरों वाले पदों का अशिथिल वन्ध	+	शब्दों की मसृणता जिससे अनेक पद एक प्रतीत हों	क्रम और कुटिलता का विदित न होना
२. प्रसाद	शब्द से अर्थ का सुखपूर्वक बोध	अर्थ की स्पष्टता	अर्थ की स्पष्टता	ओजोमिश्रित शिथिलता	अर्थ की विमलता
३. समता	पदों की अन्योन्य समता	आरम्भ से अन्ततक एक सा वन्ध	+	आरम्भ से अन्त तक एक ही मार्ग	अविषम वन्ध
४. माधुर्य	अनुद्वेजक पदावली	अनुप्रास, यमक और अग्राम्यता से युक्त सरस पदावली	पदों की अतिसमास-हीनता तथा श्रव्यता	लम्वे समासों का अभाव यानी पदों की पृथक्ता अमिश्रितता	उक्ति-वैचित्र्य
५. सुकुमारता	सुकुमार अर्थ संयुक्त मिले हुए तथा सुख से बोले जाने योग्य पदों का प्रयोग	ऐसा वन्ध जिसमें अक्षर निष्ठुर न हो।	+	अपरुप शब्द	अपरुषता
६. अर्थव्यक्ति	अर्थ का अविलम्व बोध	अर्थ का सीधे सीधे बोध	+	अर्थसमर्पकता में विलम्वाभाव	वस्तुस्वभाव की स्फुटता

७. उदारता	१. अति विचित्र अनेक प्रकार के अर्थोंवाले सौष्ठव युक्त सुन्दर उक्तियों का कथन २. दिव्यभाव, श्रृङ्गार, अद्भुतता से युक्त कथन	१. नायक में उत्कर्ष या उदात्तता का ज्ञापन २. श्लाघ्य विशेषणों से युक्त होना	+	अग्राम्यता	पदों का नृत्य सा करता हुआ प्रतीत होना।
८. ओज	१. शब्द और अर्थ की उदात्त सम्पत्ति २. समासयुक्त, उदार स्वर वाले विविध पद	समासाधिक्य	पदों की समास-बहुलता	पदबन्ध की गाढता	प्रौढि० (१) पद के लिए वाक्य (२) वाक्य के लिए पद (३) विस्तार ( ) संक्षेप तथा (५) साभिप्रायता
९. कान्ति	मनःश्रोत्रप्रसादी शब्दबन्ध	अर्थ को लौकिक रूप में ही प्रस्तुत करना।	+	उज्ज्वलता	रसदीप्ति
१०. समाधि	अर्थ की विशेषता	अन्य के गुण का अन्य में स्वाभाविक संक्रामण	+	आरोह तथा अवरोह से युक्त क्रम	वक्तव्य अर्थ का दर्शन

सन्दर्भ—

१. श्लेष	भरत—	नाट्यशास्त्र	१७।९७	दण्डी—	काव्यादर्श	१।४३	वामन—	काव्यालं० सूत्र	३।१।२०	तथा	३।२।४	
२. प्रसाद	भरत	,,	१७।९९	दण्डी	,,	१।४५	वामन	,,	३।१।६–८	,,	३।२।३	भामह-काव्या० २।१,३
३. समता	भरत	,,	१७।१००	दण्डी	,,	१।४७	वामन	,,	३।१।११	,,	३।२।५	
४. माधुर्य	भरत	,,	१७।१०२	दण्डी	,,	१।५१	वामन	,,	३।१।२०	,,	३।२।१०	भामह काव्या० २।१,३
५. सुकुमारता	भरत	,,	१७।१०४	दण्डी	,,	१।७०	वामन	,,	३।१।२१	,,	३।२।११	
६. अर्थव्यक्ति	भरत	,,	१७।१०५	दण्डी	,,	१।७३	वामन	,,	३।१।२३	,,	३।२।१३	
७. उदारता	भरत	,,	१७।१०६	दण्डी	,,	१।७६, ७९	वामन	,,	३।१।२२	,,	३।२।१२	
८. ओज	भरत	,,	१७।१०३	दण्डी	,,	१।८०	वामन	,,	३।१।५	,,	३।२।२	भामह काव्या० २।२
९. कान्ति	भरत	,,	१७।१०७	दण्डी	,,	१।८५	वामन	,,	३।१।२४	,,	३।२।१४	
१०. समाधि	भरत	,,	१७।१०१	दण्डी	,,	१।९३	वामन	,,	३।१।१२-१९	,,	३।२।६–९	

वामन ने उभयगुण नाम से किसी वर्ग की कल्पना नहीं की है किन्तु उनकी दृष्टि से उक्त कुछ गुणों को उभय वर्ग में गिनना ही होगा इसलिए हमने उन्हें यहाँ गिना दिया है।

गुणलक्षण—

गुणों के लक्षण के विषय में दण्डी और भामह चुप हैं। भरत बोलते हैं। किन्तु वे गुणों का स्वरूप लक्षण न कर तटस्थ लक्षण ही करते और कहते हैं 'दोषों का विपर्यास ही गुण है'।[1] मानो गुण वेदान्त का ब्रह्म है जो नेति नेति के अपोह द्वारा ही जाना जा सकता है। स्पष्ट ही भरत ने दोषों को भावात्मक और गुणों को अभावात्मक माना, और यदि भरत ने दोषों को अभावात्मक भी माना हो तो गुणों को तो भावात्मक नहीं ही कहा। अभाव का अभाव भावरूप ही हो यह आवश्यक नहीं है। सर्वथा भरत गुणों के लक्षण के विषय में किसी ऐसी स्थिति में पहुँचे नहीं दिखाई देते जिस पर निर्भर रहा जा सके। वामन ने इस स्थिति को बदलने का प्रयत्न किया है और लिखा है वे तत्त्व गुण होते हैं जो काव्य शोभा को जन्म देते हैं।' जनक को अभावात्मक नहीं माना जा सकता अतः वामन के इस कथन से स्पष्ट है कि वे गुणों को 'भावात्मक' तत्व मानते हैं किसी का अपोह या विपर्यास नहीं। खेद की बात यह है कि वामन का गुण लक्षण भी तटस्थलक्षण ही है, किन्तु इस कमी का कलंक केवल वामन के माथे नहीं आता, क्योंकि पूरे संस्कृतकाव्यशास्त्र में ही गुणों का स्वरूप लक्षण नहीं बन पाया।

गुणों का महत्त्व—

वामन ने गुणों को पदरचना का विशिष्ट धर्म कहा और ऐसा धर्म कहा जिनसे काव्यशरीर में यौवन आता है और काव्य का जीर्णोद्यान वासन्ती उपवन में परिणत होता है। दूसरे शब्दों में युवक शरीर में यौवन का या उद्यान में वसन्त का जो स्थान है वही स्थान काव्य में गुणों का है, वामन के अनुसार। विचारना चाहिए और गंभीरता के साथ विचारना चाहिए कि क्या है अभिप्राय आचार्य की इस उक्ति और इस युक्ति का। बात बहुत स्पष्ट है। शरीर या युवक शरीर में एक ओर चैतन्य रहता है चेतनाशून्य युवक समान रूप से अनुपादेय होते हैं। आत्मा तो चैतन्य ही है, यौवन नहीं। तथापि यौवन का महत्व भी लगभग उतना ही है। काव्य का चैतन्य है सौन्दर्य और यौवन है गुण। युवक शरीर की प्रशंसा करनी हो तो यह भी कहा जा सकता है कि

---

१. एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिर्नाटकाश्रयाः।
एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्त्तिताः॥ नाट्यशा० १७।९५॥

यौवन ही उसकी आत्मा है। यह एक अत्युक्तिपूर्ण कथन है, एक लाक्षणिक प्रयोग है। वामन ने गुणों के संदर्भ में ऐसा ही प्रयोग किया और लिखा—

१ रीतिरात्मा काव्यस्य
२ विशिष्टा पदरचना रीतिः
३ विशेषो गुणात्मा।

रीति है आत्मा काव्य की।
विशिष्ट पदरचना है रीति,
विशिष्टता है गुणरूप ॥

क्या हुआ इसका अर्थ? यही कि 'काव्य की आत्मा गुण हैं'। उधर लिखा 'काव्यशोभा गुणों से उत्पन्न होती है' और 'काव्य की उपादेयता सौन्दर्य पर निर्भर है, शोभा और सौन्दर्य को एक ही तत्त्व मान लिया जाए तो इस पूरे वाक्यसंदर्भ का अर्थ निकलेगा--

'गुण काव्य की आत्मा हैं, क्योंकि उस सौन्दर्य को वे ही काव्य में पैदा करते हैं, जिससे काव्य में ग्राह्यता आती है।'

यहाँ आत्मा शब्द अवश्य ही लाक्षणिक है, जिससे इस वाक्य का अर्थ निकलता है—

'काव्य की आत्मा सौन्दर्य है और वह उसमें गुणतत्त्व से आविर्भूत होता है।'

सौन्दर्यात्मतावाद —

इसका अर्थ हुआ वामन काव्य की आत्मा सौन्दर्य को मानते हैं और उनके संप्रदाय को यदि कोई नाम दिया जा सकता है तो सौन्दर्य संप्रदाय' नाम ही दिया जा सकता है, रीतिसम्प्रदाय नहीं। **वामन को रीतिसंप्रदाय या गुणसंप्रदाय का प्रवर्त्तक मानना एक भ्रान्त धारणा है। सत्य और तथ्य यह है कि वामन जिस संप्रदाय के प्रवर्त्तक हैं वह सौन्दर्यसंप्रदाय है।**

वामन का सौन्दर्यसंप्रदाय उतना ही समग्र है जितना आनन्दवर्धनका ध्वनि संप्रदाय, क्योंकि इस संप्रदाय में भी वे सभी पहलू चले आते हैं जिनके लिए ध्वनिसंप्रदाय सार्वभौम प्रतिष्ठा अर्जित किए हुए है। ये पहलू हैं—

१. कवि
२. काव्य और
३. सहृदय।

कविपक्ष काव्य की उत्थानभूमिका का पक्ष है वह मुहानी या उत्स या स्रोत है। काव्य कवि के कविकर्म का शब्दार्थाश्रित परिणाम है और सहृदय है अनुभविता। सौन्दर्यसंप्रदाय या रीतिवाद में भी ये सभी पक्ष चले आते हैं। उसका १. समाधिनामक अर्थ गुण कविपक्ष है, २. कान्तिनामक अर्थ गुण सहृदयपक्ष और ३. शेष गुण हैं शिल्प-पक्ष या काव्यपक्ष। इस प्रकार वामन की विचार-यात्रा का क्रम भी वही है जो परवर्ती आनन्दवर्धन की यात्रा का है, भेद केवल आरम्भक भूमिका का है। आनन्दवर्धन रसकी भोगभूमिका से यात्रा आरम्भ करते हैं और वामन सौन्दर्य की चैतन्यभूमिका से। निर्वचन दोनों एक ही युवक का करते हैं—स्वस्थ युवक का, भूषित और सौभाग्य सम्पन्न उत्तम युवक का। एक अन्तर यह भी है कि आनन्दवर्धन शरीर और उसके यौवन को अधिक महत्त्व नहीं देते, जब कि वामन उन पर भी काफी ध्यान देते हैं। निष्कर्ष यह कि वृद्ध होते हुए भी वामन शरीर को एक युवक के दृष्टिकोण से देखते हैं जब कि आनन्दवर्धन नवीन होते हुए भी [उसी शरीर को] एक वृद्ध के दृष्टिकोण से। ठीक ही है पिता वंश देखता है और पुत्र शरीर, किन्तु कुशल पिता और कुशल पुत्र दोनों देखते हैं। इश दृष्टि से वामन ही अधिक व्यावहारिक और लोकज्ञ सिद्ध होते हैं।

रीतिभेद—

दण्डी ने गुणों की कल्पना काव्यमार्ग की पृष्ठभूमि पर की थी और मार्गों को दो भेदों में विभक्त किया था—

१. वैदर्भ तथा
२. गौडीय

वैदर्भ मार्ग को उन्होंने दाक्षिणात्य मार्ग कहा था और गौडीय मार्ग को पौरस्त्य। दाक्षिणात्य या वैदर्भ मार्ग को उन्होंने सर्वगुणसम्पन्न और श्लाघ्य मार्ग माना था। गौडीय मार्ग पर वे अधिक आदरवान् नहीं थे। भामह ने दोनों को महत्त्व दिया और लिखा—

वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियोऽपरे।
तदेव च किल ज्यायः सदर्थमपि नापरम्॥
गौडीयमिदमेतत् तु वैदर्भमिति किं पृथक्।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम्॥
अलंकारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा॥ १।३१-३५॥

'कुछ सुधीजन वैदर्भ को गौडीय मार्ग से पृथक् मानते और कहते हैं कि वही अधिक अच्छा है, गौडीय नहीं। वस्तुतः 'यह गौडीय है और यह वैदर्भ' इस प्रकार की कोई

पार्थक्यरेखा खींची नहीं जा सकती। यह तो केवल नामभेद है [नाना आख्या इयम्] इससे वस्तु में भेद वे ही करें जिनमें विवेक न हो। ० ० ०। वस्तुतः अलंकार-युक्तता ग्राम्यतारहितता, गंभीरार्थकता, युक्तियुक्तता और विशदता गौडमार्ग में भी रहती है तो उसे भी वैदर्भ और साधु माना जा सकता है, यदि ऐसी उक्त विशेषताएँ न हों तो उसे त्याज्य माना जा सकता है।'

वामन ने मार्गों की रीति नाम दिया और उनकी संख्या ३ मानी—

१. वैदर्भी २. गौडीया ३. पाञ्चाली,

रीति नाम की निष्पत्ति परवर्त्ती भोज ने[1] गमनार्थक 'री' धातु से मानी है, अतः रीतिशब्द मार्गशब्द का ही पर्याय है, केवल स्त्रीलिंग होने से इसमें कोमलता आ रही है। मार्गशब्द दर्शनों के प्रस्थान शब्द के समान भयंकरता लिए हुए है।

इनकी संज्ञाओं के साथ देशों के नाम जुड़े हैं। उसका कारण बतलाते हुए वामन लिखते हैं—'ये रीतियाँ उन-उन देशों में अधिक प्रचलित[2] हैं', [न कि उस देश में इन्हीं रीतियों को उत्पन्न करने की वैसी कोई विशेषता है जैसी कश्मीर देश में केशर को]।

इनमें से वामन ने भी दण्डी के ही समान वैदर्भी रीति को अधिक महत्व दिया। कहा 'इसमें सभी गुण होते हैं जब कि गौडीया रीति में केवल ओज और कान्ति नामक दो ही गुण तथा पाञ्चाली में केवल माधुर्य और सौकुमार्य[3]।' वामन ने खड्ग उठाया और भामह के रोकने पर भी गौडीया तथा पाञ्चाली रीति की सुमनोलताओं को काट ही डाला। कह दिया 'उक्त तीनों रीतियों में केवल वैदर्भी ही ग्राह्य है, शेष दो नहीं, क्योंकि वैदर्भी में सभी गुण मिलते हैं, शेष दो में कम[4]।' पक्ष लेते हुए किसी ने कहा कि वैदर्भीभूमिका तक पहुँचने के लिए गौडीय और पाञ्चाली को सीढ़ी या अभ्यास की पूर्व दिशा मान लिया जाए' तो वामन ने उस पर भी तपाक से कह दिया—'भिन्न दिशा का अभ्यास भिन्न दिशा की भूमिका का लाभ नहीं करा सकता'। और उदाहरण दे दिया 'सन की रस्सी गूँथने का अभ्यासी त्रसर सूत्र का दुकूल नहीं बुन सकता[5]।'

वैदर्भी पर केन्द्रित वामन उसके शिल्प पर कुछ और टिके और बोले—'वैदर्भी में यदि समास न रहे तो उसे शुद्ध वैदर्भी कहा जायगा'। अर्थ यह कि यदि समास रहे

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण

२. काव्यालंका० सूत्र १।२।१०

३. काव्या० सूत्र १।२।११—१३॥

४—५. का० सू० १।२।१४—१८

तो मिश्र। आगे कहा 'इस प्रकार की शुद्ध वैदर्भी में अर्थ गुणों का आस्वाद मिलता है। इस भूमिका पर आरूढ व्यक्ति को अर्थ गुण की क्षीणतम मात्रा का भी अनुभव होगा, समग्र अर्थगुण संपत्ति की तो बात बहुत दूर है।'[1]

वामन ने उक्त तीनों रीतियों के लक्षण कारिकाओं में भी आबद्ध किए हैं। ये कारिकाएँ ये हैं—

गौडीया—'समस्तात्युद्भटपदामोजः कान्तिगुणान्विताम्।
गौडीयामिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः॥
—का० सू० १।२।१२ वृत्ति०

पाञ्चाली—'आश्लिष्टश्लथभावां तु पुराणच्छाययान्विताम्।
मधुरां सुकुमारां च पाञ्चालीं कवयो विदुः॥
—का० सू० १।२।१३ वृत्ति०

वैदर्भी—अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते॥

वैदर्भी की प्रशंसा में उन्होंने कवियों के प्राचीन वाक्य भी उद्धृत किये—

१. सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु॥
—का० सू० १।२।११ वृत्ति०

२. किं त्वस्ति काचिदपरैव पदानुपूर्वी
यस्यां न किञ्चिदपि किंचिदिवावभाति।
आनन्दयत्यथ च कर्णपथं प्रयाता
चेतः सतामममृतवृष्टिरिव प्रविष्टा॥

३. वचसि यमधिशय्य स्यन्दते वाचकश्री-
र्वितथमवितथत्वं यत्र वस्तु प्रयाति।
उदयति हि स तादृक् क्वापि वैदर्भरीतौ
सहृदयहृदयानां रञ्जकः कोऽपि पाकः॥
—का० सू० १।२।२१ वृत्ति०

भारत देश का सहृदय और शिष्ट, सरस और सुरुचिसम्पन्न सामाजिक अपनी भाषा में कितनी लोच और कितनी समपर्कता देखना चाहता है यह इन वचनों से जाना जा सकता है। इस देश में कैसे ही शब्दों में कुछ भी बोल देने को बोलता नहीं माना गया था। इसीलिए यहाँ सरस्वती को साधा जाता था, उसकी उपासना

---

१. का० सू० १।२।१९–२९–२१

की जाती थी, तब मुँह खोला जाता था, लेखनी उठाई जाती थी और कवियों या शिष्टों में बैठने का श्रमसाध्य सुदुर्लभ अधिकारपत्र पाया जाता और अपना भाग्य सराहा जाता था गौडीया और पाञ्चाली को अग्राह्य घोषित करने से स्पष्ट है कि इस अधिकारपत्र की प्राप्ति एक दुर्लल लाभ था, क्योंकि यह साधना की समग्रता पर ही प्राप्य था, खण्डित अनुष्ठान इसके लिए अकिंचित्कर था। ठीक भी है, स्वयंवर सभा में विकलांग या हीनांग को स्थान कैसे मिल सकता है, यद्यपि उन्हें भी किसी का सौभाग्य तो प्राप्त हो ही जाता है।

अलंकार और गुण का अन्तर—

वामन ने गुणों का यमक और उपमा आदि अलंकारों से अन्तर किया और दण्डी के अलंकारलक्षण को गुणलक्षण मानते हुए लिखा—

१. काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः।
२. तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः ॥

का० सू० ३।१।१,२ ॥

—गुण वे धर्म हैं जिनसे काव्यसौन्दर्य को जन्म मिलता है और अलंकार वे जो उस उत्पन्न सौन्दर्य में अतिशय का आधान करते हैं।

स्मरणीय है दण्डी ने अलंकारों को माना था 'काव्यशोभाकर धर्म'—उनका वाक्य है—

'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।'

(४) दोष

कहा जा चुका है कि भरतमुनि ने गुणों को दोषों का विपर्यास माना था। इसलिए वे गुणों की संख्या भी १० ही मानने को बाध्य थे क्योंकि उन्होंने दोष भी १० ही माने थे। दोषों का विवेचन दण्डी ने भी किया और भामह ने भी। दण्डी का विवेचन १० संख्या से आगे नहीं बढ़ा। भामह ने आगे बढ़ना चाहा उन्होंने दोषों को अनेक वर्गों में देखा किन्तु प्रत्येक वर्ग को वे भी १० संख्या से ही प्रतिबद्ध रखते रहे। वामन ने भरत की भाषा में उलट कर कहा—'दोष गुणों के विपर्यय हैं, और भामह के चिन्तन को वैज्ञानिकता दी तथा दोषों का वर्गीकरण भी गुणों के ही समान शब्द तथा अर्थ के दो भागों में किया। शब्द के अन्तर्गत पद और वाक्य के दो अनुच्छेद उन्होंने अपनाए और अर्थ के अन्तर्गत भी पदार्थ तथा वाक्यार्थ इस प्रकार दो ही अनुच्छेद। किन्तु पद पदार्थ, और वाक्य वाक्यार्थ के दो युगों में उन्होंने भी दोषो को १०, १० की संख्या में ही आबद्ध रखा। निम्नलिखित तालिका से यह तथ्य स्पष्ट है—

भरत	दण्डी	भामह	भामह	वामन: पददोष	वामन: पदार्थदोष	वामन: वाक्यदोष	वामन: वाक्यार्थदोष
१. अगूढत्व	अपार्थत्व	नेयार्थत्व	हीनता	असाधुत्व	अन्यार्थत्व	वृत्तभेद	व्यर्थत्व
२. अर्थान्तरत्व	व्यर्थत्व	क्लिष्टत्व	असम्भव	कष्टत्व	नेयार्थत्व	यतिभ्रंश	एकार्थत्व
३. अर्थहीनता	एकार्थत्व	अन्यार्थत्व	लिंगभेद	ग्राम्यत्व	गूढार्थत्व	विसंधित्व	संदिग्धत्व
४. भिन्नार्थत्व	ससंशयत्व	अवाचकत्व	वचनभेद	अप्रतीतत्व	अश्लीलत्व		अयुक्तत्व
५. एकार्थत्व	अपक्रमत्व	अयुक्तिमत्व	विपर्यय	अनर्थकत्व	क्लिष्टत्व		अपक्रमत्व
६. अभिप्लुतार्थत्व	शब्दहीनत्व	गूढशब्दाभिधा	उपमानाधिक्य				लोकविरोध
७. न्यायापेतत्व	यतिभ्रष्टत्व	श्रुतिदुष्टत्व	उपमानासादृश्य				विद्याविरोध
८. विषमत्व	भिन्नवृत्तत्व	अर्थदुष्टत्व					
९. विसन्धित्व	विसन्धित्व	कल्पनादुष्टत्व					
१०. शब्दच्युतत्व	विरोधित्व	श्रुतिकष्टत्व					

इस तालिका में भामह के नीचे जिन सात दोषों की सूची दी गई है, वह उनकी अपनी नहीं है। मेधावी नामक विद्वान् ने यह सूची स्वीकार की थी। भामह ने उसे पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित किया है। वामन ने और भी अनेक दोषों का भिन्न-भिन्न संदर्भों में निर्देश किया है। वामन का दोषाध्ययन ही वह पीठिका है जिस पर मम्मट का दोषनिरूपण खड़ा है, वैसे मम्मट ने वामन के बाद अपने युग तक की पाँच शतियों में हुए दोषचिन्तन को भी समेटा है, किन्तु वर्गीकरण की यह धुरा उन्हें वामन से ही प्राप्त हुई है'।

तुलनात्मक अध्ययन के लिए पाठक इनमें से प्रत्येक दोष के सन्दर्भ स्वयं खोजें और उनमें उत्तरोत्तर पनपते विकास पर ध्यान देते हुए वामन के अध्ययन की भौतिकता को पहचानें।[२]

एक प्रश्न—

अपनी आन्वीक्षिकी से हमें यह सोचना है कि आखिर दोषों को गुणों का विपर्यय माना जाए या गुणों को दोषों का। अर्थात् भरत का सिद्धान्त 'दोषविपर्यय गुण' माना जाए या वामन का 'गुणविपर्यय दोष' सिद्धान्त। दोनों को मानने पर दोष और गुण दोनों ही अभावात्मक सिद्ध होते हैं फिर सत्य कोई एक ही हो सकता है।

किसी भी जीवित वृक्ष के शरीरसंहिता में रहस्यरूप से प्रवहमान भूगर्भीय रस से पूछिए इसका समाधान। भूगर्भ की अग्नि या गायत्र तेज जिस रस को ऊपर फेंकता है वह वृक्षशरीर की शिखा परिच्छित्ति से जा टकराता है। वृक्ष सहस्रशाख हो आकाश के सन्धिबन्धों का आश्लेष करने लगता है। पूछिए इस वृक्ष से, क्या इसका यह विराट् वैभव भूगर्भीय रस की चिति के पहले था ? यदि नहीं तो उस समय, जब यह रस नहीं था, वृक्ष में वैभवाभाव नहीं था और क्या यह वैभवाभाव दोष नहीं था। अवश्य ही यह दोष दोष तो तब कहलाता है जब गुण का परिज्ञान होता है, किन्तु रहता है यह गुणोत्पत्ति के पहले से। अवश्य ही गुण इसी दोष के विपर्यय हैं और ऐसा मानते हुए भरतमुनि वैज्ञानिक सिद्ध होते हैं। गुण को हटाकर दोषों की कल्पना वृक्षवैभव पर बैठकर उसकी बीजावस्था की कल्पना है। यानी यह ऐसी कल्पना है जिसमें किसी के यौवन को देखकर उसकी बाल्यावस्था का स्मरण किया जा रहा है। अथवा इस परिताप में डूबा जा रहा है कि हमारा प्रेमास्पद कहीं गर्भरूप शिशु न बन जाय, यानी फूलीफली टहनी निरा अंकुर होकर न रह जाए। ये समस्त कल्पनाएँ प्रतिगामी कल्पनाएँ हैं। इनका क्रम पूर्णता से रिक्तता के ध्यान का क्रम है। भरत का क्रम रिक्तता या प्रागभाव से उसके प्रध्वंस के पश्चात् आने

---

१. भरतनाट्यशास्त्र १७ अध्याय, काव्यादर्श ३ परि०, काव्यालंकार

२ का० सू० भू०

वाली पूर्णता की ओर बढ़ने का क्रम है। व्यावहारिक दोनों हैं किन्तु वैज्ञानिक द्वितीय ही, भरतमत ही। क्यों ? इसलिए कि काव्य 'भाषात्मक' एकला है और यह निर्विवाद सत्य है कि भाषा एक कल्पित वस्तु है, भले ही उसका उत्स = वाक्तत्त्व नित्य और वस्तुसत् हो। जहाँ तक कल्पना का संबन्ध है उसमें पूर्णता ही परवर्त्ती हुआ करती है, आरम्भ उसका अल्पता में ही होता है। बच्चे की वाक्यावली इसका प्रमाण है।

काव्यस्वरूप—

वामन ने काव्यस्वरूप को भी समग्रता में पँहचाना। उन्होंने दण्डी के पुरार्चित शब्दप्राधान्यवाद को न अपनाकर भामह के शब्दार्थसमानतावाद को अपनाया, किन्तु भामह के 'सहित' शब्द के निचोल में छिपे अर्थों को बाहर प्रकट किया। उसके लेख से यह अभिप्राय प्रकट होता है कि 'सुन्दर शब्दार्थयुग्म ही काव्य है'। प्रश्न उठता है सुन्दरता का उपादान क्या ? किन धर्मों से वह शब्दार्थयुग्म में आविष्कृत होती है ? वामन ने उत्तर दिया—'दोषहान तथा गुणालंकारादान से'—

१. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्
२. सौन्दर्यमलंकारः
३. स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्।
वृ० काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्त्तते।

दोष काव्य का धर्म नहीं। वह काव्यनिष्पत्ति के पूर्व की अनुवीक्षा है, जिसमें परिहरणीय तत्त्वों का अवधान रखा जाता है। अतः अलंकार की निष्पत्ति में दोष नहीं, दोषहान यानी दोषपरिहार सहायक है, और केवल सहायक है, उपादान नहीं। उपादान हैं गुण और अलंकार ही। अतः काव्यशरीर में केवल इन दो ही तत्त्वों का सन्निवेश संभव है। वामन ने वैसा ही किया और उपर्युक्त वृत्तिखण्ड में लिखा—

'काव्यशब्द गुण और अलंकार से संस्कृत
शब्दार्थ का नाम है।'

निष्कर्ष यह कि—

'अलंकृत शब्दार्थयुग्म का नाम है काव्य'।

इसीको हम 'सुन्दर शब्दार्थ युग्म' भी कह सकते हैं। यह है वामन का काव्य-स्वरूप। काव्यशास्त्र के इतिहास में, इसकी महती परम्परा में काव्यलक्षण का यही व्यवस्थित रूप है और इसका प्रथम तथा अन्तिम श्रेय केवल वामन को है। मम्मट ने काव्यशास्त्र के तब तक बने प्रत्येक ग्रन्थ को निचोड़ कर अपना काव्यप्रकाश बनाया और इसमें काव्यलक्षण वामन से ही अपनाया। रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, कुन्तक, महिमभट्ट, राजशेखर, क्षेमेन्द्र और भोज भी इसी लक्षण को अपनाते हैं। परवर्त्ती

जयदेव, विश्वनाथ और जगन्नाथ इसका खण्डन करना चाहते हैं किन्तु वे यद्वा तद्वा तक ही सीमित ठहरते हैं। मम्मट का काव्यलक्षण पढ़कर काव्यशास्त्र के विद्यार्थी वामन को भुला देते हैं। किन्तु यह एक गम्भीर भ्रान्ति है। वस्तुतः मम्मट भी वामन के काव्यलक्षण की संपूर्णता के समक्ष निष्प्रभ हैं। मम्मट का काव्यलक्षण वामन के काव्यलक्षण का विकल प्रतिविम्ब है। मम्मट का काव्यलक्षण वाक्य—

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'

एक अनगढ़ वाक्य है, जिसे सच्चे अर्थों में परिचयवाक्य कहा जा सकता है, लक्षण-वाक्य नहीं। वे दो महान् समीक्षकों के गजयुद्ध की मत्तवाणी वने हुए हैं, एक समीक्षक आनन्दवर्धन और दूसरे कुन्तक। आनन्दवर्धन ध्वनि के समक्ष अलंकार को विलकुल नगण्य मानते हैं और कुन्तक का कहना है कि अलंकार के विना काव्य काव्य ही नहीं होता। उनका वाक्य है 'सालंकारस्य काव्यता'। मम्मट दोनों की टक्कर से घबराते और एक समन्वयी क्रम अपनाते हुए अपने काव्यलक्षण को एक पहेली, एक बन्द तावीज पहना देते हैं—'अनलंकृती पुनः क्वापि, अदोष और सगुण शब्दार्थ कहीं अनलंकृत भी हो सकते हैं। 'कहीं' का अर्थ क्या ? यही कि जहां ध्वनि, रस, गुणीभूत-व्यंग्य आदि दूसरे चमत्कारक तत्त्व हों वहां अलंकार न भी रहे, यानी स्फुट न भी रहे तो शब्दार्थ काव्यत्वहीन नहीं होते। गुणों को मम्मट ने अभिनवगुप्त से प्रभावित हो और आनन्दवर्धन से आगे बढ़ केवल रसधर्म माना था। यहां काव्यलक्षण में उन्हें शब्दार्थधर्म मान लिया, फिर समाधान देते फिरे और कहते फिरे 'क्योंकि शब्दार्थ गुणों के अभिव्यञ्जक हैं इसलिए शब्दार्थ भी सगुण कहे जा सकते हैं।' अर्थ यह कि प्रकाश प्रपञ्च का अभिव्यञ्जक है इसलिए उसे भी प्रपञ्चाधिष्ठान माना जा सकता है। ऐसा मानकर प्रकाश को भगवान् के अर्चावतार से पवित्र तथा सूनागृह से अपवित्र क्यों न माना जाए। और तब प्रकाश को क्या माना जाए पवित्र या अपवित्र। या कि ऐसा माना जाए कि प्रकाश में अधिष्ठित सूनागृह स्वसमानाधिकरण अर्चावतार से पवित्रता और अर्चावतार वैसे ही सूनागृह से अपवित्रता लिए है। ये सारी कल्पनाएँ असत् कल्पनाएँ हैं, और इनका मूल प्रकाशक को प्रकाश्य का अधिष्ठान मानने की भूल है। उधर अदोष कोई Positive entity नहीं कि इसका निवेश शब्दार्थयुग्म में माना जा सके। इस प्रकार वस्तुतः 'गुणालंकार संस्कृत शब्दार्थयुग्म' में काव्यता की उपपत्ति ही वैज्ञानिक उपपत्ति है। ध्वनि भी एक अलंकार ही है, यदि वस्तुवाद पर अपना चिन्तन ठहराया जाए। कहा जा चुका है कि वामन का दृष्टिकोण वस्तुवादी दृष्टिकोण है। इसलिए वे रस को रस न मानकर कान्ति-नामक गुण मानते हैं। इस प्रकार—

आचार्य वामन का चिन्तन संस्कृत के काव्यशास्त्र में 'काव्यशरीर' और 'उसके सौन्दर्याधायक तत्त्व' इन दोनों पक्षों की दृष्टि से पूर्ण, प्रथम और अन्तिम चिन्तन है।

उनके चिन्तन में एक इतिहास है, परम्परा है, शोध है और परिष्कार है। इसलिए उनका यह ग्रन्थ संस्कृत काव्यशास्त्र का एक अतीव महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

वामन के काव्यालंकारसूत्रवृत्ति की कुछ और विशेषताएँ हैं। प्राचीन सभी ग्रन्थ कारिकाओं अर्थात् पद्यों में निर्मित थे। पद्यों में कभी कभी अभिव्यक्ति उलझ जाती है क्योंकि उसमें छन्द या गीतितत्त्व का एक महान् प्रतिरोध रहता है। यह कारण है कि भरत दण्डी और भामह के अनेक तथ्य बहुत कुछ संदिग्ध रह गए हैं। कारिकाओं में लिखे ग्रन्थों को भारतीय वाङ्मय में उतना आदर नहीं दिया जाता था जितना सूत्रवृत्ति रूप में लिखे ग्रन्थों को। दर्शन के क्षेत्र भक्तिसूत्र, वेदान्तसूत्र, ऐसे ही ग्रन्थ हैं जिनका निर्माण सूत्रों में हुआ था। व्याकरणशास्त्र में अष्टाध्यायीसूत्र इसके लिए अतिप्रसिद्ध है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र तथा वात्स्यायन का कामसूत्र भी इस पद्धति के अति प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। इस प्रकार का कोई क्रम साहित्यशास्त्र में वामन के पहले प्राप्त नहीं था। वामन ने इस कमी को दूर किया और अपना ग्रन्थ सूत्ररूप में लिखा और उसे कामसूत्र के ही समान अधिकरणों में और अध्यायों में विभक्त किया। पूरे ग्रन्थ में पाँच अधिकरण हैं। आचार्य ने अपने सूत्रों का अर्थ भी स्वयं ही लिखा और तदर्थ सूत्रों पर वृत्ति का निर्माण किया। प्राचीन आचार्यों में भरत, दण्डी और भामह तीनो आचार्यों ने अपनी स्थापनाओं के लिए जो उदाहरण दिए थे वे उनके स्वयं के बनाए हुए थे। इस कारण इन आचार्यों के सिद्धान्तों का आधार व्यापक प्रतीत नहीं होता था। लगता था वह कल्पित है या वह उस व्याकरण जैसा प्रतीत होता था जो भाषा को देखकर न बनाया गया हो, प्रत्युत भाषा ही उसके आधार पर गढ़ी गई हो। यह एक अस्वाभाविक क्रम था। वामन ने इसे बदला और अपनी स्थापनाओं के लिए भिन्न भिन्न काव्यों से उदाहरण चुने। ये उदाहरण बड़े ही हृद्य और समृद्ध हैं। कहना न होगा कि वामन के इस काव्यालंकार सूत्र में आए उदाहरणों की आकर्षकता, अभिजातता और उच्चता ३०० वर्ष बाद कुन्तक के वक्रोक्तिजीवित में या ९०० वर्षों के बाद अप्पयदीक्षित के कुवलयानन्द में दिखाई दे पाई है। पण्डितराज जगन्नाथ ने उल्टी गंगा बहाई है और अपने सिद्धान्तोंके लिए अपने ही पद्य उदाहरण रूप में दिए हैं।

अपने ही पद्यों में उदाहरण प्रस्तुत करने से आचार्यों की जिस एक विशेषता का परिचय मिलता है वह है कवित्व। प्रतीत होता है कि वे कवि भी हैं और उन्हें काव्यनिर्माण का उत्तम अभ्यास भी है। स्वनिर्मित पद्य उद्धृत करने वाले भामह, दण्डी और भामह को यह श्रेय मिल जाता है। परवर्त्ती पण्डितराज तो गर्वोक्ति में लिख बैठे हैं—

'निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं
काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किञ्चित्।

किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः
कस्तूरिका—जननशक्तिभृता मृगेण ॥[1]

—'हमने अपने रसगंगाधर में जैसा सिद्धान्त वैसा ही काव्य स्वयं बनाकर उपस्थित किया है, दूसरों से लेकर नहीं। क्या कस्तूरीमृग फूलों की गन्ध मन से भी चाह सकता है।'

भरत, दण्डी, भामह, उद्भट, रुद्रट और पण्डितराज कस्तूरी मृग हैं। देखना है कि वामन की स्थिति क्या है ? वे कोरे भ्रमर ही हैं क्या ?

वामन भी अच्छे कवि हैं। उन्होंने अपनी स्थापनाओं के उदाहरण के रूप में तो कोई पद्य नहीं बनाया, किन्तु अपने सिद्धान्तों को कारिकाबद्ध करते समय अपने कवित्व का कौशल उन्होंने भली भाँति दिखला दिया है। कुछ उदाहरण लीजिए।

अलंकार और गुणों में गुणों का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए वे लिखते हैं—

'युवतेरिव रूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगुणं, तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलंकारविकल्पकल्पनाभिः ॥[2]
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनहीनमंगनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते ॥[3]

—'काव्य यदि केवल गुणों से ही युक्त हो तब भी वह स्वादु होता है।' खोजिए इसके लिए कोई उदाहरण अपनी ओर से। वामन खोजते और कहते हैं—'जैसे युवति का रूप।' वह अपने आप में स्वादु होता है। वे आगे कहते हैं 'यदि इस रूप में 'सदलंकारविकल्पकल्पना' हो और वह भी निरन्तरता लिए हो तो और भी आकर्षक हो जाता है।'

इस उक्ति में शृङ्गार रस है। अनुप्रास है। उपमा है। छन्द भी बड़ा ही ललित है औपच्छन्दसिक। उसमें भी जो पदावली छाँटकर रखी गई वह प्रवाहपूर्ण और स्वाभाविक है। उसमें अग्राम्यता भी है और स्वयं वामन के ही अनुसार ओजोमिश्रित शैथिल्य भी है। पदों की नृत्यत्प्रायता भी इसमें है।

वामन श्लेष में भी सिद्धहस्त हैं। कहा जा चुका है—'यमक में भङ्ग से उत्कृष्टता आती है और भंग के तीन क्रम हैं—शृंखला, परिवर्त्तक तथा पूर्ण। वामन चूर्ण-भङ्ग का महत्त्व बतलाते और लिखते हैं—

—'जो यमक चूर्ण भङ्ग को प्राप्त नहीं होते वे—

---

१. रसगंगाधर मंगल पद्य
२–३. का० सू० ३।१।२ वृत्ति०

यथा स्थान स्थित रहने पर भी अच्छे नहीं लगते।' इसमें उन्हें श्लेष सूझ जाता है। सोचिए यह किस शब्द में हो सकता है? यह पद है 'चूर्णभङ्ग'। क्या है इसमें श्लेष? वामन की इस उपमा से पूछिए—'अलकानीव' अर्थात् 'जो यमक चूर्णभङ्ग को प्राप्त नहीं होते वे अलकों के ही समान सुशोभित नहीं होते। बात क्या हुई? यमक पक्ष में चूर्ण से उत्पन्न भङ्ग और अलक पक्ष में चूर्ण तथा भङ्ग। अलक उन केशों का नाम है जिनमें सिन्दूर-लेखा विराजित रहती है और जिनके कुछ केश लहराते हुए कपाल या कपोल पर बिखरे रहते हैं। चूर्ण का अर्थ है सिन्दूर चूर्ण तथा 'भङ्ग' का घुंघरालापन या वक्रता। अवश्य ही इस द्व्यर्थकता पर ध्यान का जाना वामन में प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति दोनों की अणिष्ठता प्रमाणित करते हैं। इस आशय का उनका पद्य श्लोकनिर्माण के अभ्यास में उन्हें पटु बतलाता है। यह तब विदित होगा जब उनका पद्य पढ़ने के पहले हम स्वयं उक्त आशय पर कोई पद्य बनाएँ और उसे वामन के पद्य से मिलाएँ। उनका पद्य है—

'अप्राप्तचूर्णभङ्गानि यथास्थानस्थितान्यपि।
अलकानीव नात्यर्थं यमकानि चकासति॥

—का० सू० ४।१।७ वृत्ति॥

छन्द अनुष्टुप् है, किन्तु उसमें भी कसावट है। कोई भी पद इसमें व्यर्थ नहीं है। निश्चित ही वामन कवित्व और कविकर्म में भी अवामन हैं। इतने पर भी वे उदाहरण अन्य कवियों से लेते हैं। क्यों? उनका कहना है—

'वयं तु लक्ष्यसिद्धौ परमतानुवादिनः,
न चैवमतिप्रसंगः, लक्ष्यानुसारित्वान्न्यायस्य।

—का० सू० ५।१।१७ वृत्ति।

सिद्धान्त को लक्ष्य के अनुसार चलना चाहिए। न कि सिद्धान्त के अनुसार लक्ष्य की कल्पना की जानी चाहिए।

इन उद्धरणों से संस्कृत काव्यवाङ्मय के इतिहास का एक महान् लाभ हुआ। यह कि उनके कारण अनेक अज्ञातकालक कवियों के स्थितिकाल के निर्धारण में अतीत सहायता मिली है। इन उद्धरणों से भारतवर्ष के प्राचीन राजकीय इतिहास पर भी प्रकाश पड़ा है। चन्द्रगुप्त और उसका तनय कृतधी जनों का आश्रय बना था। ये चन्द्रगुप्त और उसका तनय कौन थे? वे सुबन्धु के आश्रयदाता थे कि वसुबन्धु के। उसमें उद्धृत 'कालिदास का कुन्तलेश्वर दौत्य' भी ऐसी ही एक पहेली है। यह कालिदास कौन था और कौन वह कुन्तलेश्वर जिसका इसमें दौत्य किया। विद्वानों ने इस पर अनेक प्रकार के मत व्यक्त किए हैं। विचार का यह अवसर इन उद्धरणों से ही प्राप्त हुआ है।

वामन ने अन्तिम अधिकरण में 'काव्यसमय' [काव्यशिक्षा] और 'शब्दशुद्धि' नामक जो दो अध्याय दिए हैं इनका भी अपना मौलिक महत्त्व है। भामह ने अपने काव्यालंकार के अन्तिम परिच्छेद [छठे परिच्छेद] में काव्यनिर्माण के लिए 'व्याकरणार्णव' का पारदृश्वा होना आवश्यक बतलाया था [पद्य-१-३] किन्तु उसमें स्फोटवाद और अपोहवाद जैसे अनपेक्षित विषयों की भी चर्चा उठा दी थी। वामन ने इस दिशा में संतुलन से काम लिया और अपेक्षित अंश ही अपनाया। उन्होंने कुछ अंशों में तो भामह की भ्रान्तियों को दूर किया और कुछ अंशों में प्राचीन कवियों के अटपटे प्रयोगों की यथाशक्य व्युत्पत्ति दिखलाई।

भामह ने 'पुमान् स्त्रिया' सूत्र के सन्दर्भ में लिखा था कि द्वन्द्व समास करने पर पुरुष वाचक शब्द अवशिष्ट रहता है अतः वरुण और वरुणानी, इन्द्र और इन्द्राणी, भव और भवानी, शर्व और शर्वाणी, मृड और मृडानी इन द्वन्द्वों में केवल 'वरुणौ, इन्द्रौ, भवौ, शर्वौ और मृडौ, कहना पर्याप्त होगा। यहाँ यद्यपि स्त्रीवाचक शब्दों का लोप रहेगा तथापि उनके अर्थ का बोध रुकेगा नहीं, क्योंकि अवशिष्ट शब्द ही उन लुप्त शब्दों के अर्थ का भी बोध करायेंगे।

वामन ने इस उपपत्ति या इस व्यवस्था पर और बारीकी के साथ विचार किया और इसे पाणिनीय व्याकरण के विरुद्ध बतलाया। पाणिनीय व्याकरण में लोप केवल उसी स्त्रीवाचक शब्द का होता है जिससे निकलते अर्थ में केवल स्त्रीत्व की प्रतीति हो रही हो। जैसे 'हंस' और 'हंसी'। इनको संस्कृत में केवल 'हंसौ' कहा जा सकेगा, कारण कि हंसी का अर्थ है 'मादा हंस', न कि हंस की स्त्री। अभिप्राय यह है कि हंसौ कहने से निकलने वाले अर्थों में दाम्पत्य की विवक्षा नहीं है, यह अभीष्ट नहीं है कि जिस हंसी शब्द को छोड़ दिया गया है उससे प्रतीत होने वाली हंसी, जो हंस शब्द बचा है उससे प्रतीत होने वाले हंस की पत्नी, जाया, गृहिणी या घरवाली है। यदि वह हंस की जाया के रूप में विवक्षित होती तो उसके वाचक हंसी शब्द का लोप न होता और 'हंसौ' न कहा जा सकता। निष्कर्ष यह कि स्त्रीवाचक शब्द के साथ पुरुष वाचक शब्द का समास होने पर एकशेष तभी संभव है जब उन दोनों शब्दों के अर्थों में केवल, स्त्रीत्व और पुंस्त्व की प्रतीति हो रही हो। यानी वे दोनों केवल जातिवाचक शब्द हों। भामह ने जिनमें एकशेष की व्यवस्था दी है उन वरुणानी और वरुण भवानी और भव में स्त्री वाचक शब्द केवल स्त्रीत्व का वाचक नहीं है। उसका निर्माण 'भव' आदि शब्दों में जिस प्रत्यय को लगाकर किया गया है वह प्रत्यय 'दाम्पत्य' अर्थ में है। भवानी होगी वही जो भव की स्त्री होगी। इस प्रकार वरुणानी, इन्द्राणी, शर्वाणी या मृडानी वे ही होगी जो वरुण आदि की पत्नी होंगी। निदान 'भवानी' आदि शब्दों से केवल स्त्रीत्व की प्रतीति न होगी। उनसे स्त्रीत्व

के साथ पत्नीत्व की भी प्रतीति होगी। इस स्थिति में पाणिनि के अनुसार एक—शेष नहीं होगा और 'भवानी तथा भव' इस विवक्षता में केवल 'भवौ' नहीं बोला जा सकेगा। ठीक भी है। केवल भवौ बोलने पर प्रतीत होगा 'दो भव' न कि 'भव और भवानी'। फलतः यहाँ एकशेष हानिकारक होगा क्योंकि उसमें बचा हुआ शब्द लुप्त शब्द के अर्थ का बोध नहीं करा पाएगा, साथ ही अभीष्ट अर्थ का बोध भी नहीं करा सकेगा। जिस प्रयोग से इस प्रकार की अव्यवस्था उपस्थित हो वह संस्कृत न होकर असंस्कृत होगा।

वामन की इस व्यवस्था में वे भामह पर एक चोट भी करते हैं। भामह ने एकशेष में जो उक्त उदाहरण दिए थे उनका आधार पाणिनि का 'इन्द्र-वरुण-भव-शर्व-रुद्र-मृड-हिमारण्य-यव-यवन—मातुलाचार्याणामानुक्' [४।१।४९.] सूत्र था। इससे इन्द्राणी, वरुणानी, भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी, मृडानी, हिमानी, अरण्यानी, यवानी, यवनानी, मातुलानी, तथा आचार्याणी शब्द बनते हैं। भामह ने इनमें से अपने—

'सरूपशेषं तु पुमान् स्त्रिया यत्र च शिष्यते।
यथाह वरुणाविन्द्रौ भवौ शर्वौ मृडाविति॥ ६।३२॥

इस पद्य में 'इन्द्र, वरुण, भव, शर्व और मृड' को तो अपना लिया, केवल, 'रुद्र' को छोड़ दिया था। वामन ने इसी को अपनाया और सूत्र लिखा—

'रुद्रावित्येकशेषोऽन्वेष्यः॥ ५।२।१॥

इसकी वृत्ति में वामन ने भामह के ही क्रम में लिखा 'एतेन इन्द्रौ भवौ शर्वौ इत्यादयः प्रयोगाः प्रत्युक्ताः।' कैसी नोंक-झोंक है इन आचार्यों की लेखनी में, कितना जीवित है हमारा सहस्राधिक वर्ष प्राचीन काव्यशास्त्रीय संप्रदाय।

इस प्रकरण में वामन ने कालिदास के प्रयोगों पर विशेष ध्यान दिया है। उनके आलोक में कालिदास के अन्य शब्दों का अध्ययन भी एक उत्तम शोधकार्य है।

काव्यकारण और काव्यप्रयोजन पर भी वामन के विचार महत्त्वपूर्ण है। उन्हें प्रथम अधिकरण के द्वितीय अध्याय में देखा जा सकता है।

विस्तार में न जाकर हम इतना निर्देश करना पर्याप्त समझते हैं कि वामन का तुलनात्मक अध्ययन एक अतीव उत्तम क्षेत्र है अनुसन्धान और पुनर्मूल्यांकन का।

वामन का स्थितिकाल—

'वामन' ने भवभूति और माघ के पद्य उद्धृत किए हैं अतः उन्हें ई० ७५० के बाद का माना जाता है क्योंकि ये दोनों कवि लगभग ७५० ई० के पहले ही हैं। भवभूति कन्नौज के राजा यशोवर्मन् के सभाकवि थे, जिसका समय ७२५ ई० था।

इस प्रकार वामन के स्थितिकाल की ऊपरी सीमा आठवीं शती का प्रथम चरण ठहरता है । आखिरी सीमा आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में आए वामन के सन्दर्भों से ८५० ई० ठहरती है । आनन्दवर्धन अति उदार आचार्य थे, किन्तु उन्होंने वामन का नामतः उल्लेख नहीं किया, जब कि भामह का दो बार उल्लेख किया है[1] । उन्होंने दण्डी से भी पर्याप्त सामग्री ली है किन्तु उनका नाम भी नहीं लिया । इससे यह सिद्ध नहीं होता कि आनन्दवर्धन ,दण्डी और वामन से अनभिज्ञ हैं । हमने यह लिखा है कि 'रीति' शब्द का प्रयोग और वैदर्भ आदि मार्गों के लिए 'वैदर्भी' आदि संज्ञाओं का निर्माण संस्कृत काव्यशास्त्र में इदंप्रथमतया वामन ने ही किया है । भरत से भामह तक न रीतिशब्द का उल्लेख था और न उनके लिए वैदर्भी आदि शब्दों का । आनन्दवर्धन वामन का नाम लिए विना ही क्यों न लिखें परन्तु जब रीति की बात—

१. रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः[2] ।

२. अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम् ।[3]
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः संप्रवर्तिताः ॥[4]
वृत्तयोऽपि सम्यक् रीतिपदवीमवतरन्ति ।

इस प्रकार करते हैं तो वे अवश्य ही वामन के ही ऋणी सिद्ध होते हैं ।

यह तो एक उज्ज्वल प्रमाण है कि रीतियों को दण्डी और भामह से आगे बढ़कर, और पाञ्चाली को जोड़ कर ३ संख्या तक वामन ने ही पहुँचाया है । आनन्दवर्धन लिखते हैं—

एतद् ध्वनिप्रवर्त्तनेन निर्णीतं काव्यतत्त्वम्
अस्फुटितस्फुरितं सत् अशक्नुवद्भिः
प्रतिपादयितुं वैदर्भी गौडी पाञ्चाली'
चेति रीतयः संप्रवर्त्तिताः ।'[5]

फिर वे रीतिप्रवर्त्तक आचार्य को **'रीतिलक्षणविधायी'**[6] कहते हैं । रीति का लक्षण भी पहले पहल वामन ने ही किया है । बहुवचन का प्रयोग इस तथ्य का सूचक है कि आनन्दवर्धन वामन के प्रति अतिशय श्रद्धापूर्ण हैं ।

---

१. ध्वन्यालोक पृ० ११९, ४६६ चौ० सं० १९९७ वि.
२. वही पृ० २०
३–४. ध्वन्यालोक ३।४६ पृ० ५१७.
५. ध्वन्या० पृ० ५१७ चौ० सं० १९९७ वि.
६, ध्वन्या० ११५ लोचन, चौ० सं० १९९७ वि०

ध्वन्यालोक के प्राचीनतर टीकाकार अभिनवगुप्त के मन में तो कम से कम यह अभिप्राय है कि वामन आनन्दवर्धन के पूर्ववर्त्ती हैं। आक्षेपालंकार के उल्लेख पर वे वामन के मत को भी पूर्वपक्ष रूप से स्वीकृत मानते और लिखते हैं—

> 'अनुरागवती सन्ध्या' वामनाभिप्रायेणायमाक्षेपः,
> भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्यमुमाशयं हृदये
> गृहीत्वा समासोक्त्याक्षेपयोः युक्त्येदमेकमेवोदाहरणं
> व्यतरद् ग्रन्थकृत् ।''

वे आगे यहीं लिखते हैं कि यह बात उनके परमगुरु भी मानते थे—

> 'व्यतरद् ग्रन्थकृत् । एषापि समासोक्तिर्वास्तु
> आक्षेपो वा, किमनेनास्माकम्, सर्वथाऽलंकारेषु
> व्यंग्यं वाच्ये गुणीभवतीति नः साध्यमित्य-
> त्राशयोऽत्र ग्रन्थेऽस्मद्गुरुभिर्निरूपितः ।'[२]

स्पष्ट ही वामन आनन्दवर्धन से पुराने हैं और आनन्दवर्धन उनसे भलीभाँति परिचित हैं। इससे सिद्ध है कि वामन ई० ८५० के बाद के नहीं हैं। राजतरंगिणी में–

> मनोरथः शङ्खदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा ।
> बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः ॥' ४।४९७॥

इस प्रकार वामन नामक किसी विद्वान् को कवि और राजा जयापीड का अन्यतम मन्त्री कहा है। जयापीड का समय ८०० ई० है। कश्मीर के विद्वानों में यही मान्यता है कि ये ही वामन काव्यालंकार सूत्र के रचयिता है। ध्वन्यालोककार के ५० वर्ष पूर्व वामन का होना स्वाभाविक भी है। अतः जयापीड के मन्त्री वामन और काव्यालंकार सूत्रकार वामन में अभेद ही युक्तिपूर्ण है। भेद तब माना जा सकता है जब कोई स्पष्ट भेदक उपलब्ध हो। इस प्रकार वामन का समय ई० सन् ८०० सिद्ध होता है। लगभग इसी समय उद्भट भी हुए हैं।

काशिकाकार वामन और का. सू. कार वामन भिन्न माने जाते हैं। भेद का कारण है का० सू० वृत्ति में माघ के पद्यों के उद्धरण। माघ अपने प्रसिद्ध 'अनुत्सूत्र-पदन्यासा सद्वृत्तिः' पद्य में जिस वृत्ति का उल्लेख करते हैं वह उनके लगभग १५० वर्ष पूर्व ६०० ई० में बनी काशिका ही हो सकती है। इस प्रकार काशिका के सह—लेखक वामन तथा का० सू० के रचयिता वामन के समय में लगभग २०० वर्षों का अन्तर माना जाता है। वैसे का० सू० कार वामन और काशिकाकार वामन का व्याकरण विषय में प्रायः मतैक्य है, यह उनके शब्द-शुद्धि अध्याय से स्पष्ट है।

१–२. ध्वन्या० पृ० ११५ लोचन, चौखम्बा सं० १९९७ वि०।

यदि हमारे वामन कश्मीर नरेश जयापीड के मन्त्री ही हों तो निश्चित ही वे कश्मीरवासी सिद्ध होते हैं। वे महान् विद्वान् हैं। का० सू० वृत्ति में वे जैन,[1] जैमिनीय और शब्दविद्या का उल्लेख तो बड़े ही अधिकार के साथ करते हैं। वामन के किसी अन्य ग्रन्थ का उल्लेख नहीं मिलता।

टीका

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रकाशित 'कामधेनु' टीका के रचयिता गोपेन्द्र त्रिपुरहर भूपाल या गोपेन्द्र तिप्पभूपाल हैं, जो विजयानगरम् राजवंश के द्वितीय देवराज के राज्यपाल थे। देवराज का राज्य समय १४२३—४६ ई० माना जाता है, अतः श्रीगोपेन्द्र भी उसी समय के ठहरते हैं।

साहित्यसंप्रदाय का इन्हें परम्पराशुद्ध ज्ञान है। प्रथम सूत्र की व्याख्या इसका प्रमाण है। इस व्याख्या में कुन्तक, भोज और मम्मट की ही नहीं मम्मट के काव्य-प्रकाश के अत्यन्त मार्मिक टीकाकार अथवा ऐसा कहिए कि मम्मट से अधिक साहित्य-शास्त्रज्ञ, कवि और विदग्ध भट्टगोपाल की चर्चा भी वे करते हैं। भट्टगोपाल की टीका न केवल शुद्ध साहित्यबोध का ही परिचय देती है, अपितु एक गद्यकाव्य का भी आनन्द प्रदान करती है। उनकी साहित्यचूडामणि टीका को उद्धृत कर गोपेन्द्र भट्ट ने स्वयं को भी महिमाशाली बना लिया। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' की व्याख्या में उनका 'आत्मा' का लक्षण देखिए—

'करङ्कगात्रकल्पकर्कशत्तर्कवाक्यवैलक्षण्यप्रकटन-
प्रगल्भः कश्चन स्फुरत्ताहेतुस्वभावोऽत्रात्मेत्युच्यते।'

हमने माना है कि यहाँ 'आत्मा' शब्द औपचारिक है। प्रकारान्तर से यही तथ्य गोपेन्द्र भी स्वीकार करते और लिखते हैं—

'अत्र रीतेरात्मत्वमिव शब्दार्थयुगलस्य
शरीरत्वमौपचारिकम्।'

गोपेन्द्र ध्वनिसंप्रदाय के ठीक वेत्ता हैं क्योंकि उन्हें ध्वन्यालोक और काव्य-प्रकाश का अच्छा अभ्यास है, किन्तु वे उस संप्रदाय से अभिभूत नहीं हैं। इसलिए वे अपने आचार्य वामन के सिद्धान्तों पर मम्मट द्वारा किए गए प्रहारों का उत्तर देते और उन सिद्धान्तों की वास्तविकता पर पाठक को केन्द्रित रखते हैं।

'ओजः प्रसाद' आदि गुणों को वामन ने आत्मधर्म कहा क्योंकि उन्होंने गुणों को रीतिधर्म बतलाया है और रीति को काव्यात्मा। मम्मट ने भी उन्हें केवल आत्मधर्म

---

१. ५।१।१७ वृत्ति में जैमिनियाः के स्थान पर निर्णयसागरीय पाठ 'जैनाः' भी है।

स्वीकार किया किन्तु उनके अनुसार रस ही काव्यात्मा था। प्रश्न उठा रस को काव्यात्मा माना जाय या रीति को, और गुणों को अन्ततः किसमें अवस्थित किया जाए। मम्मट ने अपना समर्थन करने हेतु, वामन का खण्डन किया। काव्यप्रकाश के अष्टम उल्लास से यह तथ्य स्पष्ट है। गोपेन्द्र त्रिपुरहर भूपाल ३।१।४ सूत्र की व्याख्या में काव्यप्रकाश के इस प्रहार को प्रस्तुत करने और कण्ठस्थ करने योग्य ललित संस्कृत में उसका मम्मट की ही तर्क शैली से उत्तर देते हैं। बड़ा ही अपूर्व और मौलिक है उनका यह चिन्तन। मम्मट पर उनकी फबती है कि वामन के खण्डन की हवश और कुछ नहीं मम्मट की—

'पाण्डित्य कण्डूल वैतण्डिक चण्डिम्ना परस्य चिखण्डयिषा' हैं।

वे वामन पर मम्मट के आशय को न समझने का दृढ़ आरोप करते, जो कदाचित् सत्य है, और कहते हैं—

'मम्मट जो वामन का खण्डन कर रहे हैं वह उनके स्वकल्पित दोनों की उद्भावना है'। इसे गोपेन्द्र की ही पदावली में देखिए—

स्वसंकल्पमात्रकल्पितविकल्पानां
नावश्यमवकाशं पश्यामः।'

क्या ही सानुप्रास उक्ति है यह।

'दीप्तरसत्वं कान्तिः'—३।२।१५ की व्याख्या में नवों रसों के उदाहरण काव्यप्रकाश से ही उपस्थित करते हैं। यहाँ उनकी 'दीप्त' पद की व्याख्या कितनी सटीक है—'दीप्ता विभावानुभावव्यभिचारिभिरभिव्यक्ताः'।

यमक के उदाहरणों की जटिल व्याख्या में वे रमे हैं और उन्होंने तलप्रविष्ट होकर उनका विश्लेषण किया हैं। अर्थालंकारों का संग्रह कारिकाओं में प्रकरण के आरम्भ में ही कर उनने पाठक का पथ प्रशस्त कर दिया है।

गोपेन्द्र त्रिपुरहर भूपाल एक अच्छे कवि भी हैं। उनके आरम्भिक मंगल पद्य उतने ही ललित हैं जितने रसार्णवसुधाकरकार श्रीशिंग या सिंह भूपाल के या इनके अपने अतीव प्रिय भट्टगोपाल के। भट्टगोपाल का यह मंगलपद्य मानो रहस्यबीज छिपाए हुए कोई मन्त्र पद है—

'प्रणौमि क्वणदोङ्कारमणिघण्टाविभूषिताम्।
कविलोककुटुम्बस्य कामधेनुं सरस्वतीम्॥'

इसका रूपक कितना रहस्यदिग्ध है और उसका एक-एक तन्तु कितना दूरगामी आरोप लिए है। भोज का—

'आत्मारामफलादुपार्ज्यं विजरं देवेन दैत्यद्विषा
ज्योतिर्बीजमकृत्रिमे गुणवति क्षेत्रे यदुप्तं पुरा।

श्रेयःस्कन्दवपुस्ततः समभवद् भास्वानतश्चापरे
मन्विक्ष्वाकुककुत्स्थलमूलपृथवः क्ष्मापालकल्पद्रुमाः ॥[1]

यह अभिलेखपद्य ही इस रूपक की गम्भीरता लिए दिखाई देता है। गोपेन्द्र भूपाल को भी कदाचित् इस पद्य ने बहुत प्रभावित किया है और कदाचित् इसी पद्य की 'कामधेनु' को उन्होंने अपनी टीका के नामकरण के लिए अपने खूँटे में ला बाँधा है, बाँधा ही नहीं है, टीका के परिपोष के लिए उसे खूब खूब दुहा भी है और उसमें भी इस दोग्धा पर प्रसन्न होकर अपना कामदुघात्वं[2] भलीभाँति दिखला दिया है। ओंकार पर मणिघण्टा का रूपक स्वयं गोपेन्द्र भी प्रस्तुत करते हैं। उनके आरम्भिक मंगल के तृतीय पद्य में।

अन्य टीकाओं में महेश्वर की 'साहित्यसर्वस्व' नामक टीका का उल्लेख किया जाना है और कहा जाता है कि कोई टीका सहदेव नामक विद्वान् ने भी बनाई थी। ये टीकाएँ मिलती नहीं हैं।

इसका प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद पटना विश्वविद्यालय के संस्कृतविभागाध्यक्ष डॉ० वेचन झा ने किया है। साहित्य शास्त्र के पाठक और अध्येताओं से यह अपेक्षा की जाती है कि वे किसी भी समस्या को पहले प्राचीन सन्दर्भों से सुलझावें। आधुनिक शोध की यह वैज्ञानिक प्रक्रिया स्वयं वामन में प्रतिष्ठित है, आनन्दवर्धन और मम्मट ने तो इस पर जीवनव्यापी परिश्रम किया था। १४वीं शती के बाद से दर्शनों के क्षेत्र में जो अभिव्यक्ति का न्यायशास्त्रीय परिष्कार जड़ जमाता गया और शब्दवृत्ति जैसे मनोविज्ञानशास्त्रीय विषय पर शास्त्रकारों ने जो ऊह तथा अपोह का तर्कजाल इसी अभिव्यक्ति के सहारे बिछाया उसमें हमारा काव्यशास्त्ररूपी हंस भी जा फँसा, उसका अच्छोद सरोवर दूर रह गया और वह कृत्रिम वेशन्तों में, गड्ढों में, और कहीं-कहीं तो पंकिल दल-दल में उत्तरोत्तर एक अस्वाभाविक जीवन जीने लगा। यह जाल केवल कपोतों के लिए ही उचित था। कभी तो वे भी इसके विरुद्ध अभियान रच देते थे।

संस्कृत वाङ्मय की एक-एक शिरा अपने चारों ओर वैसी ही अन्य शिराओं का अनन्त विस्तार लिए हुए हैं। इस वाङ्मय के किसी भी अंश का कृत्स्नविद् होना संभव ही नहीं है। भारत ही नहीं, विश्व के मानव इतिहास की यह अद्भुत निधि है, एक सर्वोपरि आश्चर्य है। हमें इसका अवगम अतीव धैर्य,, अतीव विवेक, अतीव विनय, अतीव तप और अतीव गम्भीरता के साथ करना है। विश्वात्मा हमें इस दुर्धर्ष

---

१. गुर्जर प्रतिहार भोज की ग्वालियर प्रशस्ति पद्य—२,
२. 'अवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम्—रघुवंश—२।

समय में इसकी शक्ति प्रदान करे, सुविधा और सुअवसर प्रदान करे और हम अपनी-अपनी शाखाओं में बोधब्रह्म का साक्षात्कार करते चलें। काव्यालंकारसूत्रवृत्ति का टीकासहित सानुवाद प्रकाशन इसमें एक सहायक क्रम है। टीकाकार, अनुवादक और प्रकाशक, सभी इसके लिए साहित्य जगत् के साधुवाद पात्र हैं।

श्रीकृष्णजन्माष्टमी
भृगुवार, सं० २०२८
वाराणसी

—रेवाप्रसाद द्विवेदी

भूमिका

(ई० १९०८ में 'बनारस संस्कृत ग्रन्थमाला' में 'काव्यालङ्कार कामधेनुव्याख्या' सहित यह ग्रंथ प्रकाशित हुआ था, जिसका सम्पादक श्रीमदाचार्य श्रीमद्वल्लभाधीश्वर-शुद्धाद्वैतसम्प्रदायी विद्वान् श्री पं० रत्नगोपालजी भट्ट ने किया था। प्रस्तुत संस्करण में पूर्व संस्करण की भूमिका नीचे अविकल छापी जा रही है। प्रकाशक)

श्रेयांसि प्रथयतु कोऽपि विट्ठलाह्वो देवो नः श्रुतिशिखरैर्विमृग्यरूपः।
गोपीनां कुचशिखरेषु यो विहारैर्व्यस्मार्षीन्मुनिजनमानसे निवासम् ॥

ननु भोः सहृदया विद्वन्मणयः! सविनयं किञ्चिद् विज्ञाप्यते। सवृत्तिकाव्यालङ्कारसूत्राणां प्रणेता पण्डितवरवामनोऽतिप्राचीन इति सर्वजनविदितमेतत्। किन्त्वयं काश्मीरदेशीयः काशिकावृत्तिकाराद् भिन्नश्चेत्ति केषाञ्चिदाशयः। तदीयसूत्राणि सवृत्तिमात्राणि बालानामतीव विशेषप्रतिपत्तिं न कलयेयुरिति तद्रहस्यप्रकटनप्रगल्भेन लोकोपकारनिरतेन गोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालतिलकेन काचनव्याख्यापि निर्मिता। स किल भूपालस्तैलिङ्गदेशाधिप इन्दुवंशोद्भवो नाम्ना तिप्पः त्रिपुरहरश्चेति। सैषा व्याख्या विशुद्धपदविन्यासशालिनी अभिमतार्थदायिनी सुमनसां हृदयाह्लादिनी नाम्ना काव्यालङ्कारकामधेनुरिति।

इयं हि अस्मत्पूर्वैरितरैश्च विद्वन्मणिभिः समासादिता। ग्रन्थोऽस्मद्देशलिपितो देवनागरीलिपिभिः परिवृत्यालेखि। अनन्तरमस्य प्रकटीभवनं प्रतीक्षमाणाः संप्रत्यलंकृतमुम्बयीनगराणां पण्डितवरज्येष्ठाराममुकुन्दशर्मणां सकाशं ग्रन्थमिममनैष्व। तैः किल काश्यां सकलप्राचीनशास्त्रग्रन्थप्रकाशबद्धपरिकरस्य श्रीयुतहरिदासगुप्ताऽभिधस्य सविधे संप्रेषितः। तेन च नरमणिना वाराणसेयसंस्कृतपुस्तकमालायां मुद्रणेन पुस्तकमेकं सपदि अनेकतां सद्य एव प्रापितमिति तेषामुपकारगौरवं बिभृवः। अस्य ग्रन्थस्य लेखनाधारभूतानि पुस्तकानि त्वेतानि

(१) आवयोरात्रेयजयपुरकृष्णमाचार्यस्य सव्याख्यानमतिशुद्धं पुस्तकमेकम्।

(२) पुनर्द्वितीयं कलकत्तामुद्रितं सवृत्तिमात्रं पुस्तकं तस्यैव।

(३) आवयोर्वाधूलालकराचार्यस्य सव्याख्यानमतिशुद्धं पुस्तकमेकम्।

(४) एतद्विट्ठलपुरनिवासिनां काव्यमालानवमगुच्छकान्तर्गतस्य गीतिशतकस्य प्रणेतॄणां श्रीवात्स्यसुन्दराचार्यकवीनां स्वहस्तलिखितमतिशुद्धं तालपत्रात्मकं सवृत्तिव्याख्यानं पुस्तकमेकम्। तत्पत्राणि ॥ ८४ ॥

एवञ्च पुस्तकाधारेण लिखितस्यास्य ग्रन्थस्यावलोकनेनावामपि सहृदयहृदयैरनुग्राह्यौ भवाम इति।

पण्डितश्रीमदात्रेयजयपुरकृष्णमाचार्यः
पण्डितश्रीवाधूलालकराचार्यश्च

विषय-सूची

अध्यायः पृ०

शारीरं नाम प्रथममधिकरणम्

दोषदर्शनं नाम द्वितीयमधिकरणम्

गुणविवेचनं नाम तृतीयमधिकरणम्

आलङ्कारिकं नाम चतुर्थमधिकरणम्

प्रायोगिकं नाम पञ्चमाधिकरणम्

परिशिष्टम्

पण्डितवरवामनविरचितसवृत्ति-

काव्यालङ्कारसूत्राणि

सानुवाद'काव्यालङ्कारकामधेनु'व्याख्यासहितानि

अथ प्रथमेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः

कल्याणानि तनोतु नः स भगवान् क्रीडावराहाकृति-
दंष्ट्राग्रेण नवप्ररोहपुलकां देवीं धरामुद्वहन् ।
यस्याङ्गेषु वहन्ति रोमविवरालग्ना महाऽम्भोधयः
कान्तास्पर्शसुखादिव प्रकटितां स्वेदोदबिन्दुश्रियम् ॥ १ ॥

दरोन्मीलत्फालद्युतिमदमृतस्यन्दिशुभिकं
भ्रमन्मीनोष्णीषं पदसरणिपारीणवलयम् ।
विराजद्दम्भावव्यतिकरितपुम्भावसुभगं
पुरस्तादाविस्ताद् भुवनपितरौ तन्मम महः ॥ २ ॥

ॐकारमणिघण्टानुरणन्निगमबृंहितम् ।
चित्ते शृङ्खलितं भक्त्या चिन्तये चिन्मयं गजम् ॥ ३ ॥

करुणामसृणाऽऽलोकप्रवणा शरणार्थिषु ।
प्रगुणाऽऽभरणा वाणी स्मरणाऽनुगुणाऽस्तु नः ॥ ४ ॥

उन्मीलत्प्रतिभानकन्दमुदयत्संदर्भनालं लस-
च्छ्लेषव्याकुलशब्दपत्रमतुलं बन्धारविन्दं सदा ।
अध्यासीनमलंक्रियापरिलसद्गन्धं वचोदैवतं
वन्दे रीतिविकासमाशुविगलन्माधुर्यपुष्पासवम् ॥ ५ ॥

नमस्कुर्वे खर्वेतरविविधविद्याविलसितान्
प्रवाचः प्राचोऽहं प्रथितयशसो भामहमुखान् ।
कृता यैरर्थानां कृतिषु नयचर्चा सदसतां
प्रभेवाभिव्यक्तिं प्रजनयति भासामधिपतेः ॥ ६ ॥

पावनी वामनस्येयं पदोन्नतिपरिष्कृता ।
गम्भीरा राजते वृत्तिर्गङ्गेव कविहर्षिणी ॥ ७ ॥

प्रबन्धं तालानां भवनुतिमिषेणाऽतनुत यः
शिवाक्लृप्ताकारा नटनकरणानामपि भिदाः ।
स वृत्तेर्व्याख्यानं सरलरचनं वामनकृते-
र्विधत्ते गोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालतिलकः ॥ ८ ॥

पावनपदविन्यासा समग्ररसदोहशालिनी भजताम् ।
घटयति कामितमर्थं काव्यालङ्कारकामधेनुरियम् ॥ ९ ॥

यत्रोपयुज्यते यावत् तावत् तत्र निरूप्यते ।
प्रसङ्गानुप्रसङ्गेन नाऽत्र किंचित् प्रपञ्चयते ॥ १० ॥

अभ्यर्थके मय्यनुकम्पया वा साहित्यसर्वस्वसमीहया वा ।
मदीयमार्या मनसा निबन्धममुं परीक्षध्वममत्सरेण ॥ ११ ॥

अध्याये प्रथमे काव्यप्रयोजनपरीक्षणम् ।
अधिकारिविचारश्च द्वितीये रीतिनिश्चयः ॥ १२ ॥

काव्याऽङ्गकाव्यभेदानां तृतीये प्रतिपादनम् ।
तुर्यं पदपदार्थानां दोषतत्त्वविवेचनम् ॥ १३ ॥

वाक्यवाच्यार्थदोषाणां पञ्चमे तु प्रपञ्चनम् ।
गुणालङ्कारभेदस्तु षष्ठे भेदगुणास्तथा ॥ १४ ॥

सप्तमेऽर्थगुणाः शब्दाऽलङ्काराः पुनरष्टमे ।
उपमा नवमे तस्याः प्रपञ्चो दशमे भवेत् ॥ १५ ॥

काव्यस्यैकादशे संविद् द्वादशे शब्दशोधनम् ।
इत्येष द्वादशाध्यायी प्रमेयाणामनुक्रमः ॥ १६ ॥

अथ ग्रन्थकारः स्वकर्तृकाणि सूत्राणि व्याकर्तुकामः प्रारम्भ एव प्राचीनाऽऽचार्यपरम्परासमाचारपरिप्राप्तकर्तव्यताविशेषरूपमङ्गलानुष्ठानेन स्वयं प्रारिप्सितग्रन्थपरिसमाप्तिपरिपन्थिप्रत्यूहव्यूहप्रतिहननप्रगल्भसमग्रदेवताऽनुग्रहसंपन्नोऽपि व्याख्यातृश्रोतृणामविघ्नव्याख्यानश्रवणलाभाय ग्रन्थाऽऽदौ तन्मङ्गलनिबन्धनपूर्वकं तत्प्रवृत्तिसिद्धये विषयप्रयोजनादि दर्शयन्नाद्येन पद्येन कर्तव्यं प्रतिजानीते ।

प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया ।
काव्यालङ्कारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते ॥ १ ॥

काव्यं ग्राह्यम् अलङ्कारात् ॥ १ ॥

काव्यं खलु ग्राह्यमुपादेयं भवति । अलङ्कारात् । काव्यशब्दोऽयं गुणाऽलङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते । भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते ॥ १ ॥

हिन्दी—परम ज्योति स्वरूप परमात्मा को नमस्कार कर वामन से अपने काव्यालङ्कारसूत्रों की कविप्रिया वृत्ति लिखी जाती है।

काव्य अलङ्कार के योग से ग्राह्य है।

काव्य अलङ्कार के योग से ही उपादेय होता है। यह काव्य-शब्द गुण तथा अलङ्कार से सुसंस्कृत शब्द और अर्थ का ही बोधक है। किन्तु लक्षणा से शब्दार्थ मात्र का बोधक काव्य-शब्द यहाँ ग्रहण किया जाता है ॥ १ ॥

प्रणम्येति ।। भक्तिश्रद्धातिशयलक्षणः प्रकर्षः प्रशब्देनात्र प्रकाश्यते । तादृगेव हि मङ्गलमन्तरायसन्तानशान्ति सन्तनोति । अन्यथा कृतायामपि कृतौ प्रारिप्सितग्रन्थः परिसमाप्ति न संपादयेत् । किरणावल्यादौ तथा दर्शनात् । अथ कथमिह नमिस्सकर्मकः स्यात् । प्रह्वीभावप्रवृत्तेरस्याकर्मकत्वात् । "नमन्ति शाखा नवमञ्जरीभि"रित्यादिप्रयोगदर्शनाच्च।नचाऽयमुपसर्गवशात् सकर्मकः। प्रशब्दस्य प्रकर्षमात्रार्थत्वेन कर्मसम्बन्धोपपादकत्वायोगात् । "नमामि देव"-मित्यादावुपसर्गस्याप्यभावात् । नचायमन्तर्भावितण्यर्थः । अनौचित्यप्रसङ्गादिति । तदेतत् पाणिनिफणितिपरायणपरिणतान्तः करणानामस्माकं चेतसि चोद्यं न चातुरीमाचरति । तथाहि यथा जयतिरकर्मकः प्रकर्षेण वर्तते । पराजये तु सकर्मकः । तथा नमिधातुः क्वचित् प्रह्वीभावार्थः क्वचिन्नमस्कारार्थश्च भवति । तत्र यदा प्रह्वीभावार्थमात्रविवक्षया प्रयुज्यते तदानीमेषोऽकर्मकः । यदा नमस्कारार्थविवक्षया प्रयुज्यते तदा सकर्मक इति विवेकः । यद्येवं तर्हि "देवं प्रणतः" इत्यत्र कर्तरि क्तप्रत्ययो न सिद्धयेत् । "सकर्मकाऽकर्मकाद्धातोः क्तो भवेत् कर्मभावयो" रिति सकर्मकाद्धातोः कर्मणि क्तविधानात् । गत्यर्थाकर्मकादिषु नमेः परिगणनाभावाच्चेत्यपि न चोदनीयम् । "व्यवसितादिषु क्तः कर्तरि चकाराद्" इतीहैव वक्ष्यमाणसूत्रेण नमेरपि कर्तरि क्तप्रत्ययसंभवात् । व्यवसितः प्रतिपन्न इत्यादिषु गत्यर्थादिसूत्रेण चकारादनुक्तसमुच्चयार्थात् कर्तरि क्तप्रत्ययो भवतीति तस्य सूत्रस्याऽर्थः । परमम् । परिदृश्यमानज्योतिःपरिपाटीमतिवर्तमानम् । ज्योतिश्चिन्मयम् । परमं ज्योतिः प्रणम्येत्यत्र वाक्यार्थसामर्थ्येन निखिलनिगमनीरजराजिराजहंसस्य परमहंसभावनापदवीदवीयसः परस्य ब्रह्मणो यत् पारमार्थिकं रूपं तदेव प्रणिधानबलेन प्रमषितविषयान्तरप्रसङ्गे

प्रहर्षतरङ्गितेऽन्तःकरणे प्रत्यक्षतोऽनुभवन् प्रणामप्रचयेन पर्यचरदिति प्रतीतेः परमयोगित्वमस्य प्रबन्धुः प्रत्याय्यते। वामनेनेति निजनामनिर्देशो यशःप्रकाशनाय। कवीन् प्रीणातीति कविप्रीः। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति क्विप्प्रत्ययः। तेन कविप्रिया इति तृतीयान्तं कर्तृविशेषणम्। कवीनां प्रियेति प्रथमान्तं कर्मविशेषणं वा। काव्येति। "कवनीयं काव्यम्" इति लोचनकारः। "कवयतीति कविः, तस्य कर्म काव्यम्" इति विद्याधरः। "कौति शब्दायते विमृशति रसभावानिति कविः। तस्य कर्म काव्यम्" इति भट्टगोपालः। "लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म काव्यम्" इति काव्यप्रकाशकारः। भामहोऽपि— "प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता। तदनुप्राणनाज्जीवेद् वर्णनानिपुणः कविः॥ तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्" इति। तदेतत् काव्यशब्दव्युत्पत्तिकथनम्। चारुताशालि शब्दार्थयुगलं काव्यमिति रूढोऽर्थः। तस्याऽलङ्कारोऽलंकृतः। भावे घञ्। दोषहानगुणालङ्कारादानाभ्यामाधीयमानं सौन्दर्यमिति यावत्। तत्प्रतिपादकानि सूत्राणि, तेषाम्। सूत्रलक्षणमुक्तं प्राचा भामहेन। "अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्। सम्यक्संसूचितार्थं यत् तत् सूत्रमिति कथ्यते" इति। स्वेषामिति। सूत्रवृत्त्योरेककर्तृकत्वप्रतिपादनेन सूत्रकाराभिमतार्थप्रतिपादिनी वृत्तिः वृत्तेरन्यकर्तृकत्वाशङ्काविरहश्चेत्युभयमपि उपक्षिप्यते। वर्ततेऽस्यां सूत्राणां यथावत् पदपदार्थविवेक इति वृत्तिः। अधिकरणार्थे क्तिन् प्रत्ययः। वृत्तिलक्षणमुक्तं भामहेन। "सूत्रमात्रस्य या व्याख्या सा वृत्तिरभिधीयते" इति। काव्यालङ्कारसूत्राणां वृत्तिरित्यनेन विषयसम्बन्धौ सूचितौ। कविप्रियेत्यनेन अधिकारिप्रयोजने सूचिते। तदेतदनुबन्धचतुष्टयमुत्तरत्र प्रतिपादयिष्यते विस्तरेण। काव्यस्य कः पुनरलङ्कारादुपकारो येन प्रतिज्ञायमानं तत्सूत्रवृत्तिविधानं सफलं स्यादिति शङ्कामपनेतुमलङ्कारप्रयोजनप्रतिपादकमादिमं सूत्रमुपादत्ते॥ काव्यमिति॥ खलुशब्दो वाक्याऽलङ्कारे। काव्योपादाननिदानत्वादलङ्कारो भवत्युपयोगीति भावः। ननु काव्यमेव तावदुपादातव्यं चेदलङ्कारस्यापि तदुपादानहेतुत्वमुपपद्येत। तत्सूत्रवृत्तिविधानं च सफलं स्यात्। तस्योपादेयत्वमेव कुत इति चेदत्र वक्तव्यम्। यत् काव्यमुपादेयं न भवतीति कस्य हेतोः। न तावद् ऋषिप्रणीतत्वाभावादनुपादेयत्वम्। वाल्मीकिबोधायनप्रभृतिभिरपि महर्षिभिः काव्यस्य प्रणयनात्। नाऽपि पुरुषप्रणीतत्वात्। शास्त्रनिबन्धानानामपि तथात्वेनानुपादेयत्वप्रसङ्गात्। नच काव्यत्वात्। रामायणादावनैकान्तिकत्वात्। तस्यापि पक्षसमत्वशङ्कायामेकैकाक्षरोच्चारणेऽपि फलविशेषवचनविरोधः। नाऽपि दृष्टप्रयोजनाऽभावात्। दृष्टप्रयोजनानां बहूनामुपदिष्टत्वात्। तथोक्तं काव्यप्रकाशे "काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे" इति। नाऽप्य-

दृष्टप्रयोजनाभावात्। स्वर्गापवर्गलक्षणस्यादृष्टप्रयोजनस्य शिष्टैरनुशिष्टत्वात्। यदाहुः "धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। करोति कीर्तिं प्रीतिञ्च साधुकाव्यनिषेवणम्" इति। काव्यादर्शेऽपि "चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्तनायकम्" इति। इहापि "काव्यं सद्" इति वक्ष्यमाणत्वात्। अथ मन्यसे "काव्यालापाँश्च वर्जयेद्" इति निषेधवचनादनुपादेयत्वं काव्यस्येति। तदप्यनालोचितचतुरम्। काव्यालापनिषेधवचनस्याऽसत्काव्यविषयत्वेन व्यवस्थापनात्। यदाह विद्यानाथः "यत्र पुनरुत्तमपुरुषचरितं न निबध्यते तत् काव्यं परित्याज्यमेव। तद्विषया च स्मृतिः काव्यालापाँश्च वर्जयेदिति" इति। न केवलं विषयवैगुण्येन काव्यस्यासाधुत्वम्। किन्तु प्रबन्धुः प्रतिभादौर्बल्यकुलवैकल्याभ्यामपि भवति। तदुक्तं काव्यादर्शे "तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन। स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्" इति। कविगजाङ्कुशे- "शुनीदुग्धमिव त्याज्यं पद्यं शूद्रकृतं बुधैः। गवामिव पयो ग्राह्यं काव्यं विप्रविनिर्मितम्" इति। उत्तमपुरुषकथाकथनं तु काव्यं ग्राह्यमेव। तदुक्तं भामहेन "उपश्लोक्यस्य माहात्म्यादुज्ज्वलाः काव्यसंपद" इति। भट्टोद्भटेनापि कथितम् "गुणाऽलङ्कारचारुत्वयुक्तमप्यधिकोज्ज्वलम्। काव्यमाश्रयसंपत्त्या मेरुणेवाऽमरद्रुम" इति। भोजराजेनापि कथितम् "कवेरल्पापि वागवृत्तिर्विद्वत्कर्णावतंसति। नायको यदि वर्ण्येत लोकोत्तरगुणोत्तर" इति। किं बहुना प्रतिपाद्यमहिम्ना प्रबन्धप्रशस्तिरिति शास्त्राणामपि समानमेतत्। तथाहि न्यायवैशेषिकशास्त्रयोरीश्वरप्रतिष्ठापकतया पूर्वोत्तरमीमांसयोर्धर्मब्रह्मप्रतिपादकतया महनीयत्वम्। तत्र चिन्तायां तु शास्त्राणामपि काव्यमुखप्रेक्षितया कार्यकारित्वमित्युपनिषत्। यदाहुः "स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते। प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम्" इति। शास्त्रकाव्ययोरियान् विशेषो यत् प्रभुसंमिततया दुर्लभोऽनुप्रवेशः शास्त्रे, कान्तासंमिततया सुलभोऽनुप्रवेशः काव्ये इति। यदाहुः "कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम्। आह्लाद्यमृतवत् काव्यमविवेकगदापहम्" इति। साहित्यचूडामणावप्युक्तम् "तदिदं पुण्ड्रेक्षुभक्षणाद्वेतनवित्तलाभो यत् काव्यश्रवणाद् व्युत्पत्तिसिद्धि"रिति। तस्माद् दृष्टाऽदृष्टाऽनेकोपकारकारितया काव्यमुपादातव्यम्। ततश्च सफलोऽयमलंकारसूत्रवृत्तिविधानयत्न इति स्थितम्।

अथ काव्यशब्दस्याऽनेकार्थत्वेन विप्रतिपत्तौ स्वसिद्धान्तसिद्धं मुख्यार्थं तावत् प्रख्यापयति काव्यशब्दोऽयमिति। लिलक्षयिषितगुणालङ्कारसंस्कृतशब्दार्थयुगलवाची नपुंसकलिङ्गः काव्यशब्द इत्यर्थः। गुणाऽलङ्कारसंस्कृतयोरिति गुणैरोजःप्रमुखैः अलङ्कारैर्यमकोपमादिभिश्च संस्कृतयोरलङ्कृतयोरित्यर्थः। अत्र शब्दाऽर्थौ द्वौ सहितावेव काव्यमिति काव्यपदार्थकथनात्क-

मनीयताशालिशब्द एव काव्यमथवाऽर्थ एवेति पृथक्पक्षद्वयं प्रत्यक्षेपि। यतो द्वयोः संभूयाह्लादनिबन्धनत्वमिति। तदुक्तं वक्रोक्तिजीविते "न शब्दस्य रमणीयताविशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वं, नाप्यर्थस्य" इति। यद्यपि काव्यपदंगुणालङ्कारसंस्कृतशब्दार्थयुगलं व्याचष्टे, तथाप्यस्मिन् सूत्रे मुख्यार्थस्यानुपयोगलक्षणं बाधं पश्यन् शब्दार्थयुगलमात्रे तदुपचर्यंत इत्याह भक्त्येति। भक्त्या उपचारेण। गुणालङ्कारसंस्कृतत्वस्य पृथक्करणं मात्रचोऽर्थः ननु "मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्। अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणाऽरोपिता क्रिया" इत्युक्तरीत्या मुख्यार्थबाधादौ सत्येवोपचारो वक्तव्यः। तथाच गुरुरभिवाद्यो, गुरुत्वादित्यत्र यथा गुरुशब्दपरिगृहीतस्यैव गुरुत्वस्य तदभिवादहेतुत्वं दृष्टम्, तथैवात्राप्यलंकारस्य काव्यग्रहणहेतुत्वमुपपद्यत इति कथं मुख्यार्थबाधः। चारुताशालिशब्दार्थयोः शब्दाऽर्थमात्रस्य वस्तुत एकत्वाद् भेदनिबन्धनो दुर्घटः। "काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्" इति भेदनिर्देशेनैव गुणालङ्कारवैशिष्ट्यतद्व्युत्पत्तिरूपं प्रयोजनं च सम्भवतीति कथमुपचार.। अत्रोच्यते यथा, गुरुत्वादभिवाद्य इत्युक्ते गम्यत एव गुरुरिति। तथापि गुरुरित्युच्यमानमतिरिच्यते। एवमिहापि अलंकाराद् ग्राह्यमित्युक्ते काव्यमिति गम्यत एव। तथापि काव्यमित्युच्यमानमतिरिच्यते इति पुनरुक्तप्रायत्वाद्, अनुपयुक्तमिति मुख्यार्थभंगः। नचानुपयुक्तत्वेऽप्यनुपपत्तेरभावात् कथं मुख्यार्थभंग इति चोदनीयम्। यतो योग्यताविरहवदाकाङ्क्षाविरहोऽपि मुख्यार्थभंगहेतुः। अन्वयविघटनाऽविशेषात्। ततश्चानुपयुक्तावाकाङ्क्षावैकल्यमनुपपत्तौ तु योग्यतावैकल्यमित्यवगन्तव्यम्। चारुताशालिशब्दार्थयोः शब्दमात्रस्य च गुणभेदात्। भेदे सति सादृश्यलक्षणः सम्बन्धः। गुरुपदोपलक्षिते पुंसि हितानुशासनकौशल्यादिप्रतिपत्तिवच्छब्दार्थयोर्गुणालंकारवैशिष्ट्यप्रतिपत्तिः प्रयोजनं च सम्भवतीत्युपपन्न एवोपचार इत्यलं विस्तरेण॥ १॥

अलंकारशब्दोऽयं किं भावसाधनः, उत करणसाधन इति सन्देहात् पृच्छति—

कोऽसावलंकार इत्यत आह—

सौन्दर्यमलङ्कारः॥ २॥

अलंकृतिरङ्कारः। करणव्युत्पत्त्या पुनरलङ्कारशब्दोऽयम् उपमादिषु वर्तते॥ २॥

हिन्दी—यह अलङ्कार कौन पदार्थ है इसके उत्तर में कहते हैं—
सौन्दर्य (के आधानतत्त्व) अलङ्कार है।

अलङ्कार शब्द का अर्थ है भावात्मक अलङ्कृति। फिर भी करणार्थ घञ् प्रत्यययुक्त व्युत्पत्ति से यह अलङ्कार शब्द उपमा आदि प्रसिद्ध अलङ्कारों में प्रयुक्त होता है॥ २॥

कोऽसाविति। तत्रोत्तरं वक्तुमुत्तरसूत्रमवतारयति। अत आहेति। वृत्तिकारदशातः सूत्रकारदशा अन्यैवेति कर्तृभेदमाश्रित्योक्तम्—आहेति। अत्र भावव्युत्पत्तेर्विवक्षितत्वाद् अलङ्कारशब्दो भावार्थमाचष्ट इत्याह। अलङ्कृतिरलङ्कार इति। अलङ्कारशब्दस्य करणव्युत्पत्तिपक्षे तु न गुणानां काव्यग्रहणहेतुत्वमिति "युवतेरिव रूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगुणम्" इत्यादि वक्ष्यमाणं नोपपद्यते इत्यर्थोऽसङ्गतिः। "न क्तल्युट्तुमुन्खलर्थेषु वासरूपविधिरिष्यते" इति करणे ल्युट् एव प्राप्तेः शब्दासङ्गतिश्चेत्याशयः। नन्वलङ्कारशब्दस्य कटकमुकुटादाविव यमकोपमादिषु अविगीतशिष्टप्रयोगदर्शनात् "अध्यायन्याये" त्यादिसूत्रे चकारादनुक्तसमुच्चयार्थाद् वा, "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति बहुलग्रहणाद् वा करणसाधनोऽप्यलङ्कारशब्दः सङ्गच्छत इति चेन्मतम् तत्तु नानिष्टमित्यभ्युपगम्यानुवदति। करणव्युत्पत्त्या पुनरिति। कथञ्चित् कल्पितायामपि करणव्युत्पत्तौ न गुणानां काव्यग्रहणहेतुत्वमिति स दोषस्तदवस्थ इत्याशयः। ननु करणसाधनोऽयमलङ्कारशब्दो यमकोपमादिषु वर्तमानो गुणानपि गृह्णाति, सौन्दर्यहेतुत्वाविशेषादुभयेषामिति। तदेतदविचारितरमणीयम्। न हि व्युत्पत्तिरस्तीति शब्दः सर्वत्र वक्तुं शक्यते। किन्तु शिष्टप्रयोगे दृष्टे व्युत्पत्तिरन्विष्यते। अन्यथा पङ्कजादयः शब्दाः कुमुदादिषु पद्मादिष्विव प्रयुज्येरन्। पङ्कजत्वेनाविशेषादिति स्यादतिप्रसङ्गः। तस्मात् पद्मे पङ्कजशब्दवदलङ्कारशब्दः कटकमुकुटादिष्विव यमकोपमादिषु योगरूढ इत्यवगन्तव्यम्। एवञ्च सति यमकोपमादेरलङ्कारस्य काव्यग्रहणहेतुत्वाभ्युपगमे, साऽलङ्कारमेव ग्राह्यं काव्यं, न तु निरलङ्कारमित्यापद्येत। न चैवं वक्तुं शक्यम्। अलङ्कारविरहेऽपि शुद्धगुणमेव काव्यमास्वाद्यमिति वक्ष्यमाणत्वात्। न केवलमियमस्य ग्रन्थकृतः प्रक्रिया। किन्त्वन्यैरप्यालङ्कारिकैरनलङ्कारस्य शब्दार्थयुगलस्य सगुणस्य काव्यत्वे लक्षणोदाहरणयोर्दर्शितत्वात्। यथा चोक्तं काव्यप्रकाशे—"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" इति। तत्र व्याचष्ट भट्टगोपालः—"निर्दोषौ सगुणौ सालङ्कारौ शब्दार्थौ काव्यम्" इति घण्टापथः, किन्तु "सर्वं वाक्यं सावधारणम्" इत्यक्त्या यथा दोषशून्यावेव गुणवन्तावेव शब्दार्थौ काव्यमित्यवधारणं, तथा साऽलङ्कारावेवेति न पार्यते नियन्तुम् किन्तु वयं हि काव्यशोभासम्भावनया स्वैरम् अलङ्कारान् सहामहे। अलङ्कारनैयत्य तु न सहामहे। उक्तं हि—"दोषहानं गुणादानं कर्तव्यं नियमात् कृतौ। कामचारः पुनः प्रोक्तोऽलङ्कारेषु मनीषिभिः" इति। उदाहरणं तु—"यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपास्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः। सा चैवास्मि तथापि तत्र

सुरतव्यापारलीलाविधौ रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥" इत्यत्र स्फुटो न कश्चिदलङ्कारः। काशकुशावलम्बनाद्विशेषोक्तिविभावनयोरन्यतरालङ्कारोद्भावनायामलङ्कारनैयत्यपक्षनिर्वाह इत्यलं दूराभिनिवेशया दुराशया। कविसंरम्भगोचराणामलङ्काराणान्न कस्यचिदुपलम्भ इति। तथापि न काव्यत्वभङ्गः। विशेषोक्तिविभावनयोः स्वस्वविरोधमुखेन कथञ्चिदुद्भावनेऽपि न स्फुटत्वम्। कण्ठोक्त्या निषेध्ययोः कार्यकारणयोर्भावान्तरमुखेन भावाभिधानात्। अथवा साधकबाधकप्रमाणाभावाद् द्वयोः सन्देहरूपः सङ्कर एवेति। तत्रापि, अस्फुटप्रतीतिर्दुष्परिहरैवेत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्तार्थप्रपञ्चनेन। यद्यपि, काव्यं ग्राह्यं सौन्दर्यात्, तद्दोषगुणाऽलङ्कारहानादानाभ्याम् इति विन्यासाऽन्तरे लाघवं भवति। तथापि योऽयमलङ्कारः काव्यग्रहणहेतुत्वेनोपन्यस्यते तद्व्युत्पादकत्वाच्छास्त्रमप्यलङ्कारनाम्ना व्यपदिश्यत इति शास्त्रस्यालङ्कारत्वेन प्रसिद्धिः प्रतिष्ठिता स्यादिति सूचयितुं विन्यासः कृतः—काव्यं ग्राह्यम, अलङ्कारादिति ॥ २ ॥

इत्थमलङ्कारपदार्थं समर्थ्य तस्य कारणं वक्तुमुत्तरसूत्रमुपक्षिपति—

स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम् ॥ ३ ॥

स खल्वलङ्कारो दोषहानाद् गुणालङ्कारादानाच्च सम्पाद्यः कवेः ॥ ३ ॥

हिन्दी—वह सौन्दर्य रूप अलङ्कार दोषों के परित्याग और गुणों एवम् अलङ्कारों के उपादान से होता है।

कवि का वह सौन्दर्य रूप अलङ्कार दोंषों के त्याग से तथा गुणों एवम् अलङ्कारों के उपादान से सम्पादन-योग्य है ॥ ३ ॥

स दोषेति। प्रक्रान्तप्रसिद्धाऽनुभूताद्यनेकार्थत्वात् तच्छब्दोऽत्र प्रक्रान्तार्थपरामर्शीत्याह। स खल्विति। गुणाश्च, अलङ्काराश्च गुणालङ्कारा इति प्रथमं समस्य पश्चाद् दोषाश्च गुणालङ्काराश्चेति द्वन्द्वः कर्त्तव्यः। हानं चादानं च हानादाने दोषगुणालङ्काराणां हानादान इति विग्रहः। ततश्च दोषाणां हानं, गुणालङ्काराणां चादानमिति यथासंख्य सम्बन्धः सम्पत्स्यते। 'इष्टानुवर्तनात् कुर्यात् प्रागनिष्टनिवर्तनम्' इति नीत्या गुणालङ्कारादानात् पूर्वं दोषहानमेव कर्तव्यमिति सूचयितुं प्रथमतो दोषहानस्य निर्देशः कृतः। गुणालङ्कारादानाच्चेत्यत्रेदमनुसन्धेयम्। गुणविवेचनाधिकरणप्रमेयपर्यालोचनायां नित्यत्वानित्यत्वभेदेन गुणालङ्कारव्यवस्थामास्थास्यमानेन ग्रन्थकृताऽत्र सूत्रे दोषहानवद् गुणादानवच्च नालङ्कारादानं नियतम्। किन्तु गुणकृतशोभाऽतिशयाऽऽधायकत्वसम्भावनयैवेति विवक्षितमिति। एवञ्च सति "सौन्दर्यमलङ्कारः" इत्यत्रापि या गुणै-

राधीयते शोभा, यश्चाऽलङ्कारैस्तदतिशयस्तदुभयमपि सौन्दर्यपर्यायेणालङ्कार-पदेन सङ्गृहीतमिति व्याख्येयम्। अतो न पूर्वापरप्रमेयविरोध इति सर्वम-नवद्यम्। कवेरिति। 'कृत्यानां कर्तरि वा' इति षष्ठी ॥ ३ ॥

शास्त्रतस्ते ॥ ४ ॥

ते दोषगुणालङ्कारहानादाने। शास्त्रादस्मात्। शास्त्रतो हि ज्ञात्वा दोषाञ्जह्याद्, गुणालङ्कारांश्चाददीत ॥ ४ ॥

हिन्दी—दोषों का त्याग तथा गुणालङ्कारों का आदान ये दोनों शास्त्र से होते हैं।

दोष-त्याग तथा गुणालङ्कार-ग्रहण दोनों इसी शास्त्र (काव्यालङ्कार) से हो सकते हैं। शास्त्र से ही लक्षणादि जानकर दोनों को त्यागना चाहिए तथा गुणों एवम् अल-ङ्कारों का ग्रहण करना चाहिए ॥ ४ ॥

ननु दोषहानगुणालङ्कारादाने किंनिबन्धने इति जिज्ञासमानं प्रत्याह। शास्त्रत इति ॥ ४ ॥

ननु सालङ्कारं काव्यं फलवच्चेदलङ्कारस्य निरूपणाय शास्त्रारम्भ उप-पद्यते। अतस्तदुपपत्तये फलं वक्तव्यम्। किं पुनस्तत्फलमिति प्रश्नपूर्वकमुत्तर-सूत्रमुपन्यस्यति।

किं पुनः फलम् अलङ्कारवता काव्येन ? येनैतदर्थोऽयमित्याह—

काव्यं सद् दृष्टाऽदृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् ॥ ५ ॥

काव्यं सत् = चारु दृष्टप्रयोजनं, प्रीतिहेतुत्वात्। अदृष्टप्रयोजनं कीर्तिहेतुत्वात्। अत्र श्लोकाः—

"प्रतिष्ठां काव्यबन्धस्य यशसः सरणिं विदुः।
अकीर्तिवर्तिनीं त्वेवं कुकवित्वविडम्बनाम् ॥
कीर्तिस्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चितः।
अकीर्तिं तु निरालोकनरकोद्देशदूतिकाम् ॥
तस्मात् कीर्तिमुपादातुमकीर्तिं च निबर्हितुम्।
काव्यालङ्कारसूत्रार्थः प्रसाद्यः कविपुङ्गवैः" ॥ ५ ॥

इति श्री पण्डितवरवामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ शारीरे प्रथमेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः इति प्रयोजनस्थापना ॥ १ ॥

हिन्दी—अलङ्कार युक्त काव्य का क्या फल है, जिससे इस अलङ्कार-ग्रन्थ की रचना की गई है, इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं।

अच्छा काव्य दृष्ट (ऐहलौकिक) तथा अदृष्ट (पारलौकिक) दोनों तरह के फल को देता है जैसे जीवन काल में आनन्द और मृत्यु के बाद यश।

अच्छा काव्य प्रीतिकारक होने से दृष्ट प्रयोजनीय है तथा कीर्त्तिकारक होने से अदृष्टप्रयोजनीय। इस प्रसङ्ग में श्लोक हैं—

अर्थात् काव्य-रचना की प्रतिष्ठा को यशःप्राप्ति का मार्ग कहा है और कुत्सित कविकृति को अकीर्त्ति का मार्ग कहा है। विद्वान् लोगों ने कीर्ति को जबतक संसार है तबतक रहने वाली तथा स्वर्ग रूप फल देने वाली कहा है। अतः कीर्त्ति की प्राप्ति के लिए तथा अकीर्त्ति के निराकरण के लिए श्रेष्ठ कवियों द्वारा काव्यालङ्कार सूत्रों का अर्थ अध्ययन करने योग्य है ॥ ५ ॥

काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में शारीर नामक प्रथम अधिकरण में
प्रथम अध्याय समाप्त।

किं पुनरिति। सच्छब्दस्य विवक्षितमर्थमाह चार्विति। साऽलंकारतया सुन्दरमित्यर्थः।

दृष्टादृष्टावैहिकामुष्मिकावर्थौ यस्येति विग्रहः। अत्र अथासंख्यं सम्बन्धं दर्शयति। दृष्टाऽदृष्टप्रयोजनमिति। अत्र प्रीतिशब्देन श्रवणसमनन्तरमेव सहृदयहृदयेसु जायमाना या रसास्वादलक्षणा, या च पुनरिष्टप्राप्तिरनिष्टपरिहारनिबन्धना सेयमुभयविधा प्रीतिर्विवक्षिता। तथाच सति साक्षात् परंपरया चैहिकप्रीतेः साधनत्वात् काव्यं दृष्टाऽर्थमित्यर्थः। ननु कीर्तिरपि स्वर्गसाधनतया प्रयोजनमिति वक्तव्यम्। स्वर्गपदार्थोऽपि प्रीतिरेव। तथा सति प्रीतिहेतुत्वादित्युक्ते विवक्षितार्थसिद्धेः किं हेत्वन्तरोपदानगौरवेणेति चेत् सत्यम्। "यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च सुखं स्वर्गपदास्पदम्" इत्युक्तलक्षणाया दृष्टप्रीतिविलक्षणाया अदृष्टप्रीतेः पृथङ्निरूपणीयत्वात् काव्यस्य तन्मूलतया लोकातिशयत्वं प्रकटितमिति हेत्वन्तरमुपत्तिमिति द्रष्टव्यम्। अमुमेवार्थमभियुक्तोक्तिसंवादेन समर्थयते। अत्र श्लोका इति। प्रतिष्ठा सहृदयहृदयानुरञ्जकतया लोकोत्कर्षेण स्थितिः सरणिः पद्धतिः। अकीर्तिवर्तिनीत्यत्र नञ् तद्विरोधिनमर्थमाचष्टे इति। यथा त्वनृताधर्माविद्यादय ऋतधर्मविद्यादीनां विपक्षास्तथा कीर्तिरप्यकीर्तेर्विरोधिनी। तस्या वर्तिनी एकपदी। "सरणिः पद्धतिः पद्या वर्तिन्येकपदीति च" इत्यमरः। आसंसारं, यावन्न मोक्षः। कीर्तेर्यावत्प्रसरणं वा। निरालोकस्तेजोमात्रशन्यः। तमोमय

इति यावत् । नरको दुर्गतिः। "स्यान्नारकस्तु नरको निरयो दुर्गतिः स्त्रियाम्" इत्यमरः । तस्योद्देशः प्रदेशस्तस्य दूतिका प्रापयित्रीति यावत् । प्रसाद्यः विशेषतो विमर्शेन विशदीकर्तव्यः । अस्यालंकारशास्त्रस्य सौन्दर्यापरपर्यायेऽलंकारे परमप्रतिपाद्यत्वेन दोषगुणालंकारविषयहेयोपादेयतया तद्व्युत्पादनं प्रयोजनम् । तस्य च प्रयोजनं सत्काव्यकरणम् । तस्य च कीर्त्यादयः कवीनां प्रीतिः । शास्त्रस्य विषयस्य च प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धः । काव्यस्य कीर्त्यादेश्च कार्यकारणभाव इति प्रथमाध्यायप्रमेयसंग्रहः । शरीर इति । प्रथमं काव्यशरीरम् । तदनु दोषाः । ततो गुणाः । तदनन्तरमलंकाराः । ततः शब्दप्रयोगशैलीति क्रमेण पञ्चाधिकरणानि । तत्र काव्यशरीरमधिकृत्य कृतमिति शारीरमधिकरणम् । अधिक्रियन्तेऽवान्तरप्रमेयरूपाणि प्रकरणान्यस्मिन् महाप्रमेयात्मनीत्यधिकरणम् । अध्यायोऽवान्तरप्रमेयविरतिस्थानम् । "प्रमेयविरतिस्थानमध्यायश्च प्रपाठक" इति वैजयन्ती ॥ ५ ॥

इति श्रीगोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालविनिर्मितायां काव्यालंकारसूत्रवृत्तिव्याख्यायां काव्यालंकारकामधेनौ शारीरे प्रथमेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥

अथ प्रथमेऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः

अधिकारिनिरूपणार्थमाह—

अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च कवयः ॥ १ ॥

इह खलु द्वये कवयः सम्भवन्ति। अरोचकिनः, सतृणाभ्यवहारिणश्चेति। अरोचकिसतृणाभ्यवहारिशब्दौ गौणार्थौ। कोऽसावर्थः। विवेकित्वमविवेकित्वं चेति ॥ १ ॥

हिन्दी—अधिकारी के निरूपण के लिए कहा है—

दो प्रकार के कवि होते हैं—अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी।

यहाँ दो प्रकार के कवि हो सकते हैं अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी। अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी शब्द गौणार्थक हैं। वह गौणार्थ कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी शब्द के विवक्षित अर्थ क्रमशः विवेकित्व और अविवेकित्व हैं ॥ १ ॥

कवीन्द्रकैरवानन्दसुधास्यन्दपटीयसीम्।
विभिन्दानां तमस्स्पन्दं वन्दे वाङ्मयचन्द्रिकाम् ॥ १ ॥

प्रयोजने काव्यस्य प्रतिष्ठापिते तदर्थितयाऽधिकारिणो निरूप्या इत्यध्यायद्वयसङ्गतिमधिगमयति। प्रयोजनेति। काव्यप्रयोजनस्य स्थापना कृतेति शेषः[1]। तिष्ठतेर्ण्यन्ताद् "ण्यासश्रन्थो युच्" इति युच्प्रत्ययः। अधिकारीति। अधिकारः प्रयोजनस्वाम्यम्। तद्वानधिकारी। "अधिकारः फले स्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः" इति दशरूपकम्। अरोचकिन इति। कृष्णसर्पपदन्यायेन अरोचकशब्दस्तत्पुरुषमेवावगमयति। कृष्णसर्पवदरण्यमितिवदरोचकिन इति प्रयुक्तम्। न त्वरोचका इति। अतो "न कर्मधारयान्मत्वर्थीयः" इति निषेधस्यानवकाशः। अरोचको नाम व्याधिविशेषः। यथाह वाग्भटः "अरोचको भवेद्दोषैर्जिह्वाहृदयसंश्रितैः" इति। सतृणमिति "अव्ययं विभक्ती" त्यादिना साकल्यार्थेऽव्ययीभावः। सतृणमभ्यवहरन्तीति सतृणाभ्यवहारिणः। द्वये इति। प्रथमचरमादिसूत्रे तयपः परिगणनात् "द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा" इति तत्स्थानिकायजन्तोऽपि स्थानिवद्भावात् सर्वनामसंज्ञां लभते। अतः प्रथमाबहुवचनान्तं द्वये इति रूपम्। ननु किमनेन प्रकृतानुपयोगिना रोचकित्वादिविचारै-

---

१. "इति प्रयोजनस्थापना" इत्यस्य विवरणमेतत्।

णेति चेदाह। अरोचकीकि। गौणार्थाविति। सादृश्यमूललक्षणाव्यापारेण लक्षितावर्थावित्यर्थः। गौणार्थस्वरूपजिज्ञासुं पृच्छति। कोऽसाविति। पृष्टमर्थं स्पष्टमाचष्टे विवेकित्वमिति ॥ १ ॥

यदाह—

पूर्वे शिष्याः, विवेकित्वात् ॥ २ ॥

पूर्वे खल्वरोचकिनः शिष्याः शासनीयाः। विवेकित्वात् विवेचनशीलत्वात् ॥ २ ॥

हिन्दी—इन दोनों में प्रथम विवेकी होने से शिक्षाप्राप्त करने योग्य है।

प्रथम प्रकार का कवि अर्थात् अरोचकी कवि विवेचनशील होने से शासन-योग्य है ॥ २ ॥

उक्तस्य गौणार्थस्योपपादकमधिकारिनिश्चायकं सूत्रमवतारयति।। यदा-हेति ।। २ ।।

नेतरे तद्विपर्ययात् ॥ ३ ॥

इतरे सतृणाभ्यवहारिणो न शिष्याः। तद्विपर्ययात्। अविवेचन-शीलत्वात्। न च शीलमपाकर्तुं शक्यम् ॥ ३ ॥

हिन्दी—अन्य अर्थात् सतृणाभ्यवहारी कवी तद्विपरीत अर्थात् अविवेकी होने से शासन-योग्य नहीं है।

दूसरे प्रकार के अर्थात् सतृणाभ्यवहारी कवि शासनयोग्य नहीं हैं, तद्विपरीत होने से अर्थात् विवेचनशील नहीं होने से, स्वभाव दूर नहीं किया जा सकता ।। ३ ।।

अथ "नेतर" इति सूत्रारम्भः किमर्थः। विवेकिनः शिष्या इत्युक्ते अविवे-किनः पुनरशिष्या इति गम्यत एव। तथाप्यासूत्र्यमाणं पुनरुक्तिं पुष्णाति। "अर्थादापन्नस्य पुनर्वचनं पुनरुक्तिः" इति न्यायाद् इति सत्यम्। यथा धूम-ध्वजाभावे धूमाभाव इति यावद् व्यतिरेको न दर्शितस्तावत् स इति। धूमध्वजे धूम इति साहचर्यमात्रदर्शनान्न कार्यकारणभावनिश्चयः। तथैवात्रापि व्यतिरे-कदर्शनमन्वयदाढर्चायेति भाव इति युज्यते एव सूत्रारम्भः। वृत्तिः स्पष्टार्था। ननु शीलितं शास्त्रमविवेकमपाकरोति। तत्त्वविवेकस्य तज्जन्यत्वात्। अतः कथमविवेकिनो न शिष्या इति शङ्कां शकलयति। नचेति ।। ३ ।।

यद्येवं विरलस्तर्हि विद्योपयोग इति शङ्कते, न शास्त्रं सर्वत्रानुग्राहि स्यात्। को वा मन्यते। तदाह—

नन्वेवं न शास्त्रं सर्वत्रानुग्राहि स्यात्, को वा मन्यते, तदाह—

न शास्त्रमद्रव्येष्वर्थवत् ॥ ४ ॥

न खलु शास्त्रमद्रव्येष्वविवेकिष्वर्थवत् ॥ ४ ॥

हिन्दी—यदि ऐसा है तब तो शास्त्र सब जगह अनुग्राही नहीं होगा ? कौन ऐसा मानता है ? इसके उत्तर में कहते हैं—

अविवेकी व्यक्तियों में शास्त्र सार्थक नहीं होता है।

विवेकहीन व्यक्तियों में शास्त्र सफल नहीं होता है ॥ ४ ॥

नन्विति । अभ्युपगमेन परिहरति । को वा मन्यते इति । शास्त्रं सर्वानुग्राहीत्यनुषज्ज्यते । न कश्चिदपि तथा मनुत इति फलितोऽर्थः । विधीयमानोऽपि विवेकविधुरेषु शास्त्रोपदेशो विपिनविलापवद् विफल इत्याह । न शास्त्रमिति । शास्त्रोपदेशद्वारा यत्र सद्भिराधीयमाना गुणाः संक्रामन्ति तद् द्रव्यमिह विवक्षितम् । तद्विपरीतान्यद्रव्याणि, गुणहीना अविवेकिन इति यावत् । अत्र गाथा "अयं भस्मनि होमः स्यादियं वृष्टिर्मरुस्थले । इदमश्रवणे गानं यज्जडे शास्त्रशिक्षणम्" इति ॥ ४ ॥

प्रतिपादितं प्रमेयं प्रसिद्धदृष्टान्तेन स्पष्टयितुमाह—

निदर्शनमाह—

न कतकं पंकप्रसादनाय ॥ ५ ॥

न हि कतकं पयस इव पङ्कप्रसादनाय भवति ॥ ५ ॥

हिन्दी—उदाहरण कहते हैं—

रिट्ठी फल (कतक) कीचड को साफ करने के लिए नहीं होता है।

जिस तरह रिट्ठी फल (कतक) विकृत जल को साफ कर देता है उस तरह कीचड़ को साफ करने में वह समर्थ नहीं है ॥ ५ ॥

निदर्शनमिति । कतकमम्भःप्रसादनबीजन् । "कतकं मेदनीयश्च श्लक्ष्णं वारिप्रसादनम्" इति वैद्यनिघण्टुः ॥ ५ ॥

प्रकरणोचितां सङ्गतिं प्रकटयन्नुत्तरसूत्रमवतारयति ।

अधिकारिणो निरूप्य रीतिनिश्चयार्थमाह—

रीतिरात्मा काव्यस्य ॥ ६ ॥

रीतिर्नामेयमात्मा काव्यस्य । शरीरस्येवेति वाक्यशेषः ॥ ६ ॥

हिन्दी—अधिकारियों को निरूपित अब रीति के स्वरूपनिश्चय के लिए कहते हैं—

रीति काव्य की आत्मा है।

शरीररूपी काव्य की आत्मा का नाम रीति है यह सूत्रगत वाक्य का शेष है ॥६॥

अधिकारिण इति। कर्तृनिरूपणानन्तरं कर्मनिरूपणमुचितमिति व्याचष्टे। रीतिर्नामेति। रीणन्ति गच्छन्त्यस्यां गुणा इति, रीयते क्षरत्यस्यां वाङ्मधुधारेति वा रीतिः। अधिकरणार्थे क्तिन् प्रत्ययः। करङ्कगात्रकल्पकर्कशतर्कवाक्यवैलक्षण्यप्रकटनप्रगल्भः कश्चन स्फुरत्ताहेतुस्वभावोऽत्रात्मेत्युच्यते। ननु काव्यस्यात्मेत्येतत् कथमुपपद्यते। अशरीरभूतस्यात्मावच्छेदकत्वासम्भवादित्याशङ्क्य शब्दार्थयुगलं शरीरं, तस्याधिष्ठाता रीतिर्नामात्मेत्युपपत्तिमुन्मीलयितुमाकाङ्क्षितपदमापूरयति। शरीरस्येवेति वाक्यशेष इति। अत्र रीतेरात्मत्वमिव शब्दार्थयुगलस्य शरीरत्वमौपचारिकमित्यवगन्तव्यम् ॥ ६ ॥

रीतेः काव्यशरीरं प्रत्यात्मत्वेनोक्तमुत्कर्षमुपश्रुत्य कौतुकोत्कलिकाकरम्बितान्तःकरणस्तां प्रतिपित्सुः पृच्छति—

किं पुनरियं रीतिरित्याह—

विशिष्टा पदरचना रीतिः ॥ ७ ॥

विशेषवती पदानां रचना रीतिः ॥ ७ ॥

हिन्दी—फिर यह रीति क्या है इस सम्बन्ध में कहते हैं—विशिष्ट पद-रचना रीति है।

विशेषतापूर्ण पदों की रचना रीति है ॥ ७ ॥

किं पुनरिति। किमित्यव्ययं प्रश्नार्थे। "किमव्ययं च कुत्सायां विकल्पप्रश्नयोरपि" इति नानार्थरत्नमाला। इयं रीतिर्नाम किं पुनः? किंलक्षणेत्यर्थः। प्रतिपित्सितमर्थं प्रतिपादयितुमनन्तरं सूत्रमवतारयति। आहेति। विशिष्टेति पदं व्याचष्टे। विशेषवतीति। पदानामिति। अर्थेष्वौपचारिकी रीतिरङ्गीकर्तव्या। अन्यथाऽर्थानामात्मभूतरीतिवैधुर्ये काव्यशरीरान्तःपातो दुष्करः। यद्वक्ष्यति "तस्यामर्थसम्पदास्वाद्या, सापि वैदर्भी तात्स्थ्याद्" इति।

किमयं वैशेषिकपरिभाषितः पञ्चमः पदार्थो विशेषोऽन्य एवेति सन्दिहानः पृच्छति ॥ ७ ॥

कोऽसौ विशेष इत्याह—

विशेषो गुणात्मा ॥ ८ ॥

वक्ष्यमाणगुणरूपो विशेषः ॥ ८ ॥

हिन्दी—यह विशेष क्या पदार्थ है इस सम्बन्ध में कहते हैं—विशेष गुणात्मक है। गुणरूप ही विशेष है जिसका प्रतिपादन पश्चात् किया जाएगा ॥ ८ ॥

कोऽसाविति । विवक्षितं विशेषं विवरीतुमुत्तरसूत्रमवतारयति । आहेति। गुणात्मा ओजःप्रसादादिगुणस्वभाव इत्यर्थः ॥ ८ ॥

रीति विवेक्तुमाह—

सा त्रेधा वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति ॥ ९ ॥

सा चेयं रीतिस्त्रेधा । वैदर्भी, गौडीया, पाञ्चाली चेति ॥ ९ ॥

हिन्दी—वह रीति तीन तरह की है—वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली ।

वह रीति तीन तरह की है—वैचर्भी, गौडी और पाञ्चाली ॥ ९ ॥

सा त्रेधेति ॥ सकलगुणसध्रीचीनत्वेनाभ्यर्हितत्वाद् वैदर्भ्याः प्रथमं निर्देशः । अनन्तरयोरुभयोः स्तोकगुणत्वेऽपि प्रशस्तगुणसंस्कृतत्वाद् अनन्तरं गौडीपाया, अवशिष्टाया अन्ते निवेशः ॥ ९ ॥

किं पुनर्देशवशाद् द्रव्यगुणोत्पत्तिः काव्यानां, येनाऽयं देश-विशेषव्यपदेशः । नैवं, यदाह—

विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या ॥ १० ॥

विदर्भगौडपाञ्चालेषु तत्रत्यैः कविभिर्यथास्वरूपमुपलब्धत्वात् तत्समाख्या । न पुनर्देशैः किञ्चिदुपक्रियते काव्यानाम् ॥ १० ॥

हिन्दी—क्या काव्यों के द्रव्यगुणों की उत्पत्ति देश-विशेष के आधार पर होती है जिससे विदर्भ, गौड़ तथा पाञ्चाल का नाम-निर्देश किया गया है ? नहीं । जब कि कहा है—

विदर्भ आदि देशों में वैदर्भी आदि रीतियों के प्रचलन से उन रीतियों का ऐसा नाम-करण किया गया है ।

विदर्भ, गौड़ एवं पाञ्चाल देशों में वहाँ के कवियों द्वारा यथास्थित रूप में तत्तत् रीति के उपलब्ध होने से रीतियों का यह नाम-करण हुआ है । उन देशों से काव्यों का कोई उपकार नहीं होता है । (अर्थात् जिस देश के नाम पर जो रीति है उस देश के कवि स्वदेशीय रीति में लिख कर काव्यों का कोई उपकार नहीं करते) ॥१०॥

किं पुनरिति ॥ यथा लवणादयः पदार्थाः सिन्ध्वादिदेशवशाद् विशिष्ट-गुणा भवन्ति, तथा किं देशवशाद्विशिष्टानि काव्यानीति शङ्कार्थः । समाधत्ते ।

नैवमिति ।। विदर्भादिपदैरुपचाराद्विदर्भादिदेशस्थाः कवयो लक्ष्यन्ते । अन्यथा विदर्भादिपदानां क्षत्रियत्वेऽर्थासङ्गतिः । जनपदवृत्तित्वे "जनपदतदवध्योश्च" इति, गौडशब्दाद्, "अवृद्धादपि बहुवचनविषयाद्" इति विदर्भपाञ्चालशब्दाभ्यां च वुञ्प्रत्ययप्राप्तौ शब्दासङ्गतिश्चेत्यनुसन्धेयम् । विदर्भपाञ्चालशब्दाभ्यां "शेषे" इत्यण् प्रत्ययः । गौडशब्दाद् "वृद्धाच्छः" इति छप्रत्ययः । स्पष्टमवशिष्टम् ।। १० ।।

तासां गुणभेदाद् भेदमाह—

समग्रगुणा वैदर्भी ।। ११ ।।

समग्रैरोजःप्रसादप्रमुखैर्गुणैरुपेता वैदर्भी नाम रीतिः ।

अत्र श्लोकौ—

अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता ।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते ।।

तामेतामेवं कवयः स्तुवन्ति—

सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने ।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु ।।

उदाहरणम्—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु ।।
विस्रब्धं कुरुतां वराहविततिर्मुस्ताक्षतिं पल्वले
विश्रान्तिं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ।।११।।

हिन्दी—गुणों के भेद से ही रीतियों का भेद बताया है—

सभी गुणों से युक्त रीति वैदर्भी है ।

ओज, प्रसाद आदि सभी गुणों से युक्त रीति का नाम वैदर्भी है ।

यहाँ श्लोक कहा गया है—काव्य-दोष की मात्राओं से रहित, सभी गुणों से युक्त तथा वीणा के स्वर के समान श्रवणसुभग रीति वैदर्भी कहलाती है ।

उस वैदर्भी रीति की प्रशंसा कवि लोग इस प्रकार करते हैं—

सुकवि वक्ता, सुवर्ण्य अर्थ और शब्द-शास्त्र (व्याकरण) पर अधिकार रहने पर भी जिसके बिना कविवाणी से मधु नहीं चूता है वही वैदर्भी रीति है ।

यहाँ उदाहरण रूप में अभिज्ञानशाकुन्तलम् २।६ का श्लोक उद्धृत किया गया है- भैंस अपने सींगों से पुनः पुनः ताड़ित पोखरे के पानी में स्वेच्छापूर्वक डुबकी लगावे, मृग-समूह झुण्ड बनाकर छाया में बार-बार जुगाली करें, शूकरराज छोटे-छोटे तालाब में निश्चिन्त होकर नागरमोथा उखाड़े और मेरा यह धनुष भी जिसकी ज्या (डोरी) ढीली कर दी गई है, विश्राम करे ॥ ११ ॥

प्रतिपादितेऽर्थे प्रावादुकपद्यं प्रमाणयति ॥ अत्र श्लोकाविति ॥ दोषमात्राभिः असाधुत्वादिदोषलेशैरपि ॥ अस्पृष्टा ॥ असम्बद्धा। अनुपगतदोषमात्रसम्बन्धेति यावत्। "मात्रा परिच्छब्दे वर्णमाने कर्णादिभूषणे । सैवाल्पपरिणामे च" इति नानार्थरत्नमाला। समग्रैरन्यूनैर्गुणैरोजःप्रसादादिभिर्गुम्फिता सङ्घटिता। विपञ्ची वीणा "वीणा तु वल्लकी । विपञ्ची" इत्यमरः । तस्याः स्वराः श्रोतृमनोरञ्जकाः षड्जादयोऽत्र विवक्षिताः। न तु क्वणनमात्रम् । तस्य मनोरञ्जकत्वाभावात् । तदुक्तं सङ्गीतरत्नाकरे "श्रुत्यनन्तरभावी यः शब्दोऽनुरणनात्मकः । स्वतो रञ्जयति श्रोतृचित्तं स स्वर उच्यते इति । षड्जादिषु रूढश्चायम्। तथा चाञ्जनेये 'स्वरशब्दो मयूरादिसमुत्पन्नेषु सप्तसु । षड्जादिष्वेव रूढोऽयम्" इति । सौभाग्यमिव सौभाग्यं यस्या इति विग्रहः । किञ्च । अस्याश्च वर्णनीयरसचमत्कारकारितया समग्रसौन्दर्यशालितया च कविकुलोपलालनीयतामाकलयति ॥ तामेतामिति ॥ सतीति ॥ सच्छब्दोऽत्र साध्वर्थः । "सत्ये साधौ विद्यमाने प्रशस्तेऽभ्यर्हिते च सत्" इत्यमरः ॥ वक्ता कविः ॥ अर्थोऽपूर्वतयोल्लिखितः ॥ शब्दानुशासनमनुशिष्टशब्दः । आकाङ्क्षायोग्यतादिविशिष्टश्च । वक्तरि शब्दे चाऽर्थे च साधौ सत्यपि येन विना, वाङ्मधु वाचां मधु, न परिस्रवति न स्पन्दते तद् वैदर्भीनामकं वस्त्वस्तीति योजना । इह मधुशब्देन मुख्यार्थासम्भवात् सहृदयहृदयैरास्वाद्यः समग्रसौन्दर्यसमुन्मिषितो रसो लक्ष्यते । उक्ताया रीतेरुदाहरणमुपदर्शयितुमाह ॥ उदाहरणमिति ॥ उच्यते इति शेषः। "वैदर्भीरीतिसंदर्भे कालिदासः प्रगल्भते" इति तदीयं पद्यमुदाहरति ॥ गाहन्तामिति ॥ एषा हि शकुन्तलाविलोकनोत्कलिकावशंवदहृदयस्य मृगयाविहाराद्विरिरंसतो दुष्यन्तस्योक्तिः । महिष्यश्च महिषाश्च महिषाः । "पुमान् स्त्रिया" इत्येकशेषः । एवं मृगकुलमित्यत्राप्येकशेषो वेदितव्यः ॥ निपानानि कूपसमीपकल्पिता जलधाराः । 'आहावस्तु निपानं स्यादुपकूपजलाशये" इत्यमरः । तेषु सलिलम् । तदेव विशिनष्टि ॥ शृङ्गैर्मुहुस्तडितमिति ॥ महिषा हि जलमवगाह्य दशतः शिरसि दंशानपवारयितुं शृङ्गैर्मुहुस्ताडयन्तीति स्वभावोक्तिः । गाहन्तामित्यादिषु सर्वत्राऽऽमन्त्रणे लोट् । छायास्वनातपेषु बद्धानि कदम्बकानि येनेति विग्रहः । "निकुरम्बं कदम्बकम्" इत्यमरः । कदम्बकानां बहुत्वविवक्षायां मृगकुलस्याल्पपदार्थत्वमुपपद्यते । अतो न पौनरुक्त्यमाशङ्क्-

नीयम् । उद्‌गीर्णस्य वाऽवगीर्णस्य वा मन्थो रोन्मथः । चर्वितचर्वणमित्यर्थः । "विस्रब्धं कुरुतां वराहविततिर्मुस्ताक्षतिं पल्वले" इति प्राचीनः पाठ इति संप्रदायविदः । "विस्रब्धैः क्रियतां वराहततिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले" इति पाठान्तरं तु प्रक्रमभङ्गशङ्काकलङ्कम् । अङ्कुरयेत् । अस्मदिति पञ्चमीबहुवचनान्तं पृथक्पदम् । विश्रान्तेर्व्यापाराविरामार्थत्वात् पञ्चमी । षष्ठीसमासो वा । अत्रौजःप्रसादादयो गुणाः परां प्रतिष्ठां लभन्ते । तथाहि । 'छायाबद्धकदम्बकम्" "शिथिलज्याबन्धम्" इत्यत्र बन्धस्य गाढत्वादोजः । 'छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलम्" इत्यत्र बन्धस्य गाढत्वशैथिल्ययोः संप्लवात् प्रसादः । "महिषा निपानसलिलम्" इत्यत्र मसृणत्वाच्छ्लेषः । "गाहन्ताम्" इत्यारभ्य येनैव मार्गेण प्रक्रमस्तेनैव मार्गेणोपसंहार इति मार्गाभेदात् समता । "गाहन्ताम्" इत्यत्रारोहः "महिषाः" इत्यत्रावरोहः । एवमन्यत्राप्यारोहावरोहक्रमस्फुरणात् समाधिः । "शृङ्गैर्मुहुस्ताडितम्" इति पृथक्पदत्वान्माधुर्यम् । "रोमन्थमभ्यस्यतु" इत्यादौ बन्धस्याऽजरठत्वात् सौकुमार्यम् । "शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः" इत्यत्र बन्धस्य विकटत्वादुदारता । पदानामुज्ज्वलत्वात् कान्तिः । अर्थाभिव्यक्तिहेतुत्वादर्थव्यक्तिरिति दिङ्मात्रप्रदर्शनम् । गुणस्वरूपनिरूपणं तु गुणविवेचनेऽधिकरणे करिष्यते ॥ ११ ॥

क्रमप्राप्तां गौडीयामाह—

ओजःकान्तिमती गौडीया ॥ १२ ॥

ओजः कान्तिश्च विद्येते यस्यां सा ओजःकान्तिमती । गौडीया नाम रीतिः । माधुर्यसौकुमार्ययोरभावात् समासबहुला अत्युल्बणपदा च । अत्र श्लोकः—

"**समस्तात्युद्भटपदामोजःकान्तिगुणान्विताम् ।**
गौडीयामिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः ॥

उदाहरणम्—

दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत-
ष्टङ्कारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।
द्राक्पर्यस्तकपालसंपुटमितब्रह्माण्डभाण्डोदर-
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाऽद्यापि विश्राम्यति ॥१२॥

हिन्दी—ओज तथा कान्ति गुणों से युक्त रीति गौडी रीति कहलाती है । ओज

और कान्ति विद्यमान रहे जिसमें उस ओजःकान्तिमती रीति का नाम गौडी है। माधुर्य और सौकुमार्य गुणों के अभाव से तथा समास बहुल होने से यह (गौडी) रीति उग्रपदों से युक्त रहती है।

यहां एक श्लोक भी कहा गया है—

समासयुक्त, अत्यन्त उग्र पदों से युक्त और ओज तथा कान्ति गुणों से समन्वित रीति को रीतिविशेषज्ञ गौडी रीति कहते हैं।

उदाहरण रूप में महावीर चरित १.५४ का श्लोक उद्धृत किया गया है—

रामचन्द्र के हाथ से उठाए गए शिव के धनुष के दण्ड के टूटने से उत्पन्न एवम् आर्य (रामचन्द्र) के बालचरित रूप प्रस्तावना का उद्घोषक टङ्कारध्वनि सहसा काँप उठने वाले कपाल–सम्पुटों (पृथ्वी तथा आकाश रूप सम्पुटों) में सीमित ब्रह्माण्ड रूप भाण्ड के अन्दर निरन्तर घूमने के कारण और अतिभयंकरता को प्राप्त होकर क्यों आज भी शान्त नहीं हो रहा है ॥ १२ ॥

ओजःकान्तिमतीति ॥ प्रत्ययार्थं प्रत्याययति ॥ ओजः कान्तिश्च विद्येते इति ॥ अत्र भूमार्थेन मतुपा ओजःकान्त्योः प्राचुर्यप्रतिपादनानुकूलानामनुल्बणानामन्येषां गुणानामनिराकरणम्।प्रतिकूलयोस्तु माधुर्यसौकुमार्ययोरपवारणम् अत एव दीर्घसमासत्वमत्युद्भटपदत्वं च सूचितम्। तदिदमभिसन्धायाह ॥ माधुर्यसौकुमार्ययोरभावादिति ॥ प्रतिपादितेऽर्थे प्राचामाभाणकं प्रमाणयति। समस्तेति ॥ समस्तानि समासवृत्तिमापन्नानि, अत्युद्भटानि पदानि यस्या इति विग्रहः। लक्षितायाः रीतेर्लक्ष्यमुपक्षिपति ॥ उदाहरणमिति ॥ एषा खलु, धनुर्धरधुरन्धरेण रघुनन्दनेन गाढाकर्षणात् खण्डिते खण्डपरशोः कोदण्डे तद्भङ्गसंघटितनिराघातघोषवर्णनोपोद्घातेन तस्यैव भुजबलभूमानमभिलक्षयतो लक्ष्मणस्योक्तिः। दोर्दण्डेन अञ्चितमाकृष्टम्। औचित्यादञ्चतिरत्र आकर्षणे वर्तते। ननु यद्याकर्षणमञ्चतेरर्थस्तर्हि, अपूजनार्थस्य तस्य "नाञ्चेः पूजायाम्" इति नलोपप्रतिषेधो न सिद्ध्येत्। "अञ्चेः पूजायाम्" इति इडागमश्च न स्यादिति न चोदनीयम्। अत्र कवेः कार्यकारणयोरभेदोपचाराद् दुराधर्षधनुराकर्षणमेव पूजनं विवक्षितमित्यविरोधः। आर्योऽग्रजः। तदुक्तं भामहेन "भगवन्तोऽवरैर्वाच्या विद्वद्देवर्षिलिङ्गिनः। विप्रामात्याग्रजास्त्वार्या नटीसूत्रभृतौ मिथः" इति। तस्य यद् बालचरितं ताडकावधादि धनुर्भङ्गान्तं तदेव प्रस्तावना। तत्र डिण्डिमः। अत्र बालचरितस्य प्रस्तावनात्वनिरूपणेन रावणवधान्तस्य तस्य कुमारचरितस्यापि नाटकत्वमासूत्र्यते। तथाच कुमारचरितनाटकस्य बालचरितं प्रस्तावना प्राथमिकमङ्गलमिति परम्परितरूपकौचित्यमपि परिगृहीतं भवति। प्रस्तावनास्वरूपं दशरूपके प्रदर्शितम्। "सूत्रधारो नटीं ब्रूते मारिषं वा विदूषकम्। स्वकार्यप्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम्।

प्रस्तावना वा यत्र स्याद्" इति। अन्यच्च "वस्तुनः प्रतिपाद्यस्य तीर्थं प्रस्तावनोच्यते" इति। द्राक्पर्यस्ते झटिति चलिते कपाले शकले तयोः संपुटः समुद्गकस्तेन मितं परिमितं परिच्छिन्नं यद् ब्रह्माण्डं तदेव भाण्डम्। तस्योदरे भ्राम्यन् समन्तात् पर्यटन् पिण्डितः संकोचितश्चण्डिमा यस्येति विग्रहः। तथा च पुराणम्। "अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमपासृजत्। तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्। तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः। तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरान्। स्वयमेवात्मनो ध्यानात् तदण्डमकरोद् द्विधा। ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे" इति अद्यापि चिरातीतेऽपि टङ्कारे, ध्वनिः प्रतिश्रुतं, न विश्राम्यति न विरमति। अत्र बन्धस्य गाढोज्ज्वल्ययोरुत्कटत्वाद् उल्बणावोजःकान्तिगुणो। समासभूयस्त्वोल्बणपदत्वे चातिस्फुटे॥

अथ पाञ्चालीं प्रपञ्चयति—

माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली॥ १३॥

माधुर्येण सौकुमार्येण च गुणेनोपपन्ना पाञ्चाली नाम रीतिः। ओजःकान्त्यभावादनुल्बणपदा विच्छाया च। तथा च श्लोकः—

अश्लिष्टश्लथभावां तां पूरणच्छायया श्रिताम्।
मधुरां सुकुमारां च पाञ्चालीं कवयो विदुः॥

यथा—

ग्रामेऽस्मिन् पथिकाय नैव वसतिः पान्थाऽधुना दीयते
रात्रावत्र विहारमण्डपतले पान्थः प्रसुप्तो युवा।
तेनोत्थाय खलेन गर्जति घने स्मृत्वा प्रियां तत् कृतं
येनाऽद्यापि करङ्कदण्डपतनाशङ्की जनस्तिष्ठति॥

एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति॥१३॥

हिन्दी—माधुर्य और सौकुमार्य गुणों से युक्त रीति का नाम पाञ्चाली है।

ओज और कान्ति (गुणों) के अभाव से उसके पद गाढत्वविहीन तथा असमास बहुल होते हैं। ऐसा एक श्लोक भी है—

गाढत्वविहीन एवम् असमासबहुल और मधुर एवं सुकुमार पदों से युक्त रीति को कवि लोग पाञ्चाली रीति कहते हैं। यहाँ उदाहरण दिया गया है जैसे—

हे पथिक, इस ग्राम में पथिक को अब स्थान नहीं दिया जाता है क्योंकि यहाँ एक रात बौद्ध-विहार के मण्डप के नीचे एक युवक सोया हुआ था। मेघ के गरजने पर

उठकर उसने प्रिया का स्मरण कर (प्रिया-विरह के दुस्सह दुःख के कारण) वह किया (मर गया) जिसके कारण यहाँ के लोग पथिद-वध के दण्ड की आशङ्का से त्रस्त हैं।

इन तीन रीतियों के अन्दर काव्य उसी तरह प्रतिष्ठित है जिस तरह रेखाओं के बीच चित्र प्रतिष्ठित होता है ॥ १३ ॥

माधुर्येति ॥ माधुर्यसौकुमार्यप्रतिपक्षयोरोजःकान्त्योरभावाद् बन्धस्य शैथिल्यमनुल्बणपदत्वं चेत्याह ॥ ओज इति ॥ अश्लिष्टेति ॥ श्लोकः स्पष्टार्थः । उदाहरति ॥ ग्राम इति ॥ इयं हि कस्यचिद् ग्रामीणस्य गृहे निद्रातुं भद्रवेदिमधिशय्य पर्जन्यगर्जितैस्तर्जिते निजनिदेशापचारनिष्कृपकुपितकुसुमशरशरव्रातपातक्लिष्टतया निर्विष्टवति कष्टां दशां वैदेशिके । करङ्कः शवः । तद्दण्डपातभीतिसमाकुलायाः कुलवृद्धायाः पुनरन्यमध्वन्यं प्रत्युक्तिः । "पथः ष्कन्", "पन्थो ण नित्यम्" इति नित्यं गच्छतः पान्थत्वम् । अन्यस्य पथिकत्वमिति वृत्तिकारवचनादर्थभेदमाश्रित्य पथिकाय यदि वसतिर्न दीयेत तत् पान्थेन किमपराद्धमिति न चोदनीयम् । पान्थपथिकशब्दयोः पर्यायतयाभिधानदर्शनात् कविभिरविशेषेण प्रयुज्यमानत्वात् । "अध्वनीनोऽध्वगोऽध्वन्यः पान्थः पथिक इत्यपि" इत्यमरः ॥ तदिति ॥ अमङ्गलतयोच्चारयितुमनुचितत्वान्मरणं तच्छब्देन व्यपदिश्यते ।

रीतिस्वरूपं निरूप्य तदुपयोगं सदृष्टान्तमाचष्टे ॥ एतास्विति ॥१३॥

नन्वेतास्तिस्रो वृत्तयः समशीर्षकतया किं कविभिरुपादेयाः ? । नेत्याह—

तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात् ॥ १४ ॥

तासां तिसृणां रीतीनां पूर्वा वैदर्भी ग्राह्या । गुणानां साकल्यात् ॥ १४ ॥

हिन्दी—उन रीतियों में प्रथम अर्थात् वैदर्भी रीति सभी (अर्थात् दशों) गुणों से युक्त होने के कारण ग्राह्य है ।

उन तीनों रीतियों में पहली अर्थात् वैदर्भी सभी गुणों से युक्त होने के कारण ग्राह्य है ॥ १४ ॥

तासामिति ॥ वृत्तिः स्पष्टार्था ॥ १४ ॥

न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात् ॥ १४ ॥

इतरे गौडीयपाञ्चाल्यौ न ग्राह्ये । स्तोकगुणत्वात् ॥ १५ ॥

हिन्दी—किन्तु अन्य दोनों रीतियाँ ग्राह्य नहीं हैं क्योंकि वे कम गुणों से युक्त हैं।

अन्य अर्थात् गौडी और पाञ्चाली ग्राह्य नहीं हैं कम गुणों से युक्त होने के कारण ॥ १५ ॥

प्रयोजकत्वाभावादन्ययोर्न ग्राह्यत्वमित्याह । नेति ॥ १५ ॥

तदारोहणार्थमितराभ्यास इत्येके ॥ १६ ॥

तस्या वैदर्भ्या एवारोहणार्थमितरयोरपि रीत्योरभ्यास इत्येके मन्यन्ते ॥ १६ ॥

हिन्दी—उस वैदर्भी रीति के आरोहण के लिए अन्य (गौडी और पाञ्चाली) रीतियों का अभ्यास आवश्यक है, यह किसी का कहना है ।

उस वैदर्भी रीति की प्राप्ति के लिये अन्य दोनों (गौडी और पाञ्चाली) रीतियों का भी अभ्यास आवश्यक है ऐसा कुछ लोग कहते हैं ॥ १६ ॥

वाहारोहपालस्य मेषारोहानुशीलनवद् वैदर्भीसन्दर्भलाभाय तदितराभ्यास इति केचिदाचक्षते । तत्पक्षं प्रतिक्षेप्तुमुपक्षिपति ॥ तदारोहणार्थमिति ॥१६॥

तेषां मतं दूषयति—

तच्च न, अतत्त्वशीलस्य तत्त्वानिष्पत्तेः ॥ १७ ॥

न ह्यतत्त्वं शीलयतस्तत्त्वं निष्पद्यते ॥ १७ ॥

हिन्दी—किन्तु यह सम्भव नहीं है क्योंकि जो तत्त्व का अभ्यासी नहीं है उसे तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती है ।

अतत्त्व का अभ्यासी तत्त्व प्राप्त नहीं करता है ॥ १७ ॥

तच्च नेति ॥ न ह्येतादृशं कर्म परिशीलयतस्तादृशकर्मकौशलं सिद्ध्यति ॥ १७ ॥

निदर्शनार्थमाह—

न शणसूत्रवानाभ्यासे त्रसरसूत्रवानवैचित्र्यलाभः ॥१८॥

न हि शणसूत्रवानमभ्यस्यन् कविन्दस्त्रसरसूत्रवानवैचित्र्यं लभते ॥ १८ ॥

हिन्दी—उदाहरण के लिए कहा है—

सन की सुतरी बाँटने का अभ्यासी तसर (रेशम) के सूत बुनने में दक्षता प्राप्त नहीं करता है ।

सन की सुतरी बाँटने का अभ्यास करने वाला जुलाहा त्रसर (रेशम) के सूत बिनने में दक्षता प्राप्त नहीं करता है ॥ १८ ॥

यथा लोके वाजिनमारुरुक्षतो राजपुत्रादेस्तदुपयोगिजान्ववष्टम्भजवगतिः मण्डलीक्रियादीसिद्धये मेषारोहाभ्यासो दृश्यते । न तथा कस्यचिदपि कुविन्दस्य सूक्ष्मतन्तुवानकौशलसिद्धये गोणीवानाभ्यासो दृष्टः । तयोर्वैसादृश्येनोपयोगाभावात् । अतो वैदर्भीसन्दर्भलाभाय गौडीयपाञ्चालरीत्योरभ्यास इति मतमनादरणीयम् । शणसूत्रं गोण्याद्युपादानम् । त्रसरसूत्रं श्लक्षणवस्त्राद्युपादानम् ॥ वानमिति वयतेर्ल्युटि रूपम् ॥ १८ ॥

साऽपि समासाभावे शुद्धवैदर्भी ॥ १९ ॥

साऽपि वैदर्भी शुद्धवैदर्भी भण्यते । यदि समासवत् पदं न भवति ॥ १९ ॥

हिन्दी— वह भी वैदर्भी समास के अभाव में शुद्ध वैदर्भी कहलाती है ।

वह वैदर्भी भी शुद्ध वैदर्भी कही जाती है यदि उसमें समासयुक्त पद नहीं होते ॥ १९ ॥

साऽपीति । स्पष्टम् ॥ १९ ॥

तस्यामर्थगुणसम्पदास्वाद्या ॥ २० ॥

तस्यां वैदर्भ्यामर्थगुणसम्पदास्वाद्या भवति ॥ २० ॥

हिन्दी—उस वैदर्भी में अर्थ गुणरूपी सम्पत्ति स्वतः अनुभव योग्य है ।

उस वैदर्भी में अर्थगुणसम्पत्ति आस्वादगम्य होती है ॥ २० ॥

शब्दभाग इवार्थभागेऽपि गुणसम्पत्तिर्वैदर्भ्युपरागादास्वादनीयेत्याह ॥ तस्यामिति ॥ वैदर्भरीत्यवष्टम्भादर्थेऽप्यारोपिता गुणसम्पदास्वादनीयेत्यर्थः ॥ २० ॥

अमुमेवार्थं कैमुतिकन्यायेन समर्थयते—

तदुपारोहादर्थगुणलेशोऽपि ॥ २१ ॥

तदुपधानतः खल्वर्थलेशोऽपि स्वदते । किमङ्ग! पुनरर्थगुणसम्पत् । तथा चाहुः । किन्त्वस्ति काचिदपरैव पदानुपूर्वी यस्यां न किञ्चिदपि किञ्चिदि-

वावभाति। "आनन्दयत्यथ च कर्णपथं प्रयाता चेतः सतामममृतवृष्टिरिव प्रविष्टा।" "वचसि यमधिगम्य स्पन्दते वाचकश्रीर्वितथमवितथत्वं यत्र वस्तु प्रयाति। उदयति हि स तादृक् क्वापि वैदर्भरीतौ, सहृदयहृदयानां रञ्जकः कोऽपि पाकः" ॥ २१ ॥

हिन्दी—उस (गैदर्भी रीति) के सहारे अर्थगुण का लेश मात्र भी आस्वाद योग्य होता है।

उस वैदर्भी रीति के सहारे अर्थ का लेश (सामान्य अर्थ) मात्र भी स्वाद योग्य होता है, फिर अर्थगुण सम्पत्ति का क्या कहना है।
जैसा कि कहा है—

किन्तु वह वैदर्भी रीति एक कोई विलक्षण ही पद रचना है। जिसमें असत् विषय भी असत् की तरह नहीं प्रतीत होता है। सहृदयों के कर्णगोचर होकर वह वैदर्भी इस तरह चित्त को आनन्दित करती है। जैसे कि अमृत की वर्षा होती हो।

काव्यरूप वाक्य में जिस वैदर्भी रीति को प्राप्त कर शब्द-सौन्दर्य स्पन्दित होने लगता है। जिस वैदर्भी में नीरस पदार्थ भी सरस हो जाता है, सहृदय-हृदयों को आनन्दित करने वाला कोई ऐसा शब्द पाक गैदर्भी रीति में उदित हो जाता है जो सहृदय हृदयाह्लादक बन जाता है ॥ २१ ॥

तदुपधानत इति ॥ उपधानमुपरञ्जनम्। "अङ्गेत्यामन्त्रणेऽव्ययम्" इत्यमरः। उक्तार्थेऽभियुक्तोक्तिमभिव्यनक्ति। तथा चाहुरिति ॥ किन्त्वस्तीति ॥ अत्र "जीवत् पदार्थपरिरम्भणमन्तरेण शब्दाऽवधिर्भवति न स्फुरणेन सत्यम्" इति पूर्वार्धं पठन्ति।

ननु पदपदार्थयोर्गुणचमत्कारो वैदर्भीप्रसादलभ्य इति यदुक्तं, तदयुक्तम्। पदार्थपरिरम्भणमन्तरेण वैदर्भीस्फुरणमात्रेण जीवन्त्यावाक्यविश्रान्तेरसम्भवादितिशङ्कामनुभाषते ॥ जीवन्निति ॥ जीवन्=तर्कवाक्यवैलक्ष्येण सहृदयाह्लादकारीत्यर्थः। शब्दावधिर्वाक्यविश्रान्तिः। यदुक्तं शङ्कावादिना तत् सत्यमस्त्येव। किन्तु पदार्थव्यतिरिक्ता तत उत्कृष्टा पदसंघटनापरिपाटी काचिदस्ति। सा च पदपदार्थयोः सञ्जीवत्त्वायावश्यमङ्गीकरणीयेत्याह—किन्त्विति ॥ यस्यां पदानुपूर्व्यां, न किञ्चिदपि = असदपि वस्तु किञ्चिदिव सदिवावभाति। प्रबन्धृप्रौढिप्रकटितपदकल्पनापरिपाटीवशात् कल्प्यं वस्तु प्रत्यक्षायमाणं प्रतिभासत इत्यर्थः। यदाहुः "अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः। यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते" इति ॥ वचसीति ॥ काव्यात्मके वाक्य इत्यर्थः। वाचकश्रीः शब्दसम्पत् ॥ यमधिगम्याधिशय्येत्यर्थः। स्पन्दते रसवर्षिणी

भवति ।। यत्र यस्मिन् वैदर्भीपाके ।। वितथं नीरसं वस्तु ।। अवितथत्वं सरसत्वं प्रयाति । यदुक्तं लोचने । "जगद् ग्रावप्रख्यं निजरसभरात् पूरयति च" इति । अन्यच्च । "भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत् । व्यवहारयति यथेच्छं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया" इति ।। शिष्टं स्पष्टम् ।। २१ ।।

वैदर्भीनिष्ठत्वादर्थगुणसम्पदि वैदर्भीति व्यवहारोऽप्युपचर्यत इत्याह—

साऽपि वैदर्भी तात्स्थ्यात् ।। २२ ।।

साऽपीयमर्थगुणसम्पद् वैदर्भीत्युक्ता । तात्स्थ्यादित्युपचारतो व्यवहारं दर्शयति ।। २२ ।।

इति श्रीपण्डितवरवामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ शारीरे प्रथमेऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः ।

अधिकारिचिन्ता, रीतिनिश्चयश्च ।

हिन्दी—वह अर्थगुण सम्पत्ति भी वैदर्भी में रहने के कारण वैदर्भी नाम से आख्यात है ।

वैदर्भी में सर्वदा रहने के कारण वह अर्थगुण–सम्पत्ति भी वैदर्भी कही गई है । 'तात्स्थ्यात्' यहाँ उपचार (लक्षणा) से ही व्यवहार दिखलाया जाता है ।। २२ ।।

काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में शारीर नामक प्रथम अधिकरण में द्वितीय अध्याय समाप्त ।

साऽपीयमिति ।। तस्मिन् तिष्ठतीति तत्स्थः । तस्य भावस्तात्स्थ्यम् । तस्माद् इत्युपचारे सम्बन्ध उक्तः ।। २२ ।।

इति श्रीगोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालविरचितायां वामनालङ्कारसूत्रवृत्तिव्याख्यायां काव्यालंकारकामधेनौ शारीरे प्रथमेऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ।। १, २ ।।

अथ प्रथमेऽधिकरणे तृतीयोऽध्यायः

वरिवस्यामि मनसा वचसामधिदैवतम् ।
लीलालास्यगृहं यस्य चतुर्मुखचतुर्मुखी ॥ १ ॥

अध्यायान्तरमारभमाणः प्रागध्यायप्रपञ्चितमर्थं सङ्क्षिप्य दर्शयन्नध्यायद्वयमैत्रीमासूत्रयति—

अधिकारिचिन्तां रीतितत्त्वं च निरूप्य काव्याङ्गान्युपदर्शयितुमाह—

लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि ॥ १ ॥

हिन्दी—अधिकारिचिन्ता एवं रीतितत्त्व को निरूपित कर काव्य के अङ्गों को दिखलाने के लिए कहा है—

काव्य के तीन अङ्ग हैं (१) लोक अर्थात् सार्वभौम लोक-व्यवहार (२) विद्या और (३) प्रकीर्ण अर्थात् (अ) काव्य-ज्ञान, (आ) काव्य-सेवा (इ) पद-निर्वाचन की सावधानता, (ई) प्रतिभा, (उ) प्रयत्न, इन पाँचों का समन्वित रूप ॥ १ ॥

अधिकारिचिन्तामिति ॥ अङ्गिनि निरूपितेऽङ्गानां निरूपणमुचितमिति सङ्गतिः । अङ्गान्युद्दिशति ॥ लोक इति ॥ वर्णनीयमन्तरेण किं वर्ण्यत इति लोकः प्रथममुद्दिष्टः । ततश्च संस्कृताः शब्दाः तदनु तदर्थाः । अथ वृत्तम् । अनन्तरमितिवृत्तवैचित्र्यहेतुः शृङ्गाराङ्गं कलाकौशलम् । ततो रसोपयोगिकामव्यवहारः । ततश्चार्थानर्थविवेकहेतुर्दण्डनीतिः । पश्चाल्लक्ष्यज्ञत्वादय इत्युद्देशक्रमः । अत्र "नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम् । अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः" इति । "शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणम् । काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे" इति उक्तनीत्या कवीत्वबीजं प्रथमं परिगणनीयम् । यत्तु पश्चात् परिगणितमिति तच्चिन्त्यम् ॥ १ ॥

उद्देशक्रमेणैतद् व्याचष्टे—

लोकवृत्तं लोकः ॥ २ ॥

लोकः स्थावरजंगमात्मा । तस्य वर्तनं वृत्तमिति ॥ २ ॥

हिन्दी—उद्देश्य के क्रम से इनकी व्याख्या करते हैं—

लोक वृत्त अर्थात् लोक-व्यवहार ही लोक है ।

लोक स्थावर और जङ्गम रूप है । उसका वृत्त अर्थात् व्यवहार ही लोकवृत्त का मुख्यार्थ है ॥ २ ॥

लोकशब्दोऽयमुपचाराल्लोकवर्तने वर्तत इत्याह—लोकवृत्तमिति ॥ २ ॥
अथ विद्या उद्दिशति—

शब्दस्मृत्यभिधानकोशाच्छन्दोविचितिकलाकामशास्त्र-दण्डनीतिपूर्वा विद्याः ॥ ३ ॥

शब्दस्मृत्यादीनां तत्पूर्वकत्वं पूर्वं काव्यबन्धेषु अपेक्षणीयत्वात् ॥ ३ ॥

हिन्दी—शब्दस्मृति (शब्दानुशासन), अभिधानकोश (शब्दकोश), छन्दोविचिति (छन्दःशास्त्र) कलाशास्त्र, (चतुःषष्टिकलाप्रतिपादक शास्त्र), कामशास्त्र (कामसूत्र आदि) तथा दण्डनीति (कौटिल्यरचित अर्थशास्त्र,), ये विद्याएँ हैं।

काव्यरचना के पहले ही शब्दस्मृति शब्दानुशासनों की अपेक्षा होती है क्योंकि उपर्युक्त सभी विद्याओं के ज्ञान के बाद ही काव्यरचना की जाती है ॥ ३ ॥

शब्दस्मृतीति ॥ "शास्त्रतस्ते" इत्यत्र सूत्रे अलङ्कारविद्योपयोगस्य प्रागेव दर्शितत्वान्नात्र विद्यामध्ये परिगणितमित्यवगन्तव्यम्। शास्त्रशब्दः कलाकामशब्दाभ्यामभिसम्बन्धनीयः। तत्सम्बन्धं विनाऽपि अन्यत्र शास्त्रत्वप्रतिपत्तेः। पूर्वा इत्यनेन गणितविद्यादिपरिग्रहः। प्रधानस्योपकारकमङ्गमिति न्यायेन क्रमादङ्गानामङ्गिन्युपयोगं दर्शयिष्यन्ननन्तरसूत्रावताराय पीठिकां प्रतिष्ठापयति ॥ शब्दस्मृत्यादीनामिति ॥ ३ ॥

तासां काव्याङ्गत्वं योजयितुमाह—

शब्दस्मृतेः शब्दशुद्धिः ॥ ४ ॥

शब्दस्मृतेर्व्याकरणात्। शब्दनां शुद्धिः साधुत्वनिश्चयः कर्तव्यः। शुद्धानि हि पदानि निष्कम्पैः कविभिः प्रयुज्यन्ते ॥ ४ ॥

हिन्दी—उन विद्याओं का काव्यांङ्गत्व सिद्ध करने के लिए कहा है—
शब्दस्मृति (शब्दानुशासन) से शब्दों की शुद्धि होती है।

शब्दस्मृति अर्थात् व्याकरण से शब्दों का शुद्धिकरण अर्थात् साधुत्व का निश्चय करना चाहिए। शुद्ध पदों को कविलोग सन्देहरहित होकर प्रयुक्त करते हैं ॥ ४ ॥

व्याकरणं हि मूलं सर्वविद्यानामिति युक्त्या प्रथमोद्दिष्टायाः शब्दविद्याया उपयोगं दर्शयति—शब्दस्मृतेरिति ॥ व्याचष्टे ॥ शब्दस्मृतेर्व्याकरणादिति ॥ साधुत्वनिश्चयः। अस्मिन्नर्थे शब्दः साधुरिति निश्चयः। निष्कम्पैर्निर्भयैरित्यर्थः। अपशब्दप्रयोगे तु कविकाव्ययोरनादरणीयत्वप्रसङ्ग इति द्रष्टव्यम्। तदुक्तम्। "यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषो शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले। सोऽनन्तमा-

प्नोति जयं परत्र वाग्योगवित् दुष्यति चाऽपशब्दैः" इति । दण्डिनाऽप्युक्तम् । "गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः । दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति" इति ॥ ४॥

अभिधानकोशतः पदार्थनिश्चयः ॥ ५ ॥

पदं हि रचनाप्रवेशयोग्यं भावयन् सन्दिग्धार्थत्वेन गृह्णीयान्न वा जह्यादिति काव्यबन्धविघ्नः । तस्मादभिधानकोशतः पदार्थनिश्चयः कर्तव्य इति । अपूर्वाभिधानलाभार्थत्वं त्वयुक्तमभिधानकोशस्य । अप्रयुक्तस्याप्रयोज्यत्वात् । यदि तर्हि प्रयुक्तं प्रयुज्यते किमति सन्दिग्धार्थत्वमाशङ्कितं पदस्य । तन्न । तत्र सामान्येनार्थावगतिः सम्भवति । यथा नीवीशब्देन जघनवस्त्रग्रन्थिरुच्यत इति कस्यचिन्निश्चयः । स्त्रिया वा पुरुषस्य वेति संशयो "नीवी संग्रथने नार्या जघनस्थस्य वाससः" इति नाममालाप्रतीकमपश्यत इति । अथ कथम् 'विचित्रभोजनाभोगवर्धमानोदरास्थिना । केनचित् पूर्वमुक्तोऽपि नीवीबन्धः श्लथीकृतः" इति प्रयोगः । भ्रान्तेरुपचाराद्वा ॥ ५ ॥

हिन्दी—अभिधानकोश (शब्दकोश) से पदों के अर्थ का निश्चय होता है ।

काव्यरचना में प्रयोगयोग्य पद का विचार करते समय पद का अर्थ सन्दिग्ध रहने पर ग्रहण करे अथवा न करे, पद छोड़ दे, अथवा न छोड़े क्षोदक्षेम काव्यरचना का विघ्न है । अतः अभिधानकोश से पदों के अर्थों का निश्चय कर लेना चाहिये ।

अपूर्व अर्थात् अप्रयुक्त पूर्व पद का लाभ अभिधानकोश का फल है, यह कहना उचित नहीं है क्योंकि कवियों के लिए अप्रयुक्त पद प्रयोग योग्य नहीं है । यदि प्रयुक्त पद का ही प्रयोग होता है तो फिर पद की सन्धिग्धार्थता की आशङ्का ही कैसे की जा सकती है ? ऐसा नहीं कह सकते । सामान्य रूप से ऐसे शब्दों के अर्थों की अवगति हो सकती है किन्तु विशेष अर्थ के बोध के लिए तो अभिधानकोश देखना ही चाहिए ।

यथा 'नीवी' शब्द से कटिप्रदेश पर पहने वस्त्र की ग्रन्थि का बोध होता है यह सामान्यतः कवि जानता है । किन्तु 'नीवी संग्रन्थनं नार्या जघनस्थस्य वाससः' नाममाला को न जानने वाले कवि के लिए यह संशय बना रहता है कि 'नीवी' शब्द पुरुष की कटिवस्त्रग्रन्थि के लिए प्रयोज्य है अथवा स्त्री की कटिवस्त्रग्रन्थि के लिए ।

यदि 'नीवी' शब्द स्त्री की कटिवस्त्रग्रन्थि के लिए ही प्रयुक्त हो तो फिर—

विविध भोजन के आभोग से बढ़े हुए पेट वाले किसी व्यक्ति ने पहले से ही ढीले किए गए अपने नीवीबन्ध को फिर से ढीला कर दिया।

'नीवी' शब्द का प्रयोग पुरुष की कटिवस्त्रग्रन्थि के अर्थ में कैसे किया गया है? भ्रम से अथवा उपचार से ॥ ५ ॥

पदं हीति। "आधानोद्धरणे तावद् यावद्दोलायते मन" इत्युक्तनीत्या किमपि पदं काव्यबन्धे प्रयोगयोग्यं पुनः पुनश्चेतसि विनिवेशयन् कविरभिधानकोशपरिशीलनमन्तरेण सन्दिग्धार्थतया प्रयोक्तुं परित्यक्तुं वा नोत्सहते। अतो बन्धविघ्नो जायेत। तस्मादभिधानकोशतः पदस्यार्थं निश्चित्य निर्विचिकित्सं प्रयुञ्जीतेति। नन्वभिधानकोशस्येदमेव प्रयोजनमिति कोऽयं नियमः। अपूर्वपदप्रयोगलाभोऽपि किन्न स्यादिति चोद्यमनूद्यावद्यति॥ अपूर्वेति॥ तत्र हेतुमाह—अप्रयुक्तस्येति॥ कविभिरिति शेषः। "यदप्रयुक्तं कविभिरप्रयुक्तं तदुच्यते" इत्यप्रयुक्तस्य दोषस्य पददोषेषु लक्षितत्वात्। अप्रयोज्यत्वं चार्थाभिव्यक्तेरविलम्बेन समर्पकत्वाभावादिति द्रष्टव्यम्। यदि प्रयुक्तमेव पदं कविना प्रयुज्येत तर्हि कुतः सन्देहः स्यादिति शङ्कते। यदि तर्हीति॥ समाधत्ते॥ सामान्येनेति॥ "एषा हि मे रणगतस्य दृढप्रतिज्ञा द्रक्ष्यन्ति यन्न रिपवो जघनं हयानाम्।" इति प्रयोगदर्शनात्। जघनशब्दः पृष्ठवंशाधरत्रिकमात्रमभिधत्त इत्यभिमन्यमानस्य कस्यचिन्नीवीशब्दो जघनवस्त्रग्रन्थिमेवाभिधत्त इति प्रतिपत्तिर्जायते। तच्च स्त्रिया वा पुरुषस्य वेति संशय उपपद्यत इत्यर्थः। नाममाला अभिधानकोशः। तस्यां प्रतीकमवयवम्। "अङ्गं प्रतीकोऽवयव" इत्यमरः। अपश्यतोऽपरिशीलयत इति यावत्। यद्येवं तर्हि प्रयोगविरोधः किं न स्यादिति शङ्कते॥ अथ कथमिति॥ विचित्रभोजनाभोगेत्यस्मिन् पद्ये पुंसि विषये नीवीशब्दप्रयोगः कथमिति शङ्कितुरभिप्रायः। परिहरति॥ भ्रान्तेरिति भ्रान्तिप्रयुक्तोऽयं प्रयोगः। अथवा नीवीशब्दः पुरुषविषये लक्षणया प्रयुक्तः। पौरुषराहित्यप्रतिपत्तिः प्रयोजनमिति भावः॥ ५॥

वृत्तविद्यायाः प्रयोजनं प्रस्तौति—

छन्दोविचितेर्वृत्तसंशयच्छेदः ॥ ६ ॥

काव्याभ्यासाद् वृत्तसंक्रान्तिर्भवत्येव। किन्तु मात्रावृत्तादिषु क्वचित् संशयः स्यात्। अतो वृत्तसंशयच्छेदश्छन्दोविचितेर्विधेय इति ॥ ६ ॥

हिन्दी—छन्दोविचिति (छन्दःशास्त्र) से वृत्त (छन्द) सम्बन्ध संशय का नाश होता है।

काव्य के अभ्यास से वृत्तों (छन्दों) का ज्ञान होता ही है किन्तु मात्रिक छन्दों

में कहीं-कहीं सन्देह हो जाता है अतः वृत्त (छन्द) सम्बन्धी संदेह का दूरीकरण छन्दःशास्त्र के अनुशीलन से करना चाहिये ॥ ६ ॥

छन्दोविचितेरिति ॥ काव्येति ॥ नानावृत्तात्मकत्वात् काव्यस्य तत्परिशीलनाद् वृत्तस्वरूपप्रतिफलनमस्त्येव । तथापि मात्रावृत्तादिषु मात्राकल्प्येषु वैतालीयादिषु छन्दश्शास्त्रं विना निर्णयो दुष्कर इत्यर्थः । वैतालीयलक्षणं तु वृत्तरत्नाकरे । "षड् विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नोऽनिरन्तराः । न समाऽत्र पराश्रिताः कला वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः" इति ॥ ६ ॥

कलाशास्त्रेभ्यः कलातत्त्वस्य संवित् ॥ ७ ॥

कला गीतनृत्यचित्रादिकास्तासामभिधायकानि शास्त्राणि विशाखिलादिप्रणीतानि कलाशास्त्राणि तेभ्यः कलातत्त्वस्य संवित् संवेदनम् । न हि कलातत्त्वानुपलब्धौ कलावस्तु सम्यग् निबद्धुं शक्यमिति ॥७॥

—हिन्दी—कलाशास्त्रों से विभिन्न कलाओं के तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । गीत, नृत्य तथा चित्रलेखन आदि कलाएँ हैं । उन कलाओं के प्रतिपादक विशाखिल आदि प्रणीत शास्त्र ही कलाशास्त्र हैं । उन कलाशास्त्रों से कलातत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । कलातत्त्वों के ज्ञान के बिना कलावस्तु की सम्यक् रचना सम्भव नहीं है ॥ ७ ॥

कला इति ॥ दिङ्मात्रं तु लोकतो विज्ञायते । तत्त्वज्ञानं तु तच्छास्त्रत एव संपद्यते इत्यर्थः । कला नृत्यगीतादयश्चतुःषष्टिः । उपकलाश्चतुश्शतम् । अत्र कलानामुद्देशः कृतो भामहेन । "नृत्तं गीतं तथा वाद्यमालेख्यं मणिभूमिकाः । दशनाद्यङ्गरागश्च माल्यगुम्फविचित्रता । वेणुवीणादिकालापपाटवं शेखरक्रिया । नेपथ्यं गन्धयुक्तिश्च कर्णपत्रक्रियाभिधा । विशेषभेद्यक्लृप्तिश्च नानाभूषणयोजनम् । इन्द्रजालं कौचिमारं सामुद्रं हस्तलाघवम् । सूचिवानक्रिया सूत्रक्रिया सलिलवाद्यकम् । सूपशास्त्रपरिज्ञानं शारिकाशुकवादनम् । रसवादो वास्तुविद्या तक्षणं मेचिकोत्करः । सजीवनिर्जीवद्युतशास्त्रं संपाद्यपाटवम् । धोरणामातृकायन्त्रं मातृकाकाव्यलक्षणम् । आकर्षकक्रीडितं च निमित्तागमवेदनम् । अम्भ्यम्बुसेनादिस्तम्भो विषप्रतिविषागमः । पाञ्चालीनृत्तकरणं तण्डुलादिबलिक्रिया । प्रहेलिकादुर्वचकप्रतिमायादियोजनम् । मन्त्रवादपरिज्ञानं निशीर्णाक्षरमुष्टिका । सर्वाभिधानकोशोक्तिः परकायप्रवेशनम् । जयव्यायामचित्राप्तिः पत्रिकाचित्रकर्तनम् । रत्नोत्पत्तिस्थानशास्त्रं दर्पणादिलिपिक्रिया । तिरस्करिण्याद्यावाप्तिः पुष्पशाटकिकागमः । हस्त्यश्वलक्षणज्ञानं तिर्यग्हृदयवेदनम् । परेङ्गितपरिज्ञानं जलयानागमज्ञता । परचेतःप्रवेशश्च चतुष्षष्टिरिमाः कलाः । अन्या उपकलाः

प्रोक्तास्तासां संख्याश्चतुश्शतम् । आभिरेव प्रपञ्चोऽयं वर्तते विजयी स्फुटम्"। अत्र ग्रन्थविस्तरभयादुपकलानामुद्देशो न कृतः । कलातत्त्वसंवित्तेरुपयोगं दर्शयति ॥ न हीति ॥ ७ ॥

कामशास्त्रतः कामोपचारस्य ॥ ८ ॥

संविदित्यनुवर्तते । कामोपचारस्य संवित् कामशास्त्र इति। कामोपचारबहुलं हि वस्तु काव्यस्येति ॥ ८ ॥

हिन्दी— कामशास्त्र से कामोचित व्यवहार का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

'संवित्' पद का अनुवर्त्तन पूर्व सूत्र से होता है। कामोचित व्यवहार का ज्ञान कामशास्त्र से प्राप्त करना चाहिये, यही सूत्रार्थ है। काव्यवस्तु कामोचित व्यवहार-बहुल होती हैं ॥ ८ ॥

कामोपचारबहुलमिति ॥ वस्तु काव्यप्रतिपाद्यमितिवृत्तम् । काव्यस्य रसवत्त्वावश्यम्भावाद्रसस्य च शृङ्गारप्रमुखत्वात्। तस्य च कामोपचारप्रचुरत्वात् । काव्यवस्त्वपि कामोपचारबहुलमिति भावः ॥ ८ ॥

दण्डनीतेर्नयापनययोः ॥ ९ ॥

दण्डनीतेरर्थशास्त्रान्नयस्यापनयस्य च संविदिति । तत्र षाड्गुण्यस्य यथावत् प्रयोगो नयः। तद्विपरीतोऽपनयः। न तावविज्ञाय नायकप्रतिनायकयोर्वृत्तं शक्यं काव्ये निबद्धुमिति ॥ ९ ॥

हिन्दी—दण्डनीति से नय तथा अपनय का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

दण्डनीति अर्थात् अर्थशास्त्र से नय तथा अपनय का ज्ञान होता है यह सूत्र का अर्थ है ? यहाँ षड्, गुणों (सन्धि, विग्रह, पान, आसन, संश्रय तथा द्वैधीभाव) का यथोचित प्रयोग ही नय कहलाता है उसका विपरीत ही अपनय है। नय और अपनय इन दोनों के ज्ञान के विना नायक एवं प्रतिनायक के व्यवहार का काव्य में वर्णन करना सम्भव नहीं है ॥ ९ ॥

दण्डनीतेरुपयोगं दर्शयति ॥ दण्डनीतेरिति ॥ षाड्गुण्यस्येति ॥ संधिविग्रहयानासनद्वैधीभावसमाश्रयाः षड् गुणाः। षड्गुणा एव षाड्गुण्यम्। स्वार्थकः ष्यण् ॥ ९ ॥

इतिवृत्तकुटिलत्वं च ततः ॥ १० ॥

इतिहासादिरितिवृत्तम् । काव्यशरीरम् । तस्य कुटिलत्वम् । ततो

दण्डनीतेरावलीयसप्रभृतिप्रयोगव्युत्पत्तौ व्युत्पत्तिमूलत्वात्तस्याः । एव-मन्यासामपि विद्यानां यथास्वमुपयोगी वर्णनीय इति ॥ १० ॥

हिन्दी—नय तथा अपनय रूप दण्डनीति के ज्ञान से इतिवृत्त (कथावस्तु) का कुटिलत्व (विचित्रत्व) सम्पादित होता है ।

इतिवृत्त अर्थात् इतिहासादि कथावस्तु काव्य का शरीर है । उसका कुटिलत्व अर्थात् वैचित्र्य दण्डनीति से ही सम्पादित हो सकता है । बलीयस्त्व और आबलीयस्त्व आदि प्रयोगों की व्युत्पत्ति का मूल कारण दण्डनीति (अर्थशास्त्र) का आवलीयस नामक अधिकरण ही है । इसी तरह काव्यरचनोपयोगी अन्य विद्याओं का यथोचित ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए ॥ १० ॥

कुटिलत्वमिति । यथा तापसवत्सराजादौ । आबलीयसेति । आबलीयां-समधिकृत्य कृतमधिकरणमाबलीयसम् । तत्प्रभृतौ । प्रयोगा मित्रभेदसुहृल्ला-भादयः । तेषां व्युत्पत्तौ । सा दण्डनीतिर्मूलमिति । एवमन्यासामिति । गणितादिविद्यानामित्यर्थः । एवमष्टादशभेदभिन्नानामशेषाणामपि विद्यानां काव्याङ्गत्वमुक्तं भवति । तासामुपयोगश्च यथास्वं लब्धवर्णैर्द्रष्टव्यः । यदाहुः— 'न स शब्दो न तद्वाच्यं न सा विद्या न सा कला । जायते यन्न काव्याङ्गं महाभारो गुरुः कवेः' इति ॥ १० ॥

लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवाऽवेक्षणं प्रतिभानमवधानं च प्रकीर्णम् ॥ ११ ॥

हिन्दी—लक्ष्यज्ञत्व, अभियोग, वृद्ध-सेवा, अवेक्षण, प्रतिभान एवम् अवधान, ये छः प्रकीर्ण कहलाते हैं ॥ ११ ॥

प्रकीर्णं वर्णयति—लक्ष्यज्ञत्वमिति ॥ ११ ॥

तत्र काव्यपरिचयो लक्ष्यज्ञत्वम् ॥ १२ ॥

अन्येषां काव्येषु परिचयो लक्ष्यज्ञत्वम् । ततो हि काव्यबन्धस्य व्युत्पत्तिर्भवति ॥ १२ ॥

हिन्दी—वहाँ लक्ष्यज्ञत्व का अर्थ है, काव्य का पुनः पुनः अवलोकन (परिचय) । अन्य कवियों के काव्यों में काव्य का अभ्यास लक्ष्यज्ञत्व कहलाता है । काव्य के पुनः पुनः अभ्यास से ही काव्यरचना में व्युत्पत्ति आती है ॥ १२ ॥

अन्येषामिति—कवीनामिति शेषः ॥ १२ ॥

काव्यबन्धोद्यमोऽभियोगः ॥ १३ ॥

बन्धनं बन्धः । काव्यस्य बन्धो रचना काव्यबन्धः । तत्रोद्यमोऽभियोगः । स हि कवित्वप्रकर्षमादधाति ॥ १३ ॥

हिन्दी—काव्य रचना के लिए उद्यम करना ही अभियोग कहलाता है ।

बन्धन (रचना) बन्ध कहलाता है । काव्य का बन्ध (रचना) ही काव्यबन्ध कहलाता है । काव्यबन्धार्थ जो उद्योग किया जाता है वही अभियोग है । वह अभियोग कवित्व की उत्कृष्टता का सम्पादन करता है ॥ १३ ॥

बन्धशब्दो भावसाधन इत्याह । बन्धनं बन्ध इति । पूर्वं कथापरीक्षा । तत्राऽधिकावापोद्वापौ फलपर्यन्ततानयनम् । रसं प्रति जागरूकता । रसोचितविभावादिवर्णनायाम् अलङ्कारौचित्यम् इत्याद्युल्लेखपूर्वकं गुम्फनं काव्यबन्धः । तत्रोद्यमोऽभियोगः ॥ १३ ॥

काव्योपदेशगुरुशुश्रूषणं वृद्धसेवा ॥ १४ ॥

काव्योपदेशे गुरव उपदेष्टारः । तेषां शुश्रूषणं वृद्धसेवा । ततः काव्यविद्यायाः संक्रान्तिर्भवति ॥ १४ ॥

काव्यात्मक उपदेश देने वाले गुरुओं की सेवा वृद्धसेवा है ॥ १४ ॥

काव्योपदेश इति । यद्यपि श्रोतुमिच्छा शुश्रूषेति शब्दव्युत्पत्तिः । तथापि 'वरिवस्या तु शुश्रूषा परिचर्याऽप्युपासनम्' इति निरूढत्वेनाभिधानात् सामानाधिकरण्यं घटते ॥ १४ ॥

पदाधानोद्धरणमवेक्षणम् ॥ १५ ॥

पदस्याधानं न्यासः । उद्धरणमपसारणम् । तयोः खल्ववेक्षणम् । अत्र श्लोकौ—

आधानोद्धरणे तावद् यावद्दोलायते मनः ।
पदस्य स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती ॥
यत् पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम् ।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते ॥ १५ ॥

हिन्दी—काव्यशिक्षा में उपदेश देने वाले गुरु काव्योपदेशगुरु कहलाते हैं,

उनकी सेवा ही वृद्धसेवा है। उस (गुरुशुश्रूषा) से काव्यविद्या की संक्रान्ति (निपुणता) होती है।

काव्य-रचना में उपयुक्त पदों के ग्रहण तथा अनुपयुक्त पदों के त्याग के द्वारा रचना की सुन्दरता तथा उपयोगिता का परीक्षण ही अवेक्षण है।

पद का आधान अर्थात् रखना, उद्धरण अर्थात् निकालना, इन दोनों की उपयोगिता की दृष्टि से परीक्षा ही अवेक्षण है ॥ १५ ॥

अवेक्षणमाह—पदाधानेति। अत्र भामहेन भणितं प्रमाणयति—आधानोद्धरणे इति। श्लोकद्वयेन क्रमादन्वयव्यतिरेकाभ्यां पदानां स्थैर्यं सम्पादनीयमित्युक्तम्। इत्थमर्थपाकोऽपि समर्थनीयः ॥ १५ ॥

कवित्वबीजं प्रतिभानम् ॥ १६ ॥

कवित्वस्य बीजं कवित्वबीजम्। जन्मान्तरागतसंस्कारविशेषः कश्चित्। यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते। निष्पन्नं वा हास्याऽऽयतनं स्यात् ॥ १६ ॥

हिन्दी—इस विषय में दो श्लोक हैं—

तब तक पद का रखना तथा हटाना होता ही रहता है जब तक मन में निश्चय नहीं होता है। पद के स्थापित करने में यदि कोई कवि स्थिर है तब तो समझना चाहिए कि उसे सरस्वती सिद्ध है।

जिस स्थिति में कवि द्वारा प्रयुक्त पद परिवर्त्तनसहत्व छोड़ देते हैं उस स्थिति को शब्द-विन्यास में निपुण महाकवि 'शब्दपाक' कहते हैं।

कवित्व का बीज प्रतिभा है।

कवित्व का बीज अर्थात् मूल कारण कवित्वबीज है। यह कोई जन्मान्तरागत-संस्कार-विशेष है जिसके बिना काव्य निष्पन्न नहीं होता, अथवा निष्पन्न होने पर हास्यास्पद होता है ॥ १६ ॥

कवित्वस्येति। बीजमभिनवपदार्थस्फुरणहेतुः। संस्कारो वासनात्मा। यदाह भट्टगोपालः—'कवित्वस्य लोकोत्तरवर्णनानैपुणलक्षणस्य बीजमुपादानस्थानीयः संस्कारविशेषः। कार्यकल्पनीया काचिद्वासनाशक्तिः' इति। काव्यादर्शेऽपि—'न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्' इति। यस्माद्विनेति। पृथग्विनादिसूत्रे विकल्पेन तृतीयाविधानात् पक्षे पञ्चमी। हास्यायतनं परिहासास्पदम्। तादृशं हि काव्यमनर्थाय भवति कवेः। तदुक्तम्—'नाऽकवित्वमधर्माय मृतये दण्डनाय वा। कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः' इति ॥ १६ ॥

चित्तैकाग्र्यमवधानम् ॥ १७ ॥

चित्तस्यैकाग्र्यं बाह्यार्थनिवृत्तिस्तदवधानम्। अवहितं हि चित्त-मर्थान् पश्यति ॥ १७ ॥

हिन्दी—चित्त की एकाग्रता अवधान है। चित्त की एकाग्रता अर्थात् बाह्य पदार्थों से निवृत्ति अवधान कहलाती है। अवहित अर्थात् एकाग्र चित्त ही अर्थों को देखता है ॥ १७ ॥

चित्तस्येति। बहिरिन्द्रियव्यापारविरामान्मनसो बाह्यार्थाऽपरक्तिरवधानम्। अवधानस्य प्रयोजनमभिधत्ते। अवहितमिति। अर्थान् पश्यति। अभिनवपदार्थानप्रतिबन्धमुल्लिखतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

तद्देशकालाभ्याम् ॥ १८ ॥

तदवधानं देशात् कालाच्च समुत्पद्यते ॥ १८ ॥

हिन्दी—वह चित्तैकाग्रता रूप अवधान देश और काल से प्राप्त होता है। वह अवधान देश से और काल से उत्पन्न होता है ॥ १८ ॥

तद्देशकालाभ्यामिति। अर्थाद्विशिष्टाभ्यां समुच्चिताभ्यामित्यवगन्तव्यम् ॥ १८ ॥

कौ पुनर्देशकालावित्याह—

विविक्तो देशः ॥ १९ ॥

विविक्तो निर्जनः ॥ १९ ॥

हिन्दी—फिर देश और काल क्या हैं इस सम्बन्ध में कहा है—विविक्त अर्थात् निर्जन देश देश शब्द का अर्थ है।

विविक्त का अर्थ है जनरहित ॥ १९ ॥

विविक्तो निर्जनप्रदेशः। 'विविक्तौ पूतविजनौ' इत्यमरः ॥ १९ ॥

रात्रियामस्तुरीयः कालः ॥ २० ॥

रात्रेर्यामो रात्रियामः प्रहरस्तुरीयश्चतुर्थः काल इति। तद्वशाद्विषयोपरतं चित्तं प्रसन्नमवधत्ते ॥ २० ॥

हिन्दी—रात्रि का चतुर्थ प्रहर अर्थात् ब्राह्म मुहूर्त्त काल शब्द का अर्थ है।

रात्रि का याम रात्रियाम अर्थात् रात्रि का चतुर्थ प्रहर काल है। उस समय (ब्राह्म मुहूर्त्त) के प्रभाव से चित्त लौकिक विषयों से विरक्त होकर प्रसन्न हो जाता है ॥२०॥

तुरीय इति। प्रथमादिषु त्रिषु प्रहरेष्वाहारविहारनिद्रासु सामुख्यं मनसः। पश्चिमे तु प्रहरे प्रसादः सम्भवनीति तुरीय इत्युक्तम्। यद्वा, यद्यपि प्रथमादीनामपि चतुःसंख्यापूरकत्वं तथाऽप्युपादानसामार्थ्यादिह पश्चिमो यामस्तुरीय इति गम्यते। तथाच कालिदासः 'पश्चिमाद् यामिनीयामात् प्रसादमिव चेतना' इति। माघोऽपि 'गहनमपररात्रप्राप्तबुद्धिप्रसादाः कवय इव महीपाश्चिन्तयन्त्यर्थजातम्' इति ॥ २० ॥

एवं काव्याङ्गान्युपदिश्य काव्यविशेषकथनार्थमाह--

काव्यं गद्यं पद्यं च ॥ २१ ॥

गद्यस्य पूर्वनिर्देशो दुर्लक्ष्यविशेषत्वेन दुर्बन्धत्वात्। तथाहुः—'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' ॥ २१ ॥

हिन्दी—इस तरह काव्य के अङ्गों का उपदर्शन कराकर काव्य विशेष (भेदों) के ज्ञान के लिए कहा है—गद्य और पद्य दो प्रकार का काव्य होता है।

दोनों भेदों में गद्य का पूर्वोल्लेख दुर्ज्ञेय तथा दुर्बन्ध होने के कारण किया गया है। जैसे की लोगों ने कहा हैं—लोग गद्य को कवियों की कसौटी कहते हैं ॥ २१ ॥

वृत्तवर्तिष्यमाणयोः सङ्गतिमुल्लिङ्गयन् काव्यभेदात् कथयितुमाह—एवमिति। गद्यमिति। 'गद व्यक्तायां वाचि' इति धातोः 'गदमदचरयमश्चानुपसर्गे' इति कर्मणि यत्प्रत्यये सति गद्यमिति रूपम्। यद्वा 'स्तनगदी देवशब्दे' इति चौरादिकणिजन्ताद् 'अचो यत्' इति भवार्थेयत्प्रत्यये सति गद्यमिति रूपम्। पादेषु भवं पद्यम्। शरीरमिति विवक्षायां 'शरीरावयवाच्च' इति भवार्थे यत्प्रत्यये भसंज्ञायां पदादेशे च सति पद्यमिति रूपम्। अनेन पद्यसामान्यलक्षणं सूचितं भवति। तदुक्तं काव्यादर्शे—'पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा' इति। गद्यस्य पूर्वनिर्देशे हेतुमाह—गद्यस्येति। दुर्लक्ष्याः कृच्छ्रेण लक्ष्या विशेषा गुरुलघुनियमादयो यस्य तस्य भावः। तेन हेतुना दुर्बन्ध कृच्छ्रेण बद्धुमशक्यम्। तस्य भावस्तस्मात् पूर्वनिर्देशः कृत इति शेषः। अत्राभाणकमपि दर्शयति—तथाहुरिति। निकषो हेमादिकषणोपलः। 'निकषस्तु घृषिर्घृष्यो हेमादिनिकषोपलः' इति वैजयन्ती। कनकानामिव कवीनां प्रकर्षापकर्षपरीक्षास्थानमिति यावत् ॥ २१ ॥

गद्यभेदान् गणयितुमाह—

तच्च त्रिधा भिन्नमिति दर्शयितुमाव—

गद्यं वृत्तगन्धि चूर्णमुत्कलिकाप्रायं च ॥ २२ ॥

हिन्दी—वह गद्य भी तीन भेदों में विभक्त है यह दिखलाने के लिए कहा है—

गद्य वृत्तगन्धि, चूर्ण और उत्कलिकाप्राय तीन प्रकार का होता है ॥ २२ ॥

तच्चेति । वृत्तगन्धि क्वचिद्भागे वृत्तच्छायानुकारि । चूर्णपदेनोपचाराद् व्यस्तपदसमाहारो लक्ष्यते । तेन व्यस्तपदबहुलं चूर्णम् । उत्कलिकाप्रायमिति—उत्कलिकोत्कण्ठा । 'उत्कण्ठोत्कलिके समे' इत्यमरः । उत्कलिकायाः प्रयोगबाहुल्यं यस्मिस्तद् उत्कलिकाप्रायं गद्यम् । यस्मिन् श्रूयमाणे श्रोतृणामुत्कण्ठा बहुला भवतीत्यर्थः । कलिकाशब्दोऽत्र लक्षणया रुहरुहिकायां वर्तते । उल्लसन्तीं कलिकां रुहरुहिकां प्रैति प्राप्नोतीत्युत्कलिकाप्रायम् । यत्र पदसन्दर्भपरिपाटी काण्डोपकाण्डसंरोहशालिनी कलिकेवोल्लसति तदुत्कलिकाप्रायमित्यर्थः ॥२२॥

तल्लक्षणान्याह—

पद्यभागवद् वृत्तगन्धि ॥ २३ ॥

पद्यस्य भागाः पद्यभागाः । तद्वद् वृत्तगन्धि । यथा 'पातालतालुतलवासिषु दानवेषु' इति । अत्र हि वसन्ततिलकाख्यवृत्तस्य भागः प्रत्यभिज्ञायते ॥ २३ ॥

हिन्दी—उनके लक्षण कहे हैं—पद्यभागों से युक्त गद्य वृत्तगन्धि कहलाता है।

पद्य के भाग पद्यभाग हैं। उन पद्यभागों से युक्त अथवा तत्समान गद्य वृत्तगन्धि कहलाता है। (ऐसे गद्य में वृत्त अर्थात् छन्द की गन्ध रहती है।) यथा—'पाताल के तालु के तले में निवास करने वाले राक्षसों में'। यहाँ वसन्ततिलका छन्द का एक भाग, पढ़ते ही, मालूम पड़ने लगता है ॥ २३ ॥

विशेषलक्षणानि विवरीतुमाह—तल्लक्षणानीति । वसन्ततिलकेति । 'उक्तं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः' इति ॥ २३ ॥

अनाविद्धललितपदं चूर्णम् ॥ २४ ॥

अनाविद्धान्यदीर्घसमासानि ललितान्यनुद्धतानि पदानि यस्मिंस्तदनाविद्धललितपदं चूर्णमिति । यथा 'अभ्यासो हि कर्मणां कौशल-

मात्रहति। न हि सकृन्निपातमात्रेणोदविन्दुरपि ग्रावणि निम्नतामादधाति' ॥ २४ ॥

हिन्दी—दीर्घसमासरहित तथा कोमल पदयुक्त गद्य 'चूर्ण' है।

अनाविद्ध अर्थात् दीर्घसमासहीन तथा ललित अर्थात् अनुत्कट पद हैं जिस गद्य में वह अनाविद्ध ललित पदयुक्त गद्य चूर्ण कहलाता है। यथा—कर्मों का अभ्यास कौशल प्राप्त करता है। केवल एक बार गिरने से जलबिन्दु पत्थर में गड्ढा नहीं बनाता ॥ २४ ॥

अनाविद्धेति। वृत्तिः स्पष्टार्था। उदाहरति। अभ्यास इति। न हि सकृदिति। न हीति निपातसमुदायः प्रतिषेधवाचकः सकृदित्यनेन सम्बद्ध्यते। तथा चासकृदित्यर्थः सम्पद्यते। मात्रशब्देन सहकारिमात्रादिर्व्यावर्त्यते। तेनोदबिन्दुरप्यसकृन्निपातमात्रेण ग्रावणि पाषाणे निम्नतामादधातीत्यन्वयमुखेन पूर्ववाक्यार्थः समर्थितो भवति ॥ २४ ॥

विपरीतमुत्कलिकाप्रायम् ॥ २५ ॥

विपरीतमाविद्धोद्धतपदमुत्कलिकाप्रायम्। यथा—'कुलिशशिखरखरनखरप्रचण्डचपेटापाटितमत्तमातङ्गकुम्भस्थलगलन्मदच्छटाच्छरित-चारुकेसरभारभासुरमुखे केसरिणि' ॥ २५ ॥

हिन्दी—पूर्वोक्त 'चुर्ण' से विपरीत गद्य उत्कलिका प्राय है। 'चूर्ण' गद्य से विपरीत यह 'उत्कलिकाप्राय' दीर्घसमासयुक्त तथा उत्कट पदों से युक्त होता है। यथा—वज्र के अग्रभाग के समान तीक्ष्ण नख समुदाय के कारण भयङ्कर चपेट से फटे हुए मत्त हाथी के कुम्भस्थल से चूती हुई मदधारा से ओतप्रोत केसर से सुशोभित मुखवाले सिंह पर ॥ २५ ॥

विपरीतमिति। सुगमम्। चपेटा करतलाघातः। 'चपेटः प्रतले प्राणौ तदाधाते स्त्रियाम्' इत्यमरशेषः ॥ २५ ॥

पद्यं विभजते—

पद्यमनेकभेदम् ॥ २६ ॥

पद्यं खल्वनेकेन समार्धसमविषमादिना भेदेन भिन्नं भवति ॥२६॥

हिन्दी—पद्य के अनेक भेद हैं। सम, अर्धसम तथा विषम आदि भेद से पद्य के अनेक प्रकार हैं ॥ २६ ॥

समेति । समवृत्तधर्मसमवृत्तं विषमवृत्तम् । आदिशब्देनार्यावैतालीयादि मात्रावृत्तानां परिग्रहः । समवृत्तादिलक्षणमुक्तं भामहेन—'सममर्धसमं वृत्तं विषमं च त्रिधा मतम् । अङ्घ्रयो यस्य चत्वारस्तुल्यलक्षणलक्षिताः ॥ तच्छन्दः-शास्त्रतत्त्वज्ञाः समवृत्तं प्रचक्षते । प्रथमाङ्घ्रिसमो यस्य तृतीयश्चरणो भवेत् ॥ द्वितीयस्तुर्यवद् वृत्तं तदर्धसममुच्यते । यस्य पादचतुष्केऽपि लक्ष्म भिन्नं पर-स्परम् । तदाहुर्विषमं वृत्तं छन्दश्शास्त्रविशारदाः' ॥ २६ ॥

गद्यपद्ययोरप्यवान्तरभेदावाह—

तदनिबद्धं निबद्धं च ॥ २७ ॥

तदिदं गद्यपद्यरूपं काव्यमनिबद्धं निबद्धं च । अनयोः प्रसिद्ध-त्वाल्लक्षणं नोक्तम् ॥ २७ ॥

हिन्दी—वह पद्य अनिबद्ध और निबद्ध दो प्रकार का होता है ।

वह गद्यरूप तथा पद्यरूप काव्य दो प्रकार का है—अनिबद्ध (असम्बद्ध मुक्तक) और निबद्ध (प्रबन्धकाव्य, महाकाव्य आदि) इन दोनों (असम्बद्ध मुक्तक प्रबन्ध-काव्य) के प्रसिद्ध होने के कारण यहाँ लक्षण नहीं कहा गया है ॥ २७ ॥

तदिति । गद्यपद्यात्मकं काव्यं प्रकृतं तच्छब्देन परामृश्यत इति व्याचष्टे तदिदं गद्यपद्यरूपमिति । व्याख्याने जाड्यमव्याख्याने मौढ्यमित्यत आह—अनयोः प्रसिद्धत्वादिति । अनिबद्धं मुक्तकं निबद्धं प्रबन्धरूपमिति प्रसिद्धिः । मुक्तकलक्षणमुक्तं भामहेन—'प्रथमं मुक्तकादीनामृजुलक्षणमुच्यते । यदेव गाम्भीर्यौदार्यनीतिमतिस्पृशा। । भवेन्मुक्तकमेकेन द्विकं द्वाभ्यां त्रिकं त्रिभिः' इति । निबद्धानि सर्गबन्धादीनि । तल्लक्षणं काव्यादर्शे—'सर्गबन्धो महाकाव्य-मुच्यते तस्य लक्षणम्' इत्यादिना द्रष्टव्यम् ॥ २७ ॥

अनयोरभ्यासक्रममाह—

क्रमसिद्धिस्तयोः स्रगुत्तंसवत् ॥ २८ ॥

तयोरित्यनिबद्धं निबद्धं च परामृश्यते । क्रमेण सिद्धिः क्रम-सिद्धिः अनिबद्धसिद्धौ निबद्धसिद्धिः स्रगुत्तंसवत् । यथा स्रजि मालायां सिद्धायामुत्तंसः शेखरः सिद्ध्यतीति ॥ २८ ॥

हिन्दी—माला तथा शेखर की तरह उन दोनों की सिद्धि क्रम से होती है ।

सूत्रगत 'तयोः' पद से 'अनिबद्ध' और 'निबद्ध' का बोध होता है । क्रम से जो सिद्धि होती है उसे क्रमसिद्धि कहते हैं । अनिबद्ध (मुक्तक काव्य) की सिद्धि होने पर निबद्ध

(प्रबन्ध काव्य) की सिद्धि होती है। जैसे माला बन जाने पर ही शेखर बनाया जाता है ॥ २८ ॥

क्रमसिद्धिरिति। अनिबद्धमभ्यस्य निबद्धरचनायां यतितव्यमित्यर्थः। अत्र दृष्टान्तः। स्रगुत्तंसवदिति।

अनिबद्धसिद्धिमात्रेण कविम्मन्यमानानपवदितुमाह—

केचिदनिबद्ध एव पर्यवसितास्तद्दूषणार्थमाह—

नानिबद्धं चकास्त्येकतेजःपरमाणुवत् ॥ २९ ॥

न खल्वनिबद्धं काव्यं चकास्ति दीप्यते। यथैकतेजःपरमाणुरिति।

अत्र श्लोकः—

असङ्कलितरूपाणां काव्यानां नास्ति चारुता।
न प्रत्येकं प्रकाशन्ते तैजसाः परमाणवः ॥ २९ ॥

हिन्दी—कतिपय काव्य मुक्तकों में ही पूरे हो जाते हैं, उनका दोष दिखलाने के लिए कहा है—

अनिबद्ध काव्य कदापि प्रकाशित नहीं होता है, यथा अग्नि का एक परमाणु नहीं चमकता है। यहाँ एक श्लोक कहा गया है—

अनिबद्ध (मुक्तक) काव्यों में चारुता नहीं आती है अग्नि के प्रत्येक देदीप्यमान परमाणु नहीं चमकते ॥ २६ ॥

केचिदिति। प्रावादुकसम्मतिं दर्शयति—अत्र श्लोक इति। असङ्कलितरूपाणामनिबद्धरूपाणामित्यर्थः ॥ २२ ॥

निबद्धेषु तरतमभावं निरूपयति।

सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः ॥ ३० ॥

सन्दर्भेषु प्रबन्धेषु दशरूपकं नाटकादि श्रेयः ॥ ३० ॥

हिन्दी—सन्दर्भ काव्यों में दश प्रकार का रूपक श्रेय माना जाता है।

सन्दर्भ (प्रबन्ध-काव्यों) में नाटक आदि दश प्रकार का रूपक श्रेष्ठ है ॥३०॥

सन्दर्भेष्विति। रूपकस्वरूपं निरूपितं दशरूपके—'अवस्थाऽनुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते। रूपकं तत्समारोपाद्दशधैव रसाऽऽश्रयम्' इति। भावप्रकाशनेऽपि 'रूपकं तद्भवेद्रूपं दृश्यत्वात् प्रेक्षकैरिदम्। रूपकत्वं पदारोपात् कमलारोपवन्मुखे' इति। दशरूपकाणि—'नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं

डिमः । व्यायोगसमवाकारौ वीथ्यङ्केहामृगा दश' इति दशानां रूपकाणां समाहारो दशरूपकम् । पात्रादित्वात् स्त्रीत्वप्रतिषेधे नपुंसकत्वम् । श्रेयः = अतिशयेन प्रशस्यमित्यर्थः ॥ ३० ॥

श्रेयस्त्वे हेतुं पृच्छति—

कस्मात् तदाह—

तद्धि चित्रं चित्रपटवद्विशेषसाकल्यात् ॥ ३१ ॥

तद्दशरूपकं हि यस्माच्चित्रं चित्रपटवत् । विशेषाणां साकल्यात् ॥ ३१ ॥

हिन्दी—वह कैसे ? यह दिखलाने के लिए कहा है—

वह (दस प्रकार का रूपक) चित्रपट के समान विशेषताओं से युक्त होने के कारण चित्ररूप है ।

वह दश प्रकार के रूपक चित्रपट के समान चित्ररूप है, सभी गुणों से युक्त होने के कारण ॥ ३१ ॥

कस्मादिति । हेतुमुपन्यस्यति—तदिति ॥ ३१ ॥

विशेषाणां भाषाभेदादिरूपाणां कथाख्यायिकादीनां महाकाव्यभेदानामस्मादेव वस्तुविन्यासकल्पनमिति प्रकारान्तरेणाऽपि श्रेयस्त्वमस्य प्रतिपादयितुमाह—

ततोऽन्यभेदक्लृप्तिः ॥ ३२ ॥

ततो दशरूपकादन्येषां भेदानां क्लृप्तिः कल्पनमिति । दशरूपकस्यैव हीदं सर्वं विलसितम् । यच्च कथाख्यायिके महाकाव्यमिति, तल्लक्षणं च नातीव हृदयङ्गममित्युपेक्षितमस्माभिः । तदन्यतो ग्राह्यम् ॥ ३२ ॥

**इति श्रीकाव्याऽलङ्कारसूत्रवृत्तौ शारीरे प्रथमेऽधिकरणे-
तृतीयोऽध्यायः ॥ १ ॥ ३ ॥**

काव्याङ्गानि काव्यविशेषाश्च ।

समाप्तं चेदं शारीरं प्रथममधिकरणम् ।

हिन्दी—उससे काव्य के अन्य भेदों की भी कल्पना की जाती है।

उस दशरूपक से काव्य के अन्य भेदों की भी कल्पना की जाती है। कथा, आख्यायिका तथा महाकाव्य आदि जो काव्य के भेद हैं वे सभी दशरूपक के ही प्रपञ्च हैं। उनका लक्षण बहुत हृदयाह्लादक नहीं है, अतः हमने उसकी उपेक्षा की उनके लक्षण का ज्ञान अन्य ग्रन्थों से ग्राह्य है ॥ ३२ ॥

काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति में शारीर नामक प्रथम अधिकरण में
तृतीय अध्याय समाप्त।

तत इति। इदं सर्वमिति। कथाख्यायिकादिमहाकाव्यस्वरूपं विलसित-मित्यस्य व्याख्यानं खण्डशः कृतमिति। कथा चाख्यायिका च महाकाव्यमिति व्यपदिश्यते—तदिदं सर्वमिति व्याक्रम्य योजनीयम्। यदि कथाख्यायिके महाकाव्ये तर्हि तल्लक्षणं किमिति न प्रदर्शितमिति तत्राह—तल्लक्षणमिति। यदि केनचित्तल्लक्षणमपेक्षितं तद् भामहालङ्कारादौ द्रष्टव्यमित्यत आह ॥ तदन्यत इति। नाटकादिलक्षणं तु ग्रन्थविस्तरभयादस्माभिर्न लिखितम् ॥३२॥

इति कृतरचनायामिन्दुवंशोद्वहेन त्रिपुरहरधरित्रीमण्डलाखण्डलेन।
ललितवचसि काव्यालंक्रियाकामधेनावधिकरणमयासीदादिमं पूर्तिमेतत् ॥१॥

इति श्रीगोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालविरचितायां वामनालङ्कारसूत्रवृत्ति-
व्याख्यायां काव्यालङ्कारकामधेनौ शारीरे प्रथमेऽधिकरणे
तृतीयोऽध्यायः ॥ १ ॥ ३ ॥

द्वितीयाधिकरणे प्रथमोऽध्यायः

निष्कलङ्कनिशाकान्तगर्वसर्वङ्कषप्रभाम् ।
कविकामगवीं वन्दे कमलासनकामिनीम् ॥ १ ॥

दोषदर्शनं द्वितीयमधिकरणमारभ्यते । अधिकरणद्वयसम्बन्धमेव बोधयति—

काव्यशरीरे स्थापिते काव्यसौन्दर्याक्षेपहेतवस्त्यागाय दोषा विज्ञातव्या इति दोषदर्शनं नामाधिकरणमारभ्यते । दोषस्वरूपकथनार्थमाह—

गुणविपर्ययात्मानो दोषाः ॥ १ ॥

गुणानां वक्ष्यमाणानां ये विपर्ययास्तदात्मानो दोषाः ॥ १ ॥

हिन्दी—काव्य-शरीर की स्थापना हो जाने के बाद काव्य-सौन्दर्य के विनाशक कारणों के त्याग के लिए दोषों का ज्ञान आवश्यक है। अतः दोष-दर्शन नामक अधिकरण का आरम्भ किया जाता है। दोष स्वरूप के प्रतिपादन के लिए कहा है—

गुणों के विपरीत स्वरूपवाले दोष हैं।

आगे कहे जाने वाले गुणों के विपरीत स्वरूप वाले दोष हैं।

यहाँ गुण-विपर्यय का गुणाभाव नहीं है, अपितु आत्मशब्द के संयोग से गुण विरोधी स्वरूपवान् दोष की भावरूपता अभिप्रेत हैं ॥ १ ॥

काव्यशरीर इति । सौन्दर्यस्य गुणालङ्कारघटितचारुत्वस्याऽऽक्षेपः स्वस्थानात् प्रच्यावनं तस्य हेतवस्तथाविधा दोषाः कविना ज्ञातव्या इत्यनेन दोषज्ञानस्यावश्यकर्तव्यतोक्ता । तेषामज्ञाने परित्यागात्मनः फलस्य दुर्लभत्वादिति भावः दृश्यन्तेऽस्मिन् दोषा इति दोषदर्शनम् । अधिकरणार्थे ल्युट् । दोषसामान्यलक्षणं वक्तुं सूत्रमवतारयति—दोषस्वरूपेति । गुणानामिति । विपरीयन्त इति विपर्यया विपरीताः । कर्मार्थेऽच् प्रत्ययः । त एवात्मानो येषां ते विपर्ययात्मानो विपरीतस्वरूपाः, न त्वभावरूपा इत्यर्थः । अनेन गुणविपरीतस्वरूपत्वं दोषसामान्यलक्षणमुक्तं भवति ॥ १ ॥

अर्थतस्तदवगमः ॥ २ ॥

गुणस्वरूपनिरूपणात्तेषां दोषाणामर्थादवगमोऽर्थसिद्धिः ॥ २ ॥

हिन्दी—अर्थापत्ति दोषों का ज्ञान हो सकता है। गुण-स्वरूप के प्रतिपादन से उन दोषों का ज्ञान स्वतः हो जाएगा। इस तरह दोष-ज्ञान रूप अर्थ की सिद्धि हो जाएगी ॥ २ ॥

ननु गुणेष्ववगतेषु तद्विपर्ययस्वरूपा दोषा विनापि लक्षणोदाहरणाभ्यां सामर्थ्यात् प्रेक्षावद्भिरुत्प्रेक्षितुं शक्यन्ते। किं लक्षणादिप्रपञ्चनेनेत्याशङ्क्य सूत्रमनुभाषते—अर्थत इति ॥ २ ॥

आशङ्कामिमामपाकर्तुमनन्तरसूत्रं व्याचष्टे—

किमर्थं ते पृथक् प्रपञ्च्यन्त इत्याह—

सौकर्याय प्रपञ्चः ॥ ३ ॥

सौकर्यार्थं प्रपञ्चो विस्तरो दोषाणाम्। उद्दिष्टा लक्षिता हि दोषाः सुज्ञाना भवन्ति ॥ ३ ॥

हिन्दी—दोषों का पृथक् विवेचन क्यों किया जा रहा है? इसके उत्तर में कहा है—सुविधा के लिए दोषों का यह विवेचन-विस्तार किया गया है।

सुगमता के लिए दोषों का विस्तृत विवेचन किया गया है। नाम–निर्देश तथा लक्षणों के ज्ञान से दोष सुबोध होते हैं ॥ ३ ॥

सौकर्यायेति। दोषस्वरूपे हि प्रेक्षावतामुत्प्रेक्षितुं शक्येऽपि व्युत्पित्सून-धिकृत्य प्रवृत्तत्वाच्छास्त्रस्य। तैस्तु पदपदार्थवाक्यवाक्यार्थदोषाणां स्थूलसूक्ष्मा-णामुद्देशलक्षणपरीक्षाभिर्विना दुरवगमत्वात् तेषां दोषविवेकस्य सौकर्याय प्रपञ्च इत्यर्थः उद्दिष्टा इति। उद्दिष्टा नामतः परिगणिताः। लक्षिताः परस्पर-व्यावृत्त्या दर्शिताः। दोषाः। सुज्ञानाः। सुखेन ज्ञातव्या भवन्ति। 'आतो युच्' इति खलर्थे युच् प्रत्ययः। अस्मिन्नधिकरणे लक्षणीयः दोषाः काव्यस्या-ऽसाधुत्वापादकाः स्थूला इत्यवगन्तव्यम्। यद् वक्ष्यति 'ये त्वन्ये शब्दार्थदोषाः सूक्ष्मास्ते गुणविवेचने वक्ष्यन्त' इति ॥ ३ ॥

पददोषान् दर्शयितुमाह—

दुष्टं पदमसाधु कष्टं ग्राम्यमप्रतीतमनर्थकं च ॥ ४ ॥

हिन्दी—पद-दोषों को दिखलाने के लिए कहा है—

असाधु अर्थात् अशुद्ध पद, कष्ट अर्थात् कर्णकटु पद, ग्राम्य अर्थात् अशास्त्र-प्रयुक्त पद, अप्रतीत अर्थात् अलोकप्रयुक्त पद और अनर्थक पद दुष्ट पद हैं ॥ ४ ॥

शब्दार्थशरीरं हि काव्यम् । अत्र शब्दः पदवाक्यात्मकः । अर्थश्च पदार्थ-वाक्यार्थरूपः । तत्र पदपदार्थप्रतिपत्तिपूर्विका वाक्यवाक्यार्थप्रतिपत्तिरिति क्रममभिसन्धाय प्रथमं पददोषान् प्रतिपादयितुमाह—पददोषानिति । दुष्टं पदमिति प्रत्येकं सम्बन्धनीयम् ॥ ४ ॥

यथोद्देशं लक्षणं वक्तुमाह—

क्रमेण व्याख्यातुमाह—

शब्दस्मृतिविरुद्धमसाधु ॥ ५ ॥

शब्दस्मृत्या व्याकरणेन विरुद्धपदमसाधु । यथा "अन्यकारकवैयर्थ्यम्" इति । अत्र हि 'अषष्ठ्यतृतीयास्थस्याऽन्यस्य दुगाशीराशास्थास्थितोत्सुकोतिकारकरागच्छेषु' ति दुका भवितव्यमिति ॥ ५ ॥

हिन्दी—क्रम से व्याख्या करने के लिए कहा है—

शब्दस्मृति अर्थात् व्याकरणशास्त्र से असम्मत प्रयोग असाधु होता है । यथा—'अन्य कारकवैयर्थ्यम्'। इस प्रयोग में 'अषष्ठ्यतृतीयास्थस्यान्यस्य दुक् आशीराशास्थोस्थितोत्सुकोतिकारकरागच्छेषु' इस सूत्र से दुक् का आगमन होना चाहिए और इस तरह 'अन्यत्कारकवैयर्थ्यम्' ऐसा प्रयोग होना चाहिये ॥ ५ ॥

क्रमेणेति । शब्दस्मृतीति। शब्दशास्त्रमर्यादामुल्लङ्घ्य प्रयुक्तं शब्दस्मृतिविरुद्धम् । तदुदाहरति—अन्यकारकेति । 'अषष्ठ्यतृतीयास्थस्यान्यस्य दुगाशीराशीस्थास्थितोत्सुकोतिकारकरागच्छेष्वि' ति आशीरादिषु परतोऽन्यपदस्य दुगागमेन भवितव्यम् । स तु न कृतः । दुगागमो विशेषेण वक्तव्यः । कारकस्थयोः षष्ठीतृतीययोर्नेष्टः, आशीरादिषु सप्तस्विति कारकपदे परतो दुगागमो नियत इत्यन्यकारकपदमसाधु ॥ ५ ॥

श्रुतिविरसं कष्टम् ॥ ६ ॥

श्रुतिविरसं श्रोत्रकटु पदं कष्टम् । तद्धि रचनागुम्फितमप्युद्वेजयति। यथा—'अचूचुरच्चण्डिकपोलयोस्ते कान्तिद्रवं द्राग्विशदः शशाङ्कः' ॥६॥

हिन्दी—सुनने में रसहीन अर्थात् श्रुतिकटु पद 'कष्टपद' है । सुनने में रुचिरहित अर्थात् कर्णकटु पद कष्टपद है । वह दुःश्रव पद रचनाबद्ध होकर भी अरुचिकारक होता है । यथा—

हे चण्डि, शीघ्र देदीप्यमान होने वाला चन्द्रमा ने तेरे गालों के सौन्दर्य को चुरा लिया है । (यहाँ 'द्राक्' पद कर्णकटुता उत्पन्न करता है) ॥ ६ ॥

श्रुतिविरसं कष्टमिति। कर्णोद्वेगकरमित्यर्थः। यदुक्तं भामहेन। 'सन्निवेशविशेषात् तु तदुक्तमभिशोभत' इति। तन्निराचष्टे—तद्धीति। विशिष्टसन्दर्भगर्भगतमपि सहृदयहृदयोद्वेगमाविर्भावयतीत्यर्थः। अचूचुरदिति। अत्र, द्रागिति पदं कष्टम्॥ ६॥

लोकमात्रप्रयुक्तं ग्राम्यम्॥ ७॥

लोक एव यत् प्रयुक्तं पदं न शास्त्रे तद् ग्राम्यम्। यथा 'कष्टं कथं रोदिति फूत्कृतेयम्'। अन्यदपि तल्लगलादिकं द्रष्टव्यम्॥ ७॥

हिन्दी—केवल ग्रामीण लोगों द्वारा प्रयुक्त पद ग्राम्यपद है।

जो पद केवल लोक में ही प्रयुक्त होता है और शास्त्र में नहीं वह ग्राम्य पद है। यथा—

'आह, चूल्हा फूँकनेवाली यह (स्त्री) किस तरह से हो रही है "यहाँ फूत्कृता' ग्राम्य पद है इसी तरह अन्य शब्द "तल्ल" "गल्ल" इत्यादि भी ग्राम्य पद हैं॥ ७॥

ग्रामे भवं ग्राम्यमिति व्युत्पत्तिः। लोकमात्रसिद्धमित्यर्थः। ग्राम्यं—कथमिति। अत्र, फूत्कृतेति पदं ग्राम्यम्। तस्य काव्ये प्राचुर्येण प्रयोगादर्शनात्। 'ताम्बूलभृतगल्लोऽयं तल्लं जल्पति मानवः' इत्यादौ यत्तल्लगल्लादिपदं प्रयुज्यते तदपि ग्राम्यं द्रष्टव्यम्॥ ७॥

शास्त्रमात्रप्रयुक्तमप्रतीतम्॥ ८॥

शास्त्र एव प्रयुक्तं यन्न लोके, तदप्रतीतं पदम्। यथा—

किं भाषितेन बहुना रूपस्कन्धस्य सन्ति मे न गुणाः।
गुणानान्तरीयकं च प्रमेति न तेऽस्त्युपालम्भः।

अत्र रूपस्कन्धनान्तरीयकपदे न लोक इत्यप्रतीतम्॥ ८॥

हिन्दी—शास्त्र मात्र में प्रयुक्त होने वाला पद अप्रतीत पद है।

जो पद लोक में प्रयुक्त न होकर केवल शास्त्र में ही प्रयुक्त होता है वह अप्रतीत पद है। यथा—

अधिक कहने से क्या लाभ, मुझे शरीर के गुण (सौन्दर्य आदि) नहीं हैं और प्रेम उन गुणों का अभिन्न (व्याप्ति रूप) है, अतः यह तेरा उलझना नहीं है। अर्थात् मैं सौन्दर्यहीन हूँ और इसीलिए तुम मुझसे प्रेम नहीं करते। अतः प्रेम नहीं करने के कारण तुझे उलाहना नहीं दिया जा सकता है।

यहाँ के 'रूपस्कन्ध' और 'नान्तरीयक' दोनों पद क्रमशः 'शरीर' तथा

'अविनाभाव' के अर्थ में केवल शास्त्र में ही प्रयुक्त होते हैं, लोक-व्यवहार में अप्रचलित हैं। अतः ये अप्रतीत पद हैं ॥ ८ ॥

किम्भाषितेन बहुना रूपस्कन्धस्येति। इयं हि कस्याश्चिद्विप्रलब्धायाः शठनायकं प्रत्युक्तिः। रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारलक्षणाः पञ्चस्कन्धाः सौगतमते प्रसिद्धाः। अत्र विषयेन्द्रियलक्षणस्य रूपस्कन्धस्य गुणा मे न सन्ति। गुणनान्तरीककम्। अन्तरशब्दोऽत्र विनार्थः। 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये। छिद्रात्मीयविनाबहिरवसरमध्येऽन्तरात्मनि च' इत्यमरः। न अन्तरं नान्तरम्। ततो भवार्थे छप्रत्यये स्वार्थे च कप्रत्यये सति नान्तरीयकमिति रूपं सिद्धम्। अविनाभूतमित्यर्थः। प्रेम च गुणनान्तरीयकमिति हेतोरुपालम्भो निन्दावचनम्। ते तव नास्ति। व्यापकपरावृत्तौ व्याप्यपरावृत्तिरुचितेति भावः। अत्र रूपस्कन्धनान्तरीयकपदे अप्रतीते ॥ ८ ॥

पूरणार्थमनर्थकम् ॥ ९ ॥

पूरणमात्रप्रयोजनमव्ययपदमनर्थकम्। दण्डापूपन्यायेन पदमन्यदप्यनर्थकमेव। यथा 'उदितस्तु हास्तिकविनीलमयं तिमिरं निपीय किरणैः सविता'। अत्र तुशब्दस्य पादपूरणार्थमेव प्रयोगः। न वाक्यालङ्कारार्थम्। वाक्यालङ्कारप्रयोजनं तु नानार्थकम्। अपवादार्थमिदम्। यथा 'न खल्विह गतागता नयनगोचरं मे गता' इति तथा हि खलु हन्तेति ॥ ९ ॥

हिन्दी—पादपूर्त्ति के उद्देश्य से प्रयुक्त पद अनर्थक होता है। केवल पाद-पूर्त्ति के उद्देश्य से प्रयुक्त अव्यय पद अनर्थक होता है। दण्डापूप न्याय से इस तरह प्रयुक्त अन्य पद भी अनर्थक होते हैं। यथा—

हाथियों के समूह की नीलिमा सदृश अन्धकार को किरणों द्वारा पीकर सूर्य उदित हुआ।

यहाँ 'तु' शब्द का प्रयोग पाद-पूर्त्ति के उद्देश्य से किया गया है[1] वाक्यालङ्कार की सिद्धि के लिए नहीं। यह पूर्वोक्त नियम के अपवाद के लिए कहा गया है। वाक्यालङ्कार के उद्देश्य से किया यया 'तु' शब्द का प्रयोग अनर्थक नहीं होता है। यथा—

---

(१) काव्यालङ्कार सूत्र के चतुर्थ संस्करण में 'न वाक्यालङ्कारार्थम्' का प्रयोग दशम सूत्र के रूप में किया गया है जो युक्ति-युक्त नहीं है।

यहाँ वह आती-जाती मुझे देखने में नहीं आई। (यहाँ 'खलु' पद वाक्यालङ्कार के लिए प्रयुक्त होने के कारण अनर्थक नहीं है।)

इसी तरह वाक्यालङ्कार के लिए प्रयुक्त होने वाले हि, खलु, हन्त इत्यादि अनर्थक नहीं है ॥ ९ ॥

पूरणार्थमिति। पूरणं पादपूरणमर्थः प्रयोजनं यस्येति विग्रहः। दण्डापूपेति। दण्डप्रोता अपूपा दण्डापूपाः। तथा च दण्डानयनप्रेरणायां दण्डानयनेनैवापूपानयने सिद्धे पुनरपूपानयनप्रेरणं व्यर्थमिति दण्डापूपन्यायः। अथवा, दण्डो मूषकैर्भक्षित इत्युक्ते पुनरपूपभक्षणप्रश्नवचनं व्यर्थमिति दण्डापूपन्यायः। तन्न्यायेन चादीनामसत्त्ववचनानामसत्यपि योगे तदर्थस्यान्यतोऽवगतत्वान्नैराकाङ्क्षचेण वाक्यार्थविश्रान्तिसिद्धाविह प्रयुज्यमानानां तेषामव्ययानां द्योत्यराहित्येनानर्थकत्वं भवति। किमु वक्तव्यमात्मोपजीव्यवाच्यार्थविरहे वाचकानां पदानामनर्थकत्वमिति भावः। उदित इति। हास्तिकम्। 'अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्' इति ठक् प्रत्ययः। 'हास्तिकं गजता वृन्दे' इत्यमरः। तद्वद्विनीलम्। अत्र तुशब्दस्येति। भेदावधारणादेर्द्योत्यस्यानाकाङ्क्षितत्वादित्यर्थः। वाक्येति। पूरणं तु प्रतिभादौर्बल्यसूचकतया काव्यविद्भिः प्रयोजकत्वेन नाङ्गीकृतम् ॥ ९ ॥

सम्प्रति पदार्थदोषानाह—

अन्यार्थनेयगूढार्थाश्लीलक्लिष्टानि च ॥ १० ॥

दुष्टं पदमित्यनुवर्तते। अर्थश्च वचनविपरिणामः। अन्यार्थादीनि पदानि दुष्टानीति सूत्रार्थः ॥ १० ॥

हिन्दी—सम्प्रति पदार्थ-दोष कहते हैं—

अन्यार्थ, नेयार्थ, गूढार्थ, अश्लीलार्थ एवं क्लिष्टार्थ, ये पाँच पदार्थ दोष हैं।

'दुष्टं पदम्' इसकी अनुवृत्ति पीछे से आती है। अर्थ की भी पूर्वसूत्र से अनुवृत्ति आतीं है। केवल 'दुष्टं पदम्' गत एक वचन का परिवर्त्तन कर सूत्र में बहुवचन का प्रयोग समझना। इस तरह सूत्र का अर्थ है कि अन्यार्थ आदि के बोधक पद दुष्ट हैं ॥ १० ॥

पदार्थदोषान् प्रपञ्चयितुमाह। सम्प्रतीति। अन्यादिभिस्त्रिभिरर्थशब्दः प्रत्येकमभिसम्बन्धनीयः। तेषामश्लीलक्लिष्टशब्दयोरिवार्थपदप्रयोगमन्तरेण न हठादर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वमित्यर्थपदं प्रयुक्तम्। अन्यार्थादीनीति। अर्थदौष्ट्यात् पदान्यपि दुष्टानीत्यर्थः ॥ १० ॥

एषां क्रमेण लक्षणान्याह—

रूढिच्युतमन्यार्थम् ॥ ११ ॥

रूढिच्युतम् । रूढिमनपेक्ष्य यौगिकार्थमात्रोपादानात् । अन्यार्थं पदम् । स्थूलत्वात् सामान्येन घटशब्दः पटशब्दार्थ इत्यादिकमन्यार्थं नोक्तम् । यथा ते दुःखमुच्चावचमावहन्ति ये प्रस्मरन्ति प्रियसङ्गमानाम्' । अत्राऽऽवहतिः करोत्यर्थो धारणार्थे प्रयुक्तः । प्रस्मरतिर्विस्मरणार्थः प्रकृष्टस्मरण इति ॥ ११ ॥

हिन्दी—क्रमशः इनके लक्षण कहते हैं—

रूढ अर्थ की अपेक्षा कर यौगिकार्थ मात्र में प्रयुक्त पद अन्यार्थ है ।

रूढ़ि से च्युत अर्थात् रूढ अर्थ की अपेक्षा न कर यौगिकार्थ मात्र के उत्पादान से अन्यार्थ हुआ । साधारणतः 'घट' शब्द का 'पट' शब्दार्थ में प्रयुक्त होना अन्यार्थ है किन्तु यह स्थूल नियम होने के कारण ऐसा लक्षण नहीं कहा गया है । यथा—

जो प्रिय जनों के साथ हुए सङ्गमों को विशेष रूप से स्मरण करते हैं वे दुःख ही पाते हैं ।

यहाँ करोत्यर्थक 'आवहति' पद धारण करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और प्रपूर्वक स्मृ धातु अर्थात् प्रस्मरन्ति जिसका अर्थ विस्मरण होता है, विशेष स्मरण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ॥ ११ ॥

रूढिः प्रसिद्धिः । ततश्च्युतं रूढिच्युतम् । रूढेषु पदेषु रूढिमनादृत्य यौगिकार्थे यत् प्रयुज्यते तदन्यार्थं पदम् । ननु यद् घटादिपदं पटादिषु प्रयुज्यते तदन्यार्थं पदं दुष्टमिति किमिति नोच्यत इत्याशङ्क्याह—स्थूलत्वादिति । पटादिषु प्रयुज्यमानं घटादिपदमिति सामान्येन नोक्तम् । कुतः ? स्थूलत्वात् । उत्तानबुद्धिभिरुपलब्धुं शक्यत्वात् । ये केचित् स्थूलमपि दोषमविज्ञाय तथा प्रयुञ्जते ते पुनरविवेकिनः शासनयोग्या न भवन्तीति प्राक् प्रतिपादितम् । उदाहरणमुपदर्शयितुमाह—यथेति । ये प्रियसङ्गमानां प्रणयप्रयुक्तसम्बन्धानां प्रस्मरन्ति प्रकर्षेण स्मरन्ति । 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' ति कर्मणि षष्ठी । ते जना उच्चावचमनेकभेदम् । 'उच्चावचं नैकभेदम्' इत्यमरः । दुःखमावहन्ति धारयन्तीति कवेर्विवक्षितोऽर्थः । अन्यार्थमुपपादयति—अत्रेति । आङ्पूर्वो वहिधातुः करोत्यर्थे रूढः । तथा च प्रयोगः 'व्रीडमावहति मे स सम्प्रति व्यस्तवृत्तिरुदयोन्मुखे त्वयि' इति । स च रूढिमनादृत्य धारणे यौगिकार्थे प्रयुक्त इत्यन्यार्थत्वम् । प्रपूर्वः स्मरतिरपि विस्मरणार्थे रूढः । तथा च प्रयोगः 'नाक्ष-

राणि पठता किमपाठि प्रस्मृतः किमथवा पठितोऽपि' इति । स च रूढिमगणयित्वा प्रकृष्टस्मरणे यौगिकार्थे प्रयुक्त इत्यन्यार्थत्वम् । किञ्च रूढिच्युतमित्यत्र रूढीति सामान्येनोपात्तत्वाद्योगरूढिरपि परिगृह्यते । तेन पङ्कजादयः शब्दाः कुमुदादिषु न प्रयोज्याः ॥ ११ ॥

कल्पितार्थं नेयार्थम् ॥ १२ ॥

अश्रौतस्याप्युन्नेयस्य पदार्थस्य कल्पनात् कल्पितार्थं नेयार्थम् । यथा—

सपदि पङ्क्तिविहङ्गमनामभृत्तनयसंवलितं बलशालिना ।
विपुलपर्वतवर्षि शितैः शरैः प्लवगसैन्यमुलूकजिता जितम् ॥

अत्र विहङ्गमश्चक्रवाकोऽभिप्रेतः । तन्नामानि चक्राणि । तानि बिभ्रतीति विहङ्गमनामभृतो रथाः । पङ्क्तिरिति दशसंख्या लक्ष्यते । पङ्क्तिर्दश विहङ्गमनामभृतो रथा यस्य स पङ्क्तिविहङ्गमनामभृद् दशरथः । तत्तनयाभ्यां रामलक्ष्मणाभ्यां संवलितं प्लवगसैन्यं जितम् । उलूकजिता इन्द्रजिता । कौशिकशब्देनेन्द्रोलूकयोरभिधानमिति कौशिकशब्दवाच्यत्वेनेन्द्र उलूक उक्तः । ननु चैवं रथाङ्गनामादीनामपि प्रयोगोऽनुपपन्नः । न, तेषां निरूढलक्षणत्वात् ॥ १२ ॥

हिन्दी—कल्पित अर्थ का बोधक पद नेयार्थ है ।

अश्रुत होने पर भी अनुमान से कल्पनीय पदार्थ नेयार्थ है ।

यथा—दशरथ के पुत्रों से युक्त विशाल पर्वतों की वर्षा करनेवाले वानरों की सेना को इन्द्र को जीतनेवाले एवं बलवान् मेघनाद ने तीक्ष्ण बाणों से शीघ्र ही जीत लिया ।

यहाँ 'विहंगम' शब्द से चक्रवाक अभिप्रेत है । उसके नाम वाले 'चक्र' हुए । उनको धारण करने वाले अर्थात् विहंगमनामभृतः रथ हुए 'पंक्ति' शब्द से दश संख्या लक्षित होती है । पंक्ति अर्थात् दश विहंगमनामभृतः अर्थात् रथ हैं जिसके उसे पंक्तिविहंगमनाम अर्थात् दशरथ कहेंगे । उस (दशरथ) के राम और लक्ष्मण दोनों पुत्रों से युक्त वानरसेना को जीत लिया । उलूकजिता अर्थात् इन्द्रजित् मेघनाद ने 'कौशिक' शब्द से इन्द्र और उलूक दोनों का बोध होता है, अतः कौशिकशब्दवाच्य होने से इन्द्र को उलूक शब्द से अभिहित किया गया है । (यहाँ कल्पितार्थ होने के कारण नेयार्थ दोष माना जाता है ।)

इस तरह काव्यप्रयुक्त 'रथाङ्गनामा' आदि पदों का प्रयोग अनुचित न होगा, उन (रथाङ्गनाम आदि) पदों की चक्रवाक आदि अर्थों में निरूढ लक्षण होने से ॥ १२ ॥

नेयार्थं लक्षयति—कल्पितार्थमिति । अश्रौतस्येति । सङ्केतसहायः शब्दव्यापारस्तद्विशिष्टः शब्दव्यापारो वा श्रुतिः । तत आगतोऽर्थः श्रौतः । स न भवतीति अश्रौतः । अनभिधेय इत्यर्थः । नन्विदमश्रौतत्वमर्थस्य किं लाक्षणिकत्वम् ? नेत्याह—उन्नेयस्य । 'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते' इत्येवं लक्षणलक्षणाकक्ष्यामधिक्षिप्य कस्यचिदर्थस्य कल्पने कल्पितार्थं, न तु लाक्षणिकार्थमित्यर्थः । उदाहरणमाह—यथेति । उदाहरणवाक्यार्थं विवृणोति । अत्रेति । पक्षिसामान्यवाचिना विहङ्गमपदेन तद्विशेषश्चक्रपर्नामा चक्रवाको लक्ष्यते । 'कोकश्चक्रश्चक्रवाक' इत्यमरः । तस्य नामेव नाम येषां तानि तन्नामामि चक्राणीत्यर्थः । पङ्क्तिरिति । पङ्क्तिच्छन्दसः पादस्य दशाक्षरात्मकत्वात् पङ्क्तिपदेन दशसंख्या लक्ष्यते । विपुलपर्वतवर्षीति । प्लवगसैन्यविशेषणम् । कौशिकशब्देनेति । 'महेन्द्रगुग्गुलूलूकव्यालग्राहिषु कौशिकः' इत्यमरः । कौशिकशब्देनेन्द्रोलूकयोरभिधानादित्यर्थः । उलूकशब्देन कौशिकशब्द उन्नीयते। तेनेन्द्रोऽभिधीयत इति, उलूकजित्पदेन इन्द्रजिदुन्नीयत इत्यभिप्रायः । एवं तर्हि प्राचीनकविप्रयोगः पर्याकुलः स्यादिति शङ्कते । नन्विति । रथाङ्गनामादीनामित्यादिपदेन रथाङ्गपाणिप्रभृतीनां परिग्रहः । रथाङ्गनामादिपदानां चक्रवाकादौ निरूढत्वेन रूढ्या योगस्य निगीर्णत्वान्न काचिदनुपपत्तिरिति परिहरति—नेति । निरूढा लक्षणा येषामिति बहुव्रीहिः । लक्षणा हि रूढिप्रयोजनवशाद् द्विविधा भवति । तत्र रूढलक्षणाः कुशलादयः शब्दाः प्रयोगप्राचुर्यबलेन वाचकशब्दवत् प्रयुज्यन्ते । प्रयोजनलक्षणास्तु 'मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिमप्रेक्षणम्' इत्यादौ विकसितादयः शब्दाः स्मितविलासादिलक्षकतयाऽद्यापि प्रयुज्यन्ते । तदुक्तं 'निरूढा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत् । क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तित' इति ॥ १२ ॥

गूढार्थं लक्षयितुमाह—

अप्रसिद्धार्थप्रयुक्तं गूढार्थम् ॥ १३ ॥

यस्य पदस्य लोकेऽर्थः प्रसिद्धश्चाप्रसिद्धश्च तदप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तं गूणार्थम् । यथा 'सहस्रगोरिवानीकं दुस्सहं भवतः परैः' इति । सहस्रं गावोऽक्षीणि यस्य स सहस्रगुरिन्द्रः । तस्येवेति गोशब्दस्याऽक्षिवाचित्वं कविष्वप्रसिद्धमिति ॥ १३ ॥

हिन्दी— अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त पद गूढार्थ होता है। जिस पद का एक अर्थ लोकप्रसिद्ध है और दूसरा अर्थ अप्रसिद्ध है। वह अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त होने पर गूढार्थ दोष होता है।

यथा—

सहस्राक्ष इन्द्र की तरह आपकी सेना शत्रुओं के लिए दुस्सह है।

सहस्र गौएँ अर्थात् चक्षु रूप इन्द्रियाँ हैं जिसके वह सहस्रगुः इन्द्र हुआ, उसके समान 'सहस्रगोरिव' का अर्थ हुआ। गो-शब्द की अक्षिवाचकता कवियों में अप्रसिद्ध है॥ १३॥

अप्रसिद्धेति। अभिमतमनेकत्वमर्थस्य दर्शयति। प्रसिद्धश्चेति। उदाहरणमुपदर्शयितुमाह—यथेति। गोशब्दस्येति। 'गौर्नाके वृषभे चन्द्रे वाग्भूदिग्धेनुषु स्त्रियाम्। द्वयोस्तु रश्मिदृग्बाणस्वर्गवज्राम्बुलोमसु' इत्यभिधाने सत्यपि गोशब्दस्य प्राचुर्येणाऽक्षिण प्रयोगाऽदर्शनादक्षिवाचकत्वमप्रसिद्धमित्यर्थः। एतेन 'तीर्थान्तरेषु स्नानेन समुपार्जितसत्पथः। सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति सम्प्रति सादरम्' इत्यादिषु हन्तीत्यादीनां गमनाद्यर्थेषु प्रयोगाः प्रत्युक्ताः॥ १३॥

अश्लीलं लक्षयितुमाह—

असभ्यार्थान्तरमसभ्यस्मृतिहेतुश्चाश्लीलम्॥ १४॥

यस्य पदस्यानेकार्थस्यैकोऽर्थोऽसभ्यः स्यात् तदसभ्यार्थान्तरम्। यथा 'वर्चः' इति पदं तेजसि विष्ठायां च। यत्तु पदं सभ्यार्थवाचकमप्येकदेशद्वारेणासभ्यार्थं स्मारयति तदसभ्यस्मृतिहेतुः। यथा 'कृकाटिका' इति॥ १४॥

हिन्दी—जिस पद का दूसरा अर्थ असभ्यात्मक हो और असभ्य अर्थ का स्मारक हो वह अश्लील है।

जिस अनेकार्थक पद का एक अर्थ असभ्य है उसे असभ्यार्थान्तर कहते हैं। यथा—वर्चः पद तेज और विष्ठा दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। जो पद सभ्यार्थक होने पर भी पद के एकदेश द्वारा असभ्यार्थ का स्मरण कराता है उसे असभ्यास्मृतिहेतु कहते हैं। यथा—'कृकाटिका'। यह 'कृकाटिका' पद कर्णप्रान्त (कनपटी) का वाचक होने पर भी तदेकदेश 'काटी' शवयान का स्मारक होने के कारण अश्लील है॥ १४॥

असभ्येति। सूत्रार्थं विवृण्वन् क्रमेण लक्षणोदाहरणे लक्षयति। यस्येति। यस्यानेकार्थवाचकस्य पदस्यैकोऽर्थोऽसभ्यः स्यात् तदसभ्यार्थान्तरं पदमश्लीलम्। वर्च इति। 'वर्चोसि ज्वालविड्भाराः' इत्यभिधानाज्ज्वालप्रभावाचक-

त्वेऽपि विड्वाचितया वर्चं इति पदमसभ्यार्थान्तरम्। यत्त्विति। सभायां साधुः सभ्यः। 'सभाया यः' इति यप्रत्ययः। यत्तु पदं सभ्यार्थवाचकमप्येकदेशेन यद्यसभ्यार्थस्मृतिं जनयेत् तदप्यश्लीलम्। कृकाटिकेति। 'प्रेतयानं खटिः काटीरि' ति वैजयन्त्यां शवयानपर्यायत्वेनाभिधानात् कर्णापरभागवाचकमपि कृकाटिकापदं काटीत्येकदेशेनासभ्यार्थस्मृतिहेतुरित्यश्लीलमित्यभिप्रायः ॥ १४॥

न गुप्तलक्षितसंवृतानि ॥ १५ ॥

अपवादार्थमिदम्। गुप्तं लक्षितं संवृतं च नाश्लीलम् ॥ १५ ॥

हिन्दी—जो पद गुप्त (अप्रसिद्ध), लक्षित (लक्षणात्मक) तथा संवृत्त (ढके अर्थवाले) हैं वे अश्लील नहीं हैं।

अपवाद के लिए यह सूत्र है। गुप्त अर्थात् अप्रसिद्ध, लक्षित अर्थात् लक्षणाबोध्य तथा संवृत अर्थात् लोकव्यवहारानुसार जिसका अश्लीलार्थ ढका हुआ है, ये अश्लील नहीं हैं॥ १५॥

अश्लीलस्य क्वचिदपवादं वक्तुमाह—न गुप्तेति ॥ १५ ॥

एषां लक्षणान्याह—

अप्रसिद्धासभ्यं गुप्तम् ॥ १६ ॥

अप्रसिद्धासभ्यार्थान्तरं पदमप्रसिद्धासभ्यं तद् गुप्तम्। यथा 'सम्बाधः' इति पदम्। तद्धि सङ्कटार्थं प्रसिद्धं, न गुह्यार्थमिति ॥ १६ ॥

हिन्दी—इनके लक्षण कहते हैं—

जिस पद का असभ्यार्थ अप्रसिद्ध है वह गुप्त है।

जिस पद का दूसरा अर्थ, जो असभ्य है, अप्रसिद्ध है उसे अप्रसिद्धासभ्य पद और उसे ही गुप्त कहते हैं। यथा— संबाधः। यह पद संकट और गुह्येन्द्रिय, दोनों अर्थ का वाचक है। किन्तु यह संकट अर्थ में प्रसिद्ध हैं और गुह्य (उपस्थेन्द्रिय) अर्थ में अप्रसिद्ध है॥ १६॥

अप्रसिद्धेति। यस्यानेकार्थस्य पदस्यैकोऽर्थोऽसभ्योऽपि यद्यप्रसिद्धो भवति तदप्रसिद्धासभ्यं गुप्तमित्यर्थः। तदिदमभिसन्धायाह—असभ्यार्थान्तरमिति। सम्बाध इति। 'वेशेऽपि गन्धः सम्बाधो गुह्यसङ्कटयोर्द्वयोः' इत्यभिधाने सत्यपि 'सम्बाधे सुरभीणाम्' 'आसने मित्रसम्बाधे' इत्यादिषु प्रयोगप्राचुर्यात् सम्बाधशब्दः सङ्कटार्थः प्रसिद्धः। तदभावाद् गुह्यार्थोऽप्रसिद्ध इत्यर्थः ॥ १६॥

लाक्षणिकासभ्यं लक्षितम् ॥ १७ ॥

तदेवासभ्यार्थान्तरं लाक्षणिकेनासभ्येनार्थेनान्वितं पदं लक्षितम्। यथा 'जन्मभूमिः' इति। तद्धि लक्षणया गुह्यार्थं न स्वशक्त्येति ॥१७॥

हिन्दी—जिस पद का असभ्य अर्थ लक्षणागम्य है उसे लक्षित कहते हैं। जैसे—'जन्मभूः'। इस पद का स्त्री-योनि रूप असभ्यार्थ लक्षणागम्य है, अभिधागम्य नहीं ॥ १७ ॥

लाक्षणिकासभ्यमिति। लक्षणया सान्तरार्थनिष्ठशब्दव्यापारेण प्रतिपाद्यं लाक्षणिकम्। अध्यात्मादित्वाद् भवार्थे ठञ्। तथाविधमसभ्यमर्थान्तरं यस्य तल्लक्षितमिति सूत्रार्थः। अमुमर्थमभिसन्धायाह—तदेवेति। लाक्षणिकं च तदसभ्यं चेति कर्मधारयः। अर्थविशेषणम्। तेनार्थेनान्वितं तादृगर्थप्रतिपादकमित्यर्थः। जन्मभूमिशब्देन जननस्थानसामान्यमभिधया प्रतिपाद्यते। तद्विशेषस्तु लक्षणयेति व्याचष्टे—तद्धीति। न स्वशक्त्येति। मुख्यव्यापारेणेत्यर्थः ॥ १७ ॥

लोकसंवीतं संवृतम् ॥ १८ ॥

लोकेन संवीतं लोकसंवीतम्। यत्तत् संवृतम्। यथा "सुभगा भगिनी, उपस्थानम्, अभिप्रेतम्, कुमारी, दोहदम्" इति। अत्र हि श्लोकः—

संवीतस्य हि लोकेन न दोषान्वेषणं क्षमम्।
शिवलिङ्गस्य संस्थाने कस्यासभ्यत्वभावना ॥ १८ ॥

हिन्दी—जिस पद का असभ्यार्थ लौकिक व्यवहार से आच्छन्न है उसे संवृत कहते हैं।

लोक-व्यवहार से आच्छन्न अर्थात् लोकसंवीत को ही संवृत कहते हैं। जैसे—(१) सुभगा, यहाँ 'भग' शब्द स्त्री के गुह्यांग का बोधक है किन्तु समस्त सुभग पद में अश्लीलता आच्छन्न है। (२) भगिनी, यहाँ भी 'भग' शब्द भी अश्लीलता लोक-व्यवहार से दवा हुआ है। (३) उपस्थानम्, यहाँ पुरुष गुह्यांग वाचक 'उपस्थ' शब्द, (४) अभिप्रेतम्, यहाँ शवद्योतक 'प्रेत' शब्द, (५) 'कुमारी' गत महारोग बोधक 'मारी' और (६) 'दोहद' शब्दगत विष्ठार्थक 'हद' शब्द अश्लीलार्थक होते हुए भी लोक-व्यवहार में समस्त रूप में ये शब्द अश्लील नहीं हैं।

यहाँ एक श्लोक भी कहा गया है—

लोक-व्यवहार से आच्छन्न हो गया है असभ्यार्थ जिस पद का, उसके दोषों का अन्वेषण करना उचित नहीं है। शिवलिङ्ग के संस्थापन में असभ्यता की भावना किसको होती है ? ॥ १८ ॥

लोकेन संवीतमावृतं परिगृहीतमिति यावत्। सुभगादिपदान्येकदेशेनासभ्यार्थस्मृतिहेतुत्वेऽपि लोकपरिगृहीतत्वात् प्रयोज्यानि । तदुक्तं दण्डिना 'भगिनी-भगवत्यादि सर्वत्रैवानुमन्यते' इत्यादि। दोहद इति। 'हद पुरीषोत्सर्गे' इति धातुं स्मारयन्नेकदेशेन असभ्यार्थस्मृतिहेतुः। अत्र प्राचीनाचार्यसंवादं प्रकटयति। अत्र हि श्लोक इति ॥ १८ ॥

तत्त्रैविध्यं व्रीडाजुगुप्सामङ्गलातङ्कदायिभेदात् ॥ १९ ॥

तस्याश्लीलस्य त्रैविध्यं भवति। व्रीडाजुगुप्सामङ्गलातङ्कदायिनां भेदात्। किञ्चिद् व्रीडादायि। यथा "वाक्काटवम्, हिरण्यरेता" इति। किञ्चिज्जुगुप्सादायि। यथा 'कपर्दकः' इति। किञ्चिदमङ्गलातङ्कदायि। यथा "संस्थितः" ॥ १९ ॥

हिन्दी—व्रीडा (लज्जात्मक), जुगुप्सा (घृणात्मक) और अमङ्गलातङ्कदायी (अशुभ एवं भयकारक) इन भेदों से वह अश्लील तीन प्रकार का होता है।

उस अश्लील के तीन भेद हैं व्रीडादायी (लज्जाकारक), जुगुप्सादायी (घृणाजनक) और अमङ्गलातङ्कदायी (अशुभ एवं भयकारक) भेदों के होने से। कोई लज्जाकारक पद होता है, जैसे (१) वाक्काटवम्, यहाँ 'काटव' शब्द जननेन्द्रियबोधक होने से अश्लील है। (२) हिरण्यरेताः, यहाँ वीर्यार्थक रेतस् शब्द लज्जाजनक होने से अश्लील है। कोई पद जुगुप्सात्मक होता है, जैसे—कपर्दकः, यहाँ 'पर्द' शब्द गुदज वायु का बोधक होने से जुगुप्साव्यञ्जक अश्लील है। कोई पद अमङ्गल तथा आतङ्कदायक होता है, जैसे—संस्थितः, यहाँ संस्थित शब्द मृतार्थक होने के कारण अमङ्गलातङ्कदायक है ॥ १९ ॥

द्विविधमश्लीलं त्रेधा विभजते। तत्त्रैविध्यमिति। तिस्रो विधा यस्य तत् त्रिविधं, त्रिप्रकारमिति यावत्। 'विधा विधौ प्रकारे च' इत्यमरः। तस्य भावस्त्रैविध्यम्। ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वात् ष्यञ्। तस्याश्लीलस्य त्रैविध्यम्। अमङ्गलस्यातङ्कः शङ्का। 'रुक्तापशङ्कास्वातङ्कः' इत्यमरः। दायि-शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। तत्राद्यमुदाहर्तुमाह—किञ्चिदिति। वाक्काटवमिति कटो-

र्भावः काटवम् । वाचः काटवं = वचस्तैक्ष्ण्यमित्यर्थः । अत्र काटव इत्येकदेशेन लिङ्गप्रतीतेर्व्रीडादायि 'काटवश्चार्णवश्च' इत्यत्र मन्त्रभाष्ये तथादर्शनात् । द्वितीयं दर्शयितुमाह—किञ्चिदिति । पर्दः पायवीयपवनध्वनिः 'पर्दस्तु गुदजे शब्दे कुर्दः कुक्षिजनिःस्वने' इति वैजयन्ती । अवशिष्टमश्लीलं दर्शयति—किञ्चिदिति । संस्थितो मृत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

क्लिष्टमाचष्टे—

व्यवहितार्थप्रत्ययं क्लिष्टम् ॥ २० ॥

अर्थस्य प्रतीतिरर्थप्रत्ययः । स व्यवहितो यस्माद् भवति तद् व्यवहितार्थप्रत्ययं क्लिष्टम् । यथा "दक्षात्मजादयितवल्लभवेदिकानां ज्योत्स्नाजुषां जललवास्तरलं पतन्ति" । दक्षात्मजास्ताराः । तासां दयितो दक्षात्मजादयितश्चन्द्रः । तस्य वल्लभाश्चन्द्रकान्ताः । तद्वेदिकानामिति । अत्र हि व्यवधानेनार्थप्रत्ययः ॥ २० ॥

हिन्दी—जिस पद का अर्थ व्यवहित होकर बोधगम्य हो उसे क्लिष्ट कहते हैं ।

अर्थ की प्रतीति अर्थप्रत्यय है । वह जिस पद से व्यवहित हो वह व्यवहितार्थ-प्रत्यय अर्थात् क्लिष्ट है । यथा—

दक्षात्मजा तारा के प्रिय चन्द्रमा की वल्लभाओं चन्द्रकान्तमणियों से बनी वेदिकाओं के तथा चन्द्रकलाओं के संयोग से जल-कण के फुहारे गिर रहे हैं ।

दक्षात्मजा तारा हैं । दक्षात्मजादयित चन्द्रमा है । उसके वल्लभ चन्द्रकान्तमणि हैं । उनसे बनी वेदिकाओं के, यह तात्पर्य है । यहाँ दक्षात्मजादयितवल्लभ-पद से व्यवहित होने के बाद चन्द्रकान्तमणि का अर्थ बोध होता है ॥ २० ॥

व्यवहितेति । समासार्थं विग्रहेण दर्शयति । अर्थस्य प्रतीतिरिति । प्रत्ययोऽत्र ज्ञानम् 'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु' इत्यमरः । उदाहरति । दक्षात्मजेति । ननु नेयार्थे क्लिष्टमिदं किमिति नान्तर्भवति । व्यवहितार्थ-प्रत्ययहेतुत्वाविशेषादित्याशङ्क्य ततो वैषम्यं दर्शयँल्लक्ष्ये लक्षणमनुगमयति । अत्र हि व्यवधानेनेति । व्यवधानमर्थप्रतिपत्तेर्विलम्बः । विलम्बेनार्थाभि-धायकं क्लिष्टम् । नेयार्थं तु कल्पितार्थमिति ततो भेदः ॥ २० ॥

अन्यार्थेऽपि चेन्नान्तर्भवतीत्याह—

अरूढार्थत्वात् ॥ २१ ॥

अरूढार्थत्वेऽपि यतोऽर्थप्रत्ययो झटिति न, तत् क्लिष्टम्। यथा "काञ्चीगुणस्थानमनिन्दितायाः" इति ॥ २१ ॥

हिन्दी—अन्यत्र अर्थ की अरूढता (अप्रसिद्धता) से पद क्लिष्ट नहीं होता है। अर्थ अरूढ अर्थात् अप्रसिद्ध होता हुआ भी यदि शीघ्र बोधगम्य हो जाए तो वह क्लिष्ट नहीं कहलाएगा। यथा—

सुन्दर महिला के करधनी (डरकस) पहनने का स्थान। यहाँ काञ्चीगुणस्थान कमर के अर्थ में रूढ़ अर्थात् प्रसिद्ध नहीं है किन्तु इस पद से कमर का बोध अविलम्ब हो जाता है ॥ २१ ॥

अरूढार्थत्वादिति। प्रकृतादर्थादर्थान्तरे क्वचिदप्यरूढत्वादप्रसिद्धत्वाद् विलम्बेनापि योगवशात् प्रकृतमर्थमभिधत्त इत्यर्थः। अप्रसिद्धमप्यविलम्बेनार्थमभिधायकं चेन्न तत् क्लिष्टमित्याह। अरूढार्थत्वेऽपीति। उदाहरति। यथेति ॥ २१ ॥

अथाऽश्लीलक्लिष्टाख्यदुष्टपदद्वयलक्षणसाम्याद् अश्लीलं क्लिष्टवाक्यद्वयमपि लक्षितप्रायमेवेत्युपपादयितुं सूत्रमुपादत्ते—

अन्त्याभ्यां वाक्यं व्याख्यातम् ॥ २२ ॥

अश्लीलं क्लिष्टं चेत्यन्त्ये पदे। ताभ्यां वाक्यं व्याख्यातम्। तदप्यश्लीलं क्लिष्टं च भवति। अश्लीलं यथा—

न सा धनोन्नतिर्या स्यात् कलत्ररतिदायिनी।
परार्थबद्धकक्ष्याणां यत् सत्यं पेलवं धनम् ॥
सोपानपथमुत्सृज्य वायुवेगः समुद्यतः।

महापथेन गतवान् कीर्त्यमानगुणो जनैः क्लिष्टं यथा "धम्मिल्लस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकामं कुरङ्गशावाक्ष्याः *रज्यत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम्"। एतान् पदपदार्थदोषान् ज्ञात्वा कविस्त्यजेदिति तात्पर्यार्थः ॥ २२ ॥

इति श्रीकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ दोषदर्शने द्वितीयेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः पदपदार्थदोषविभागः।

———

हिन्दी—अन्तिम दोनों पद-दोषों (अश्लीलत्व और क्लिष्टत्व) से वाक्य की व्याख्या हो गई ।

अश्लील और क्लिष्ट ये दोनों अन्तिम पद हैं । इन दोनों से वाक्य की व्याख्या हो गई । वह (वाक्य) भी अश्लील और क्लिष्ट होता है ।

लज्जामूलक अश्लील वाक्य का उदाहरण यथा—

वह धन की उन्नति नहीं है जो केवल अपनी स्त्री आदि के लिए सुखदायिनी है । दूसरों के उपकार के लिए कमर कसे हुए लोगों का धन ही सच्चा धन है । (यहाँ 'सा' और 'धन' दोनों का संयुक्त रूप (साधन) जननेन्द्रियवाचक है । साधक (लिङ्ग) की उन्नति, जो केवल अपनी स्त्री के रतिमुख के लिए की गई है, उन्नति नहीं है, अपि तु अन्य स्त्रियों के रतिसुखार्थ पुरुषों की साधनोन्नति ही वस्तुतः साधनोन्नति है । यह व्रीडामूलक अश्लीलत्व वाक्य से बोधगम्य होता है, पद मात्र से नहीं ।

जुगुप्सामूलक अश्लील वाक्य का उदाहरण, यथा—

लोगों के द्वारा प्रशंसा की जाती है जिसका वह वायुवेग सीढ़ियों के संकीर्ण मार्ग को छोड़ कर राजमार्ग से निकल गया । (इस श्लोक में) वह वेगवान् वायु अपानवायु के मार्ग (गुदामार्ग) को छोड़ कर महापथ अर्थात् मुख के रास्ते से बहुत वेग से ढकार के रूप से निकल गया । यह जुगुप्साव्यञ्जक अश्लीलता वाक्य से ही बोधगम्य होती है, किसी एक पद से नहीं ।

क्लिष्ट वाक्य का उदाहरण, यथा—

मृग-शावक के नेत्रों के सदृश नेत्रों वाली सुन्दरी के केश-बन्धन-विन्यास को देखकर किसका मन आनन्दित नहीं होता है । यहाँ अनेक पद-व्यवधानजन्य दूरान्वय के कारण वाक्यार्थ-बोध में क्लिष्टता है ।

इन पद-पदार्थ-दोषों को जानकर कवि उनका त्याग करे यही तात्पर्य है ॥ २२ ॥

काव्यालंकारसूत्रवृत्ति के अन्तर्गत दोष-दर्शननामक द्वितीय अधिकरण में
प्रथम अध्याय समाप्त ।

अन्त्याभ्यामिति । प्रतिपत्तिलाघवार्थमप्रकरणेऽप्यभिधानमित्यवगन्तव्यम् । अश्लीलं वाक्यमपि त्रिविधम् । तत्र व्रीडादाय्यश्लीलमुदाहरति । यथेति । सा तादृशी धनोन्नतिः = अर्थसम्पत्तिः न भवति । या कलत्ररतिदायिनी । कलत्रस्य रतिं प्रीतिं दातुं शीलमस्या इति कलत्ररतिदायिनी । न तु परप्रीतिदायिनी यस्मात् , तस्मात् , परार्थंबद्धकक्ष्याणां, परेषामर्थे प्रयोजने

बद्धा कक्ष्या कच्छो यैस्तेषां परोपकारबद्धप्रतिज्ञानामित्यर्थः। 'कक्ष्या कच्छे वरत्रायाम्' इति वैजयन्ती। धनमर्थो यत् सत्यं परमार्थतः पेलवं मनोज्ञमिति प्रकृतार्थः। अर्थान्तरन्तु साधनस्य शेफस उन्नतिः। 'साधनमुपगमनत्योः शेफसि सिद्धौ निवृत्तिदापनयोः' इति नानार्थमाला। यस्मात् कलत्रस्य रतिं सुरतं दातुं शीलमस्या इति तादृशी न भवति। तस्मात् परासामर्थ्ये बद्धकक्ष्याणां परस्त्रीवशंवदचित्तानामित्यर्थः। धनं पेलवं विरलं भवति। 'पेलवं विरलं तनु' इत्यमरः। अत्र व्रीडादायित्वमतिरोहितम्। अवशिष्टमश्लीलद्वयमुदाहरति—सोपानेति। सोपानपथमुत्सृज्य, वायुवेगः—वायोर्वेग इव वेगो यस्य स तादृशः, समुद्यतः सन् जनैः स्तूयमानगुणः सन्, महापथेन राजमार्गेण गतवानिति प्रकृतार्थः। वायुवेगोऽपानपथमुत्सृज्य समुद्यत इति जुगुप्सादायि। महापथेन परलोकमार्गेण गतवानित्यमङ्गलातङ्कदायि। क्लिष्टमुदाहरति। धम्मिल्लस्येति। कुरङ्गशावाक्ष्या धम्मिल्लस्य संयतकचनिचयस्याऽपूर्वोऽदृष्टचरो बन्धो ग्रथनं तस्य व्युत्पत्तेश्चातुर्यस्य शोभां वीक्ष्य कस्य मानसं निकामं न रज्यति। सर्वस्याऽपि मानसं रज्यतीत्यर्थः। रज्यतीति कर्मकर्तरि रूपम् 'कुषिरजोः प्राचां श्यन् परस्मैपदं च' इति परस्मैपदम्। अपूर्वबन्धव्युत्पत्तेरिति धम्मिल्लविशेषणं वा। अत्रान्वयव्यवधानान्न हाठिकी वाक्यार्थप्रतिपत्तिरिति स्पष्टमेव क्लिष्टत्वम्। ननु किं फलममीषां दोषाणामवबोधनेनेत्याशङ्क्य, परित्यागमेव फलमित्याह। एतानिति॥ २२॥

इति श्रीगोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालविरचितायां वामनालङ्कारसूत्र-
वृत्तिव्याख्यायां काव्यालंकारकामधेनौ दोषदर्शने
द्वितीयेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः।
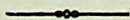
द्वितीयाऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः

चिन्तयामि चिदाकाशचन्दलेखां सरस्वतीम् ।
शिरसा श्लाघनाद् यस्याः सार्वज्ञ्यं समवाप्यते ॥ १ ॥

अध्यायद्वयसौहार्दमुन्मुद्रयति—

पदपदार्थदोषान् प्रतिपाद्य वाक्यदोषान् दर्शयितुमाह—

भिन्नवृत्तयतिभ्रष्टविसन्धीनि वाक्यानि ॥ १ ॥

दुष्टानीत्यभिसम्बन्धः ॥ १ ॥

हिन्दी—पद-दोषों एवं पदार्थ-दोषों का प्रतिपादन कर वाक्य-दोषों को दिखलाने के लिए कहते हैं—

भिन्नवृत्त, यतिभ्रष्ट एवं विसन्धि वाक्य दुष्ट होते हैं। यहाँ, वाक्यानि, के विशेषण रूप 'दुष्टानि' का अनुवृत्ति-सम्बन्ध पूर्ववर्त्ती सूत्र 'दुष्ट' (२।१।४) से है ॥ १ ॥

पदपदार्थेति। पदपदार्थदोषनिरूपणानन्तरं वाक्यवाक्यार्थदोषनिरूपणं लब्धावसरमिति सङ्गतिः। वाक्यदोषानुद्दिशति भिन्नवृत्तेति। दुष्टं पदमित्यादिसूत्राद् दुष्टमित्येतद् वचनविपरिणामेन वाक्यविशेषणतयाऽनुवर्तत इत्याह—दुष्टानीति ॥ १ ॥

क्रमेण व्याचष्टे—

स्वलक्षणच्युतवृत्तं भिन्नवृत्तम् ॥ २ ॥

स्वस्माल्लक्षणाच्च्युतं वृत्तं यस्मिँस्तत् स्वलक्षणच्युतं वृत्तं वाक्यं भिन्नवृत्तम्। यथा 'अयि पश्यसि सौधमाश्रितामविरलसुमनोमालभारिणीम्"। वैतालीययुग्मपादे लघ्वक्षराणां षण्णां नैरन्तर्यं निषिद्धम्। तच्च कृतमिति भिन्नवृत्तत्वम् ॥ २ ॥

हिन्दी—क्रमशः उनकी व्याख्या करते हैं—

अपने लक्षण से रहित वृत्त (छन्द) भिन्नवृत्त नामक दोष है।

जिस वाक्य में छन्द अपने लक्षण से हीन है वह स्वलक्षणच्युत वृत्त अर्थात् भिन्नवृत्त वाक्य है। यथा -

कस कर गूँथी हुई पुष्प-मालाओं के भार को धारण करनेवाली के ऊपर स्थित नायिका को देख रहे हो ?

वैतालीय छन्दोयुक्त पद्य में द्वितीय पाद में छह लघु मात्राओं का लगातार एक ही जगह रहना निषिद्ध है और वह यहाँ है, अतः यह भिन्नवृत्त वाक्यदोष है ॥ २ ॥

यथोद्देशमेषां लक्षणानि दर्शयिष्यन्ननन्तरसूत्रमवतारयति—क्रमेणेति । स्वलक्षणच्युतवृत्तमिति स्वलक्षणच्युतवृत्तानुबन्धि वाक्यमित्यर्थः । उदाहरति–यथेति । अयि पश्यसीति । सुमनोमालभारिणीमित्यत्र 'इष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिष्वि' ति मालाशब्दस्य ह्रस्वः । वैतालीयलक्षणं प्रागुक्तम् । तत्र, ताश्च समे स्युर्नो निरन्तरा इति समपादे लघ्वक्षरषट्कस्य नैरन्तर्यं निषिद्धम् । अत्राविरलसुमेति समपादे षडपि लघ्वक्षराणि प्रयुक्तानीति लक्षणच्युतत्वम् ॥१॥

विरसविरामं यतिभ्रष्टम् ॥ ३ ॥

विरसः श्रुतिकटुर्विरामो यस्मिँस्तद् विरसविरामं यतिभ्रष्टम् ॥३॥

हिन्दी—रसहीन विराम हैं जिस वाक्य में वह यतिभ्रष्ट है ।

विरस अर्थात् कर्णकटु विराम है जिसमें उसे विरसविराम अर्थात् यतिभ्रष्ट कहते हैं ॥ ३ ॥

द्वितीयं व्याख्यातं सूत्रमुपादत्ते—विरसविराममिति । विरामो विच्छेद-नियमः । शेषं सुगमम् ॥ ३ ॥

तद्धातुनामभागभेदे स्वरसन्ध्यकृते प्रायेण ॥ ४ ॥

तद् यतिभ्रष्टं धातुभागभेदे नामभागभेदे च सति भवति । स्वरसन्धिना कृते प्रायेण बाहुल्येन । धातुभागभेदे मन्दाक्रान्तायां यथा 'एतासां राजति सुमनसां दामकण्ठावलम्बि' नामभागभेदे शिखरिण्यां यथा । 'कुरङ्गाक्षीणां गण्डतलफलके स्वेदविसरः ।' मन्दाक्रान्तायां यथा 'दुर्दर्शश्चक्रशिखिकपिशः शार्ङ्गिणो बाहुदण्डः' । धातु-नामभागपद-ग्रहणात् तद्भागातिरिक्तभेदे न भवति यतिभ्रष्टत्वम् । यथा मन्दा-क्रान्तायाम्—'शोभां पुष्पत्ययमभिनवः सुन्दरीणां प्रबोधः' शिखरिण्यां यथा 'विनिद्रः श्यामान्तेष्वधरपुटसीत्कारविरुतैः' । स्वरसन्ध्यकृत इति वचनात् स्वरसन्धिकृते भेदे न दोषः । यथा 'किञ्चिद्भावालसमसरलं प्रेक्षितं सुन्दरीणाम्' ॥ ४ ॥

हिन्दी—वह यतिभ्रष्ट नामक वाक्यदोष स्वर-सन्धि के नियम के विपरीत धातु तथा प्रातिपदिक भाग में टुकड़े कर देने पर होता है।

वह यतिभ्रष्ट दोष प्रायः स्वरसन्धि के विना क्रियापद तथा नामपद का भेद कर देने पर होता है।

धातुभाग के भेद कर देने पर मन्दाक्रान्ता छन्द में, जैसे—गले में पहनी हुई इन फूलों की माला शोभित होती है। यहाँ 'राजति' क्रियापद के अंश 'रा' को लेकर 'एतासां रा' यह प्रथम यति है। अतः 'राजति' क्रियापद का भाग कर देने से यति-भ्रष्ट दोष हुआ।

नामभाग में भेद कर देने पर शिखरिणी छन्द में, यथा—मृगनयिनों के गाल पर पसीना बह रहा है। यहाँ 'कुरङ्गाक्षीणां गं' इस छह अक्षरों की यति के निर्माण में 'गण्ड' नामपद का भेद करना पड़ा है। यह यतिभ्रष्ट नामक वाक्यदोष है।

मन्दाक्रान्ता छन्द में नामभाग के भेद से यतिभ्रष्ट का उदाहरण, यथा—विष्णु का वाहुदण्ड सुदर्शन चक्र की अग्नि से पीला हो गया है। यहाँ 'चक्र' का प्रथम अक्षर 'च' को लेकर चार अक्षरों की प्रथम यति (जैसे दुर्दर्शश्च) है। यह नामपद (चक्र) के भाग भेद कर देने से यतिभ्रष्ट दोष हुआ।

धातु और नाम भाग-पदों के ग्रहण से उन भागों के अतिरिक्त अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय, आदि में आंशिक भेद होने पर यतिभ्रष्टत्व दोष नहीं होगा। यथा मन्दाक्रान्ता छन्द में—

सुन्दरियों का यह प्रातः कालीन जागरण शोभा को बढ़ा रहा है। यहाँ 'ति' प्रत्यय को अलग 'पुष्प' प्रकृति को लेकर 'शोभां पुष्य' प्रथम यति बनाई गई हैं। प्रकृति-प्रत्यय गत भागभेद दोषावह नहीं होने के कारण यहाँ यतिभ्रष्टत्व दोष नहीं है।

शिखरिणीवृत्त में यथा—

रात्रि के अन्त में अधर पुट के सीत्कार शब्दों से निद्रा-रहित–

यहाँ 'श्यामान्तेषु' पद में प्रकृति और प्रत्यय (अर्थात् श्यामान्ते + षु) के मध्य में यति आती है जो विरसत्वसम्पादक नहीं होने के कारण यतिभ्रष्टत्व दोष से मुक्त है।

स्वरसन्ध्यकृते अर्थात् स्वरसन्धि के विना किए गए, ऐसा सूत्र में निर्देश करने से स्वर-सन्धि से किए गए भेद होने पर दोष नहीं माना जाता है, यथा—

सुन्दरियों का यत्किञ्चित् भाव एवम् आलस्य से युक्त कटाक्ष।

यहाँ मन्दाक्रान्तावृत्त के अनुसार 'किञ्चिद्भावा' के बाद यति आती है। भाव+अलस के सन्धि से 'भावा' में आकार आया है। यहाँ स्वरसन्धि कृत प्रातिपदिक के भेद होने से यतिभ्रष्टत्व दोष नहीं माना जाता है॥ ४॥

तद्विभागं दर्शयितुमाह–तदिति। धातुर्भू-वादिः। नाम प्रातिपदिकम्। धातोः प्रातिपदिकस्य वा भागतो भेदेंऽशतो विच्छेदे। भागभेदमेव विशिनष्टि

स्वरसन्ध्यकृत इति। स च भागभेदो यदि स्वरसंधिना कृतो न स्यात् तस्मिन् भागभेदे सति यतिभ्रष्टं नाम दुष्टं भवति। स्वरसन्धिकृते तु भागभेदे न दुष्टमिति सूचितम्। तत्र प्रथममुदाहर्तुमाह—धातुभागभेद इति। एतासामिति। मन्दाक्रान्ताख्यमिदं वृत्तम्। 'मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैम्भौं न तौ तौ गुरू चेत्' इति तल्लक्षणादादितश्चतुर्भिस्ततः षड्भिस्ततः सप्तभिर्वर्णैर्विरामः कर्तव्यः। तथा सति, एतासां रा, इत्यत्र धातुभागभेदे प्राप्तस्य तस्य वैरस्यादिदं वाक्यं यतिभ्रष्टं नाम दुष्टं भवति। द्वितीयमुदाहरति-नामभागभेद इति। कुरङ्गाक्षीणामिति। शिखरिणीवृत्तमिदम्। 'रसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' इति लक्षणादादितः षड्भिस्तत एकादशभिर्यतिः कर्तव्या। ततश्च कुरङ्गाक्षीणां गण्—इत्यत्र प्रातिपदिकभागभेदे प्राप्तायास्तस्या वैरस्याद् यतिभ्रष्टं भवति। उदाहरणान्तमाह—दुर्दर्श इति। मन्दाक्रान्तालक्षणमुक्तम्। दुर्दर्शश्च, इत्यत्र विरामो विरसः। ननु, पदभागभेद इति सूत्रकरणे धातुनाम्नोरुभयोरपि संग्रहाल्लाघवं भवति, किं धातुनामग्रहणगौरवेणेत्याशङ्क्य, पदग्रहणे प्रकृतिप्रत्ययमध्यविरामेऽपि यतिभ्रंशः स्यात्। स मा भूदिति धातुनामग्रहणं कृतमित्याशयवानाह–धातुनामेति। तयोर्धातुनाम्नोर्भागास्तद्भागाः। तेभ्योऽतिरिक्तभेदे धातुनामभागभेदव्यतिरिक्तभागच्छेद इत्यर्थः। उदाहरति—यथेति। शोभां पुष्येत्यत्र विरामो न वैरस्यमावहतीति भावः। धातुप्रत्ययमध्यविरामे दोषाभावं निरूप्य प्रातिपदिकप्रत्ययमध्यभेदेऽप्युदाहरति–विनिद्र इति। श्यामा रात्रिः। श्यामान्त इत्यत्र प्रातिपदिकप्रत्ययमध्यविरामो न दुष्यति। विशेषणव्यावर्त्यं कीर्तयति स्वरसन्धीति। उदाहरति किञ्चिद्भावालसमिति। अत्र चतुर्थाक्षराऽवसाने यतिर्विहिता। तथा चालसमित्यत्र, अकारस्य सवर्णदीर्घेणैकादेशेन कवलितत्वात् स्वरसन्धिकृतोऽयं नामभागभेद इति न यतिभ्रष्टत्वम् ॥४॥

न वृत्तदोषात् पृथग् यतिदोषो वृत्तस्य यत्यात्मकत्वात् ॥५॥

वृत्तदोषात् पृथग् यतिदोषो न वक्तव्यः। वृत्तस्य यत्यात्मकत्वात् ॥ ५ ॥

हिन्दी—वृत्त के यत्यात्मक होने से वृत्त-दोष से पृथक् यतिदोष नहीं होता है।

वृत्तदोष से पृथक् यतिदोष कहना ठीक नहीं है, वृत्त के यत्यात्मक होने से ॥ ५ ॥

ननु भिन्नवृत्तयतिभ्रष्टयोरर्थतो भेदाभावाद्, न पृथक् कथनमर्थवदिति शङ्कामङ्कुरयितुमुपरितनं सूत्रमुपन्यस्यति—न वृत्तेति। गुरुलघुनियमवद् यतिनियमस्यापि वृत्तलक्षणवाक्येनैवावगन्तव्यत्वाद् यतिविशिष्टं च वृत्तमिति वृत्तदोषे एव यतिदोषोऽन्तर्भवतीति शङ्कितुरभिप्रायः ॥ ५ ॥

यत्यात्मकं हि वृत्तमिति भिन्नवृत्त एव यतिभ्रष्टस्यान्तर्भावान्न पृथग्ग्रहणं कार्यमत आह--

न लक्ष्मणः पृथक्त्वात् ॥ ६ ॥

नाऽयं दोषः लक्ष्मणो लक्षणस्य पृथक्त्वात्। अन्यद्धि लक्षणं वृत्तस्यान्यद् यतेः। गुरुलघुनियमात्मकं वृत्तम्। विरामात्मिका च यतिरिति ॥ ६ ॥

हिन्दी—वृत्त यत्यात्मक होता है, अतः भिन्नवृत्त में ही यतिभ्रष्टत्व दोष के अन्तर्भाव हो जाने से उसका पृथक् ग्रहण नहीं करना चाहिए। इसलिए कहते हैं—

लक्षणों के पार्थक्य से दोनों (वृत्तदोष और यतिदोष) को अभिन्न नहीं कहा जा सकता है।

यह कोई दोष नहीं है, लक्षण के पृथक् होने से। वृत्त का लक्षण कोई और है यति का लक्षण कोई और। गुरु, लघु का नियामक वृत्त होता है और विराम-बोधिका यति होती है ॥ ६ ॥

शङ्कामिमां शकलयितुमुत्तरसूत्रमुपादत्ते—न लक्ष्मणः पृथक्त्वादिति। यतिवृत्तयोर्लक्षणभेदात् स्वरूपभेदोऽङ्गीकर्तव्यः। तथा च वृत्तदोषे यतिदोषस्यान्तर्भावो दुर्भण इति भावः। लक्षणभेदमेवाह—गुरुलध्विति। स्थानविरामेऽपि गुरुलघुविपर्यासे भवति वृत्तभङ्गः। अस्थानविरामात्मके यतिभङ्गेऽपि यथोक्तगुरुलघुनियमे सति न वृत्तभङ्ग इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां भिन्नवृत्तयतिभ्रष्टयोर्भिन्नत्वात् पृथक्कथनमर्थवदित्यर्थः ॥ ६ ॥

अथ विसन्धिवाक्यं विवरीतुमाह—

विरूपपदसन्धिर्विसन्धिः ॥ ७ ॥

पदानां सन्धिः पदसन्धिः। स च स्वरसमवायरूपः प्रत्यासत्तिमात्रारूपो वा। स विरूपो यस्मिन्निति विग्रहः ॥ ७ ॥

हिन्दी—विरूप अर्थात् अनुचित पद-सन्धि को विसन्धि कहते हैं।

पदों की सन्धि को पद-सन्धि कहते हैं और वह स्वरों का निश्चित रूप समीपस्थिति मात्र ही है। वह सन्धि विरूप है जिस वाक्य में, यही सूत्र का विग्रह है ॥ ७ ॥

विरूपपदसन्धिरिति। स चेति। 'किञ्चिद् भवालसमि' त्यत्र स्वरसमवायरूपः। 'ते गच्छन्ति प्रभुपरिवृढमि' त्यत्र प्रत्यासत्तिरूपः ॥ ७ ॥

विसन्धिनस्त्रैविध्यं वक्तुमाह—

पदसन्धिवैरूप्यं विश्लेषोऽश्लीलत्वं कष्टत्वञ्च ॥ ८ ॥

विश्लेषो विभागेन पदानां संस्थितिरिति—अश्लीलत्वमसभ्यस्मृतिहेतुत्वम् कष्टत्वं पारुष्यमिति । विश्लेषो यथा—'मेघाऽनिलेन अमुना एतस्मिन्नद्रिकानने, कमले इव लोचने इमे अनुबध्नाति विलासपद्धतिः, लोलालकानुबद्धानि आननानि चकासति ।' अश्लीलत्वं यथा—'विरेचकमिदं नृत्तमाचार्याभासयोजितम् । चकासे पनसप्रायैः पुरी षण्डमहाद्रुमैः, विना शपथदानाभ्यां पदवादसमुत्सुकम्' । कष्टत्वं यथा—'मुञ्जर्युद्गमगर्भाऽऽस्ते गुर्वाभोगा द्रुमा बभुः' ॥ ८ ॥

हिन्दी—पदसन्धि का वैरूप्य विश्लेष, अश्लीलत्व तथा कष्टत्व, तीन प्रकार का होता है ।

पदों की सन्धि न कर उनकी विभक्त रूप में स्थिति ही विश्लेष कहलाता है। सन्धिजन्य असभ्यार्थ की स्मृति होने पर अश्लीलत्व होता है । सन्धिजन्य कठोरता होने पर कष्टत्व होता है ।

सन्धिविश्लेष के उदाहरण, यथा—(१) इस पर्वतीय वन में मेघ (वृष्टि) सहित इस हवा ने । यहाँ 'अनिलेन + अमुना' में दीर्घ तथा 'अमुना + एतस्मिन्' में वृद्धि नहीं होने से सन्धिविश्लेष रूप दोष हुआ । (२) सौन्दर्य इन दोनों नेत्रों को कमलों के समान ही सुशोभित करता है । यहाँ 'कमले + इव' 'लोचने + इमे' 'इमे अनुबध्नाति' में प्रकृतिभाव सन्धि नहीं होने से विश्लेष दाप्य हुआ । (३) चञ्चल केशगुच्छों से लिपटे हुए मुख सुशोभित हो रहे हैं । यहाँ 'अनुविद्धानि - आननानि' में यण् सन्धि नहीं होने से सन्धि-विश्लेष रूप दोष हुआ ।

सन्धिविश्लेषजन्य अश्लीलत्व के तीन भेद हैं:—(१) जुगुप्साबोधक, (२) लज्जाबोधक तथा (३) अमङ्गलातङ्कबोधक । जुगुप्साबोधक अश्लीलत्व का उदाहरण जैसे—(१) आचार्याभास (अयोग्य आचार्य) से योजित यह नृत्त रेचक से रहित अर्थात् विरेचक है । यहाँ 'विरेचक' तथा 'आचार्याभास') दोनों अश्लीलत्व सूचक पद हैं । (२) कटहलों से लदे 'बड़े-बड़े वृक्षों से युक्त यह नगरी सुशोभित हो रही थी । (यहाँ 'पुरी' और 'षण्ड' दोनों के अव्यवहित उच्चारण से जुगुप्सा का बोध होता है ।) (३) प्रतिज्ञा तथा दान के बिना पदवाद (पद-प्राप्ति) के लिए समुत्सुक को । (यहाँ 'बिना' तथा 'शपथ' दोनों के अव्यवहित तथा संहित "विनाशपथ' के उच्चारण से अमङ्गल तथा आतङ्क रूप अश्लीलत्व का बोध होता है ।)

कष्टत्व का उदाहरण यथा—

मञ्जरियों का उद्गम है जिन वृक्षों में ऐसे बड़े-बड़े वृक्ष सुशोभित हो रहे थे। (यहाँ 'मञ्जर्युद्गम' तथा गुर्वाभोग' कष्टकारक यण् सन्धियुक्त पद हैं) ॥ ८ ॥

पदसन्धीति। विश्लेषोऽवग्रह इत्यत्र पदकालप्रसिद्धोऽवग्रहो न विवक्षितः, किन्तु मात्राकालव्यवधानसाम्यादसंहिताप्रगृह्यलक्षण इत्यभिसन्धायाह— विभागेनेति। स च विश्लेषो द्विविधः—प्रगृह्यनिबन्धनः, सन्ध्यविवक्षा-निबन्धनश्च। तत्राद्यमुदाहरति—कमले इति। यदवादि दण्डिना 'न संहितां विवक्षामी'त्यसन्धानं पदेषु यत्। तद्विसन्धीति निर्दिष्टं, न प्रगृह्यादिहेतुकम्' इति। अत्र प्रगृह्यादिहेतुकं विसन्धि न भवतीति सकृत्प्रयोगविषयमिदं द्रष्टव्यम्। असकृत्प्रयोगे तु दुष्टमेव। तदुक्तं साहित्यचूडामणौ—'प्रगृह्यादिनिबन्धनत्वे पुनरसकृद्दोषः।' यथा 'धीदोर्बले अतितते उचिताऽर्थवृत्ती' इत्यादि। सकृत्तु न दोष इति। तथाच प्रयोगः—'लीलयैव धनुषा अधिज्यताम्'। 'सहंसपाते इव लक्ष्यमाणे' इति च। द्वितीयमुदाहरति। लोलालकेत्यादि। अत्र, न संहितां विवक्षामि इति कामचारप्रयुक्तः सकृदपि दोष एव। 'नित्येयं संहितैकपदवत् पादेष्वर्धान्तवर्जम्' इति काव्यसमयाऽध्याये वक्ष्यमाणत्वात्। त्रिविधमश्लीलं क्रमेणोदाहरति। अश्लीलं यथेति (१) रेचका नाम नृत्ते पाणिपादादिभ्रमणरूपाश्चत्वारो भरतशास्त्रे प्रसिद्धाः। तदुक्तं सङ्गीतरत्नाकरे। 'रेचकानथ वक्ष्यामश्चतुरो भरतोदितान्। पदयोः करयोः कटया ग्रीवायाश्च भवन्ति ते' इति। आचार्येण सता नृत्तं सरेचकं योजनीयम्। इदं नृत्तं विरेचकं रेचकविहीनम्। अत एवाचार्याभासयोजितम्। यः स्वयमनाचार्यं 'आचार्यवदवभासते सोऽयमाचार्याभासः। तेन योजितम्। अत्र विरेचक-याभ—पुरीषविनाशपदविन्यासैः, विरेचन-मिथुनीभाव-पुरीष-विनाश-प्रतीतेस्त्रिविधान्यश्लीलानि द्रष्टव्यानि। कष्टत्वमुदाहर्तुमाह। कष्टत्वं यथेति ॥ ८ ॥

उक्तवक्तव्यसङ्गतिपूर्वकमुत्तरसूत्रमवतारयति—

एवं वाक्यदोषानभिधाय वाक्यार्थदोषान् प्रतिपादयितुमाह—

व्यर्थैकार्थसन्दिग्धाप्रयुक्तापक्रमलोकविद्याविरुद्धानि च ॥९॥

वाक्यानि दुष्टानीति सम्बन्धः ॥ ९ ॥

हिन्दी—इस तरह वाक्यदोषों का प्रतिपादन कर (अब) वाक्यार्थ दोष के प्रतिपादन के लिए कहते हैं :—

व्यर्थ, एकार्थ, सन्दिग्ध, अप्रयुक्त, अपक्रम, लोकविरुद्ध एवं विद्याविरुद्ध ये सात प्रकार के वाक्यार्थ दोष होते हैं।

इन अर्थों से युक्त वाक्य दुष्ट हैं। यह पूर्व सूत्र से सम्बद्ध है ॥ ९ ॥

एवमिति । चकारेण समुच्चयमाह । वाक्यानि दुष्टानीति सम्बन्ध इति ॥ ९ ॥

क्रमेण व्याख्यातुमाह—

व्याहतपूर्वोत्तरार्थं व्यर्थम् ॥ १० ॥

व्याहतौ पूर्वोत्तरावर्थौ यस्मिंस्तद् व्याहतपूर्वोत्तरार्थं वाक्यं व्यर्थम्। यथा—'अद्यापि स्मरति रसालसं मनो मे मुग्धायाः स्मर-चतुराणि चेष्टितानि'। मुग्धायाः कथं स्मरचतुराणि चेष्टितानि। तानि चेत् कथं मुग्धा ? अत्र पूर्वोत्तरयोरर्थयोर्विरोधाद् व्यर्थमिति ॥ १० ॥

हिन्दी—क्रम से उनकी व्याख्या करने के लिए कहते हैं :

पूर्व और उत्तर के अर्थों में जहाँ विरोध हो वह व्यर्थ दोष है।

जिस वाक्य में आगे तथा पीछे के अर्थ परस्पर विरुद्ध हैं वह परस्पर विरुद्धार्थक वाक्य व्यर्थ है। यथा—

मेरा सुरतिश्रान्त मन आज भी मुग्धा नायिका की रतिकालोचित चतुर चेष्टाओं का स्मरण करता है।

रतिविमुख मुग्धा नायिका की रतिचतुर चेष्टाएँ नहीं होतीं। यदि उस तरह की चेष्टाएँ है तो वह नायिका मुग्धा नहीं कही जा सकती। इस तरह यहाँ पूर्वोत्तर अर्थों में विरोध होने से व्यर्थ दोष हुआ ॥ १० ॥

व्याहतौ परस्परविरुद्धावित्यर्थः। मुग्धायाः कथं स्मरचतुराणि चेष्टितानीति। न कथञ्चित् सम्भवन्ति, व्याहतत्वादित्यर्थः। व्याहतिमेव व्याहरति। स्मरचतुराणीति ॥ १० ॥

एकार्थं समर्थयितुमाह—

उक्तार्थपदमेकार्थम् ॥ ११ ॥

उक्तार्थानि पदानि यस्मिँस्तदुक्तार्थपदमेकार्थम्। यथा—'चिन्ता-मोहमनङ्गमङ्ग ! तनुते विप्रेक्षितं सुभ्रुवः'। अनङ्गः शृङ्गारः। तस्य चिन्तामोहात्मकत्वाच्चिन्तामोहशब्दौ प्रयुक्तावुक्तार्थौ भवतः। एकार्थ-पदत्वाद् वाक्यमेकार्थमित्युक्तम् ॥ ११ ॥

हिन्दी—उक्तार्थक पद एकार्थ दोष कहलाता है।

जिस वाक्य में उक्तार्थक (पुनरुक्त) पद हैं वह उक्तार्थक-पदयुक्त वाक्य एकार्थ दोष है। यथा—

सुन्दर भौं वाली सुन्दरी का कटाक्ष चिन्ता, मोह और काम उत्पन्न करता है।

अनङ्ग का अर्थ है शृंगार। स्वयम् उसके (शृङ्गार के) चिन्तात्मक तथा मोहात्मक होने से चिन्ता और मोह शब्दों का पृथक् प्रयोग होना पुनरुक्त है। पुनरुक्त पदों से युक्त वाक्य को एकार्थ दोष कहा गया है॥ ११॥

उक्तार्थपदमिति। उक्ताः प्रतिपादिता अर्था येषां तान्युक्तार्थानि। तथाविधानि पदानि यस्मिन् वाक्ये तदुक्तार्थपदं वाक्यमेकार्थं नाम दुष्टं भवतीति वाक्यार्थः। चिन्तामोहमिति। कामिनीकटाक्षपातकलुषिताऽन्तःकरणस्य विरहवेदनामसहमानस्य कस्यचित् कामुकस्येयमुक्तिः। अनङ्गशब्देनात्र विप्रलम्भशृङ्गारो विवक्षितः। तस्य चिन्तामोहाद्युपचितात्मकस्यैव शृङ्गारपदार्थत्वात्। तत्कथनेनैव चिन्तामोहयोरवगतत्वाच्चिन्तामोहशब्दौ गतार्थावित्येकार्थौ। नन्वेकार्थलक्षणपरीक्षायामेकार्थत्वं पदस्य प्रतीयते, न तु वाक्यस्य। तत् कथमयं वाक्यदोषः स्यादित्याशङ्क्य छत्रिन्यायेनैकदेशधर्मः समुदाये पर्यवस्यतीत्याशयवानाह। एकार्थपदत्वादिति॥ ११॥

क्वचिदपवादं वक्तुमाह—

न विशेषश्चेत्॥ १२॥

न गतार्थं दुष्टं विशेषश्चेत् प्रतिपाद्यः स्यात्॥ १२॥

हिन्दी—यदि विशेष प्रयोजन हो तो उक्तार्थता में एकार्थ दोष नहीं होगा। यदि विशेष अर्थ प्रतिपाद्य हो तो गतार्थ (उक्तार्थ) दोषपूर्ण नही होगा॥ १२॥

न विशेषश्चेदिति। यदि विशेषः प्रतिपाद्यस्तदानीमेकार्थं दुष्टं न भवतीति सूत्रार्थः॥ १२॥

तं विशेषं प्रतिपादयितुमाह—

धनुर्ज्याध्वनौ धनुःश्रुतिरारूढेः प्रतिपत्त्यै॥ १३॥

धनुर्ज्याध्वनावित्यत्र ज्याशब्देनोक्तार्थत्वेऽपि धनुःश्रुतिः प्रयुज्यते। आरूढेः प्रतिपत्त्यै। आरोहणस्य प्रतिपत्त्यर्थम्। न हि धनुःश्रुतिमन्तरेण धनुष्यारूढा ज्या धनुर्ज्येति शक्यं प्रतिपत्तुम्। यथा—'धनुर्ज्याकिणचिह्नेन दोष्णा विस्फुरितं तव' इति॥ १३॥

हिन्दी—उस विशेष को प्रतिपादित करने के लिए कहते हैं:—

'धनुर्ज्याध्वनि' (धनुष की प्रत्यञ्चा की टंकार) यहाँ 'ज्या' शब्द प्रत्यञ्चा के चढ़ाव की प्रतीति के लिए प्रयुक्त हुआ है।

'धनुर्ज्याध्वनी' इस प्रयोग में 'ज्या' शब्द से ही धनु का बोध हो जाता है। इस तरह 'ज्या' शब्द से ही धनुःपद के गतार्थ होने से धनुः पद का पृथक् प्रयोग आरूढता के बोध के लिए किया गया है। आरूढि अर्थात् आरोहण की प्रतीति के लिए धनुः पद का पृथक् प्रयोग हुआ है। धनुःपद के पृथक् प्रयोग के बिना धनुष पर चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा (ज्या) का बोध नहीं हो सकता है। यथा—धनुष की ज्या की चोट से चिह्नित तुम्हारी बांह फड़कती थी ॥ १३ ॥

धनुर्ज्याध्वनाविति। श्रुतिरत्र वाचकः। स्पष्टमवशिष्टम् धनुर्ज्याकिणेति। ज्याशब्दमात्रप्रयोगे ज्याबन्धनेनापि किणसम्भवाद् भवेदनौचित्यम्। तथा च प्रयोगः। 'ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन यस्य' इति ॥ १३ ॥

उक्तन्यायमन्यत्रापि सञ्चारयितुमाह—

कर्णावतंसश्रवणकुण्डलशिरःशेखरेषु कर्णादि-निर्देशः सन्निधेः ॥ १४ ॥

कर्णावतंसादिशब्देषु कर्णादीनामवतंसादिपदैरुक्तार्थानामपि निर्देशः सन्निधेः प्रतिपत्त्यर्थमिति सम्बन्धः। न हि कर्णादिशब्दनिर्देशमन्तरेण कर्णादिसन्निहितानामवतंसादीनां शक्या प्रतिपत्तिः कर्तुमिति। यथा— 'दोलाविलासेषु विलासिनीनां कर्णावतंसाः कलयन्ति कम्पम्। लीलाचलच्छ्रवणकुण्डलमापतन्ति। आययुर्भृङ्गमुखराः तूर्णं शेखरशालिनः' ॥ १४ ॥

हिन्दी—कर्णावतंस, श्रवणकुण्डल तथा शिरःशेखर पदों में क्रमशः कर्ण, श्रवण तथा शिर पदों का निर्देश सामीप्य बोध कराने के कारण हुआ है।

कर्णावतंस आदि शब्दों में कर्ण आदि के अवतंस आदि पदों से गतार्थ होने पर भी कर्ण आदि का निर्देश सामीप्य अर्थ के बोध के लिए किया गया है, यह सूत्रगत पदों का सम्बन्ध है। कर्ण आदि पदों के पृथक् प्रयोग बिना कर्ण आदि के समीपस्थ अर्थात् पहने हुए अवतंस आदि की प्रतीति नहीं हो सकती है। यथा—

(१) झूला झूलने में सुन्दरियों के कानों के आभूषण झूल रहे हैं।

(२) लीला से हिलते हुए श्रवण-कुण्डल पर (भ्रमर आदि) गिरते हैं।

(३) भ्रमर के गुञ्जन से युक्त शिरमौर वाले आए ॥ १४ ॥

कर्णावतंसेत्यादि । उक्तार्थानामपीति। अवतंसादिभिः कर्णाभरणादीन्येवोच्यन्त इति अवतंसादिप्रयोगे कर्णादीनां गतार्थत्वमित्यभिप्रायः । अन्वयं द्रढयितुं व्यतिरेकमाह । नहीति—कर्णावतंसाः कलयन्ति कम्पम् । लीलाचलच्छ्रवणकुण्डलमापतन्तीत्यत्र लीलाचलनक्रियायोगादारूढप्रतिपत्तिर्भवत्येव । अतः 'अस्याः कर्णावतंसेन जितं सर्वं विभूषणम् । तथैव शोभतेऽत्यन्तमस्याः श्रवणकुण्डलम्' इत्याद्युदाहर्तव्यम् । आययुरिति स्वष्टार्थम् । धनुर्ज्यादिसूत्र एवैकत्र कर्णावतंसादीनामपि परिगणने कर्तुं शक्येऽपि प्रयोजनभेदं प्रतिपादयितुं सूत्रभेदः कृत इति द्रष्टव्यम् ।। १४ ।।

मुक्ताहारशब्दे मुक्ताशब्दः शुद्धे ॥ १५ ॥

मुक्ताहारशब्दे मुक्ताशब्दो हारशब्देनैव गतार्थः प्रयुज्यते, शुद्धेः प्रतिपत्त्यर्थमिति संबन्धः। शुद्धानामन्यरत्नैरमिश्रितानां हारो मुक्तहारः। यथा—

प्राणेश्वरपरिष्वङ्गविभ्रमप्रतिप्रत्तिभिः ।
मुक्ताहारेण लसता हसतीव स्तनद्वयम् ॥

हिन्दी—मुक्ताहार पद में मुक्तापद का प्रयोग शुद्धि के प्रयोजन से हुआ है ।

'मुक्ताहार' शब्द में 'मुक्ता' शब्द, 'हार' शब्द से ही गतार्थ है किन्तु शुद्धि के बोध के लिए इसका पृथक् प्रयोग हुआ है । शुद्ध अर्थात् अन्य रत्नों से अमिश्रित मुक्ताओं का हार ही मुक्ताहार है । यथा—

प्राणपति के आलिंगन से विलास के गौरव को प्राप्त करके शोभायमान मुक्ताहार से दोनों स्तन हँस से रहे हैं ।। १५ ।।

मुक्ताहारेत्यादि सुबोधम् । ननु हसतीव स्तनद्वयमिति हासोत्प्रेक्षणसामर्थ्यादेव हारस्य रत्नान्तरासंवलनलक्षणा शुद्धिः प्रतीयते, न मुक्ताशब्दसंनिधानात् । अन्यथा हासोत्प्रेक्षैव नोदयमासादयेत् । अतो नेदमुदाहरणमिति चेन्मैवम् । हारशुद्धिप्रतिपत्त्या हासोत्प्रेक्षा हासोत्प्रेक्षया च हारशुद्धिप्रतिपत्तिरिति परस्पराश्रयप्रसङ्गात् । अतो मुक्ताशब्दसन्निधानादेव हारशुद्धिप्रतिपत्तिरिति भवत्युदाहरणमिदम् 'हारो मुक्तावली' त्यभिधानादत्र हारशब्दो मुख्यया वृत्त्या रत्नान्तरासंवलितमुक्तागुणमभिधत्ते । अतः शुद्धेः प्रतिपत्तिः शब्दत एव सिद्धेति यदि पक्षस्तदा पुष्पमालाशब्दे पुष्पपदवन्मुक्ताहारशब्देऽपि मुक्तापदं कस्यचिदुत्कर्षस्य प्रतिपत्त्यै प्रयुज्यते । स चोत्कर्षस्त्रासादिदोषशून्यत्वं, स्थूलवृत्तत्वं, स्वच्छतातिशयश्चेति व्याख्येयम् ।। १५ ।।

पुष्पमालाशब्दे पुष्पपदमुत्कर्षस्य ॥ १६ ॥

पुष्पमालाशब्दे मालाशब्देनैव गतार्थं पुष्पपदं प्रयुज्यते । उत्कर्षस्य प्रतिपत्त्यर्थमिति । उत्कृष्टानां पुष्पाणां माला पुष्पमालेति यथा—'प्रायशः पुष्पमालेव कन्या सा कं न लोभयेत्'। ननु मालाशब्दोऽन्यत्राऽपि दृश्यते । यथा, रत्नमाला, शब्दमालेति । सत्यम् । स तावदुपचरितस्य प्रयोगः । निरुपपदो हि मालाशब्दः पुष्परचनाविशेषमेवाभिधत्त इति ॥ १६ ॥

हिन्दी—पुष्पमाला शब्द में पुष्प पद उत्कर्ष का बोधक है। पुष्पमाला शब्द में माला-शब्द से ही गतार्थ पुष्प पद उत्कर्ष की प्रतीति के लिए प्रयुक्त होता है। उत्कृष्ट पुष्पों की माला को पुष्पमाला कहते हैं, यथा—

प्रायः पुष्पमाला के समान वह कन्या किसको नहीं लुभाती है ?

माला शब्द अन्यत्र भी देखा जाता है यथा रत्नमाला, शब्दमाला इत्यादि। इस स्थिति में माला शब्द से पुष्प पद कैसे गतार्थ हो सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहता है कि उन स्थलों में माला शब्द का प्रयोग औपचारिक है। रत्न, शब्द आदि विशेषणों से रहित माला शब्द पुष्परचित माला को ही बोधित करता है ॥१६॥

पुष्पमालेत्यादि । स्पष्टार्थम् । ननु मालाशब्दस्य रूपहंसमेघादिमालासु प्रयोगदर्शनात् तद्व्यावृत्तिः प्रयोजनं पुष्पपदस्य, न पुनरुक्त इति शङ्कते। नन्विति मालाशब्दः पुष्परचनायां मुख्यो, लाक्षणिकः पुनरन्यत्रेति, वृत्तिभेदान्नायं दोष इति परिहरति । स तावदिति ॥ १६ ॥

करिकलभशब्दस्ताद्रूप्यस्य ॥ १७ ॥

करिकलभशब्दे करिशब्दः कलभेनैव गतार्थः प्रयुज्यते—ताद्रूप्यस्य प्रतिपत्त्यर्थमिति । करी प्रौढकुञ्जरः । तद्रूपः कलभः करिकलभ इति । यथा—'त्यज करिकलभ त्वं प्रीतिबन्धं करिण्याः' ॥ १७ ॥

हिन्दी—करिकलभ शब्द में करि शब्द ताद्रूप्य का बोधक है। (वस्तुतः हाथी (करि) के बच्चे को ही कलभ कहा जाता है अतः कलभ से ही करि-शब्द उक्तार्थ हो जाता है । उक्तार्थक करि शब्द का प्रयोग प्रौढतापूर्ण करिरूपता का बोधक है।)

करिकलभ शब्द में कलभ से ही गतार्थ करिशब्द ताद्रूप्य का बोध कराने के लिए

प्रयुक्त होता है। करि का अर्थ है बलिष्ठ हाथी। उसके समान बलशाली कलभ (हाथी का बच्चा) होने से करिकलभ शब्द का प्रयोग किया गया यथा—

हे करिकलभ, तू करिणी के प्रेमपाश को छोड़ दे ॥ १७ ॥

करिकलभेत्यादि व्यक्तार्थम् ॥ १७ ॥

विशेषणस्य च ॥ १८ ॥

विशेषणस्य विशेषप्रतिपत्त्यर्थमुक्तार्थस्य पदस्य प्रयोगः। यथा—'जगाद मधुरां वाचं विशदाक्षरशालिनीम्' ॥ १८ ॥

हिन्दी—विशेष का भी प्रयोग उक्तार्थ होने पर विशेष अर्थबोध के लिए होता है।

विशेषण के विशेष अर्थ जानने के लिए उक्तार्थ पद का प्रयोग होता है। यथा—

विशिष्ठ अक्षरों से युक्त मधुर वाणी बोला। (यहाँ गद् (जगाद) धातु से ही वाचम् उक्तार्थ है) ॥ १८ ॥

विशेषणस्येति। शब्दान्तरस्य सन्निधानादुक्तार्थोऽपि विशेष्यशब्दः प्रयुज्यते स च विशेषणस्य प्रतिपत्त्यै भवति। जगादेत्यनेन गतार्थस्य वाक्शब्दस्य माधुर्यवर्णवैशद्यलक्षणविशेषणप्रतिपत्त्यै प्रयोग इष्यत इति वाक्यार्थः। 'जगाद मधुरोदारविशदाक्षरमीश्वरः' इति विन्यासकल्पनायां विशेषणस्य प्रयोगः क्रियाविशेषणत्वेऽप्युपपद्यते। अतो 'नीलनीरजविकासहारिणा कान्तमीक्षणयुगेन वीक्षते' इत्युदाहार्यम् ॥ १८ ॥

तदेतत् सार्थकत्वसमर्थनमभियुक्तपदनिर्वाहाय, न सर्वत्रेति नियन्तुमाह—

तदिदं प्रयुक्तेषु ॥ १९ ॥

तदिदमुक्तं प्रयुक्तेषु, नाप्रयुक्तेषु। न हि, भवति यथा—'श्रवणकुण्डलमि'ति। यथा—'नितम्बकाञ्ची'—त्यपि। यथा वा—'करिकलभ' इति। तथा—'उष्ट्रकलभ' इत्यपि। अत्र श्लोकः—

कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मितिः।
सन्निधानादिबोधार्थं स्थितेष्वेतत् समर्थनम् ॥ १९ ॥

हिन्दी—यह उक्तार्थ पद का प्रयोग महाकवि प्रयुक्त स्थलों में ही होता है।

वह उक्तार्थक प्रयोग प्राचीन प्रयुक्त स्थलों में ही होना चाहिए, नवीन अप्रयुक्त स्थलों में नहीं। श्रवणकुण्डल की तरह नितम्बकाञ्ची प्राचीन कविकृतियों में अमान्य हैं,

इन उक्तार्थ पदों का प्रयोग नवीन कृतियों में नहीं होना चाहिये। यथा करिकलभ, होता है परन्तु उष्ट्रकलभ नहीं इस सम्बन्ध में श्लोक है :—

कर्णावतंस आदि पदों से उक्तार्थक कर्ण आदि के प्रयोग सामीप्य आदि बोध किए जाते हैं यह समर्थन प्राचीन कवियों के लिए ही मान्य है॥ १९॥

तदिदमिति। प्रयुक्तेषु, अभियुक्तैरिति शेषः। नाऽप्रयुक्तेषु। तथोक्तं काव्यप्रकाशे 'कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मितिः। सन्निधानादिबोधार्थं स्थितेष्वेतत् समर्थनम्' इति। अप्रयुक्तानि दर्शयति। यथेति॥ १९॥

इत्थमेकार्थं समर्थ्य सन्दिग्धं समर्थयितुमाह—

संशयकृत् सन्दिग्धम्॥ २०॥

यद्वाक्यं साधारणानां धर्माणां श्रुतेर्विशिष्टानां वा श्रुतेः संशयं करोति तत् संशयकृत् सन्दिग्धमिति। यथा—'स महात्मा भाग्यवशान्महापदमुपागतः'। किं भाग्यवशान्महापदमुपागतः, आहोस्विदभाग्यवशान्महतीमापदमिति संशयकृद् वाक्यं, प्रकरणाद्यभावे सतीति॥२०॥

हिन्दी—सन्देह कारक वाक्य सन्दिग्ध नामक वाक्यार्थ दोष है।

जो वाक्य साधारण धर्मों की श्रुति से अथवा विशिष्ट धर्मों की श्रुति से सन्देह उत्पन्न करता है वह सन्देह कारक होने के कारण सन्दिग्ध दोष है। यथा—

वह महात्मा भाग्यवश महापद को प्राप्त हुआ। क्या भाग्यवश महान् पद को प्राप्त हुआ अथवा अभाग्यवश महाऽऽपद् को प्राप्त हुआ, यह प्रकरण आदि के अभाव में सन्धि-विच्छेद के कारण सन्देहजनक वाक्य है॥ २०॥

संशयकृत्सन्दिग्धमिति—व्याचष्टे। यद्वाक्यमिति। विशिष्टानामिति। असाधारणानामित्यर्थः। उक्तलक्षणमुदाहरणे योजयति किम्भाग्यवशादिति। लक्षणं विशिनष्टि। प्रकरणादीति। अत्रादिपदेन संयोगादयो गृह्यन्ते। यथोक्तं हरिणा—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्याऽन्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्याऽनवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥ २०॥ इति।

अप्रयुक्तं व्यक्तयितुमाह—

मायादिकल्पितार्थमप्रयुक्तम्॥ २१॥

मायादिना कल्पितोऽर्थो यस्मिंस्तन्मायादिकल्पितार्थमप्रयुक्तम् । अत्र स्तोकमुदाहरणम् ॥ २१ ॥

हिन्दी--माया (छल) आदि से विशिष्ट कल्पित अर्थ को अप्रयुक्त वाक्यार्थ दोष कहते हैं ।

माया (छल) आदि से विकल्पित अर्थ है जिस वाक्य में वह मायादिविकल्पितार्थक वाक्य अप्रयुक्त है । यहां उदाहरण कम उपलब्ध हैं ॥ २१ ॥

मायादिकल्पितार्थमप्रयुक्तमिति । मायादिना कुशलमतिकुण्ठनपटिष्ठकुहनादिना कल्पितोऽर्थो यस्मिंस्तद्वाक्यमप्रयुक्तं भवति । अत्र स्तोकमुदाहरणमिति । विवृतं हि विदग्धमुखमण्डने—

प्राहुर्व्यस्तं समस्तं च दिर्व्यस्तं द्विस्समस्तकम् ।
तथा व्यस्तसमस्तं च दिर्व्यस्तकसमस्तके ॥ २१ ॥ इत्यादिना ।

अपक्रममालोचयितुमुपक्रमते—

क्रमहीनार्थमपक्रमम् ॥ २२ ॥

उद्देशितानामनुद्देशितानां च क्रमः सम्बन्धः । तेन विहीनोऽर्थो यस्यिस्तत् क्रमहीनार्थमपक्रमम् । यथा—'कीर्तिप्रतापौ भवतः सूर्याचन्द्रमसोः समौ' । अत्र कीर्तिश्चन्द्रमसस्तुल्या । प्रतापः सूर्यस्य तुल्यः । सूर्यस्य पूर्वनिपातादक्रमः । अथवा प्रधानस्यार्थस्य निर्देशः क्रमः । तेन विहीनोऽर्थो यस्मिंस्तदपक्रमम् । 'यथा तुरङ्गमथ मातङ्गं प्रयच्छास्मै मदालसम्' ॥ २२ ॥

हिन्दी—क्रमहीन अर्थवाला वाक्य अपक्रम नामक वाक्यार्थ दोष है ।

उद्देशितों (पूर्वकथितों) तथा अनुद्देशितों (अकथितों) का सम्बन्ध ही क्रम कहलाता है । उससे हीन अर्थ है जिस वाक्य में वह क्रमहीनार्थक होने के कारण अपक्रम नामक वाक्यार्थ दोष है । यथा—

आपकी कीर्ति और प्रताप सूर्य और चन्द्रमा के समान हैं ।

यहां कीर्ति चन्द्रमा के समान है और प्रताप सूर्य के तुल्य, यही कवि का तात्पर्य है । ऐसे अर्थ के लिए चन्द्र पद का पूर्व निपात होना चाहिये । किन्तु यहां सूर्य पद के पूर्वनिपात से अपक्रम दोष है । अथवा प्रधान अर्थ का पूर्व निर्देश क्रम है । उससे हीन अर्थ है जिस वाक्य में वह अपक्रम है । यथा—

इसे घोड़ा या मदमत्त हाथी प्रदान करें ।
(यहाँ प्रधानार्थक हाथी का पूर्व निर्देश उचित है) ॥ २२ ॥

क्रमहीनार्थमपक्रममिति । प्रतियोगिप्रतिपत्तिपूर्वकत्वात् क्रमाभावप्रतिपत्तेः प्रथमतः क्रममेकं प्रथयितुमाह उद्देशितानामिति । तेन विहीनस्तदभाववान् । उदाहरति यथेति । उज्ज्वलार्थमन्यं क्रममभिधत्ते अथवेति । प्रधानस्य अभ्यर्हितस्येत्यर्थः । मातङ्गं, तुरङ्गं वा प्रयच्छेति वक्तव्ये व्युत्क्रमेणोक्तं वाक्यमस्य कवेरनभिज्ञतामापादयतीति दुष्टम् ॥ २२ ॥

लोकविरुद्धं दर्शयितुमाह—

देशकालस्वभावविरुद्धार्थानि लोकविरुद्धानि ॥ २३ ॥

देशकालस्वभावैर्विरुद्धोऽर्थो येषु तानि देशकालस्वभावविरुद्धार्थानि वाक्यानि लोकविरुद्धानि। अर्थद्वारेण लोकविरुद्धत्वं वाक्यानाम्। देशविरुद्धं यथा—

सौवीरेष्वस्ति नगरी मधुरा नाम विश्रुता ।
आक्षोटनालिकेराढ्या यस्याः पर्यन्तभूमयः ॥

कालविरुद्धं यथा—'कदम्बकुसुमस्मेरं मधौ वनमशोभत' । स्वभावविरुद्धं यथा—'मत्तालिमङ्गमुखरासु च मञ्जरीषु सप्तच्छदस्य तरतीव शरन्मुखश्रीः । सप्तच्छदस्य स्तवका भवन्ति, न मञ्जर्य इति स्वभावविरुद्धम् । तथा—

भृङ्गेण कलिकाकोशस्तथा भृशमपीडयत ।
यथा गोष्पदपूरं हि ववर्ष बहुलं मधु ॥

कलिकायाः सर्वस्या मकरन्दस्यैतावद् बाहुल्यं स्वभावविरुद्धम् ॥ २३ ॥

हिन्दी—देश, काल और स्वभाव से विरुद्ध अर्थ वाले वाक्य लोकविरुद्ध वाक्यार्थ हैं ।

देश, काल तथा स्वभाव से विरुद्ध अर्थ है जिन वाक्यों में वे वाक्य लोकविरुद्ध वाक्य कहलाते हैं । वाक्यों की लोकविरुद्धता अर्थ के द्वारा ही होती है ।

देशविरुद्ध यथा—

सौवीर देश में मधुरा नाम की नगरी प्रसिद्ध है जिसके आस-पास अखरोट और नारियल पर्याप्त पाए जाते हैं।

(वस्तुतः मधुरा (मथुरा) स्रुघ्न प्रान्त में यमुनातट पर स्थित है तथा वहाँ करील और बैर अधिक पाए जाते हैं। अतः मथुरा का उपर्युक्त वर्णन देशविरुद्ध है।)

कालविरुद्ध यथा—

वसन्त ऋतु में कदम्ब पुष्पों से मुस्कुराता हुआ वन सुशोभित होता था।

(वस्तुतः वसन्त में कदम्ब का पुष्पित होना कालविरुद्ध है।)

स्वभावविरुद्ध यथा—

मत्त भ्रमर रूप स्तुतिपाठकों के गुञ्जन से मुखरित सप्तच्छद की मञ्जरियों में शरत्कालीन प्रारम्भिक शोभा तैरती हुई सी मालूम होती है।

वस्तुतः सप्तच्छद के स्तवक होते हैं, मञ्जरियाँ नहीं। अतः यह वर्णन स्वभावविरुद्ध है।

तथा—भ्रमर समूह द्वारा कली का कोश बारंबार इस तरह दबाया गया कि गाय के खुर को भर देने योग्य मधु बह गया।

कली के मकरन्द का इतनी अधिक मात्रा में निकलना स्वभाव विरुद्ध है ॥ २३ ॥

देशकालस्वभावविरुद्धार्थानीति । अर्थद्वारेणेति । विरुद्धाऽर्थप्रतिपादकत्वाद्वाक्यानि विरुद्धानि व्यपदिश्यन्ते। क्रमेणोदाहरति। देशविरुद्धमिति। सौवीरेष्विति। आक्षोटाः शैलोत्पन्ना गुडफलवृक्षाः। 'पीलौ गुडफलस्रंसी तस्मिंस्तु गिरिसम्भवे। आक्षोटकन्दरालौ द्वौ' इत्यमरः। यमुनातीरवर्तिन्या मधुराया नगर्याः। सौवीरेषु देशेष्वसम्भवाद् देशविरोधः। कदम्बेति। मधुर्वसन्तः। 'चैतवसन्तमधुद्रुमदैत्यविशेषेषु पुंसि मधुशब्दः' इति नानार्थरत्नमाला। प्रावृषि प्रसवोद्गमशालिनः कदम्बस्य वसन्ते प्रसूनप्रसङ्गासम्भवात् कालविरोधः। मत्तालिमङ्खेति। मङ्खः स्तुतिपाठकः। 'नान्दीकारश्चाटुकारो मङ्खश्च स्तुतिपाठकः' इति वैजयन्ती। स्तबका गुच्छाः। 'स्याद् गुच्छकस्तु स्तबकः' इत्यमरः। ते नाम स्तबकाः पुष्पाणि पुञ्जीभूय यत्र प्रवर्तन्ते। मञ्जर्यो वल्लर्यः। 'वल्लरी मञ्जरी स्त्रियाम्' इत्यमरः। यत्राऽऽयामवती प्रसूनपरिपाटी ता मञ्जर्यः। अतः सप्तच्छदस्य स्वभावतो गुच्छा एव, न तु मञ्जर्यः सम्भवन्तीति स्वभावविरुद्धम्। भृङ्गेणेति। कलिका कोरकः। अनुद्भिन्नमुकुला कलिका, कलिका कोशः। गोष्पदपूरणपर्याप्तस्य मधुनोऽसम्भवात् स्वभावविरुद्धम्। गोष्पदपूरमित्यत्र गोः पदं प्रमाणतयाऽस्य वर्षस्येत्यस्मिन्नर्थे गोष्पदमिति भवति। 'गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेषु' इति गोष्पदशब्दो निपातितः। गोष्पदं पूरयित्वा ववर्ष गोष्पदपूरं ववर्ष। 'वर्षप्रमाण ऊलोपश्चान्यतरस्याम्' इति णमुल्। लोकविरुद्धमपि क्वचित् कविसमयप्रसिद्धेः

प्रावल्यान्न दुष्टम् । यथा 'सुसितवसनालङ्कारायां कदाचन कौमुदीमहसि सदृशि स्वैरं यान्त्यां गतोऽस्तमभूद्विधुः । तदनु भवतः कीर्तिः केनाप्यगीयत येन सा प्रियगृहमगान्मुक्ताशङ्का क्व नाऽसि शुभप्रदः' इति । एवमन्यत्र लोकयात्रा-कविमर्यादयोर्विप्रतिषेधे पूर्वदौर्बल्यमवगन्तव्यम् ।। २३ ।।

विद्याविरुद्धानि विवरीतुमाह—

कलाचतुर्वर्गशास्त्रविरुद्धार्थानि विद्याविरुद्धानि ।। २४ ।।

कलाशास्त्रैश्चतुर्वर्गशास्त्रैश्च विरुद्धोऽर्थो येषु तानि कलाचतुर्वर्गशास्त्र-विरुद्धार्थानि वाक्यानि विद्याविरुद्धानि । वाक्यानां विरोधोऽर्थद्वारकः । कलाशास्त्रविरुद्धं यथा—'कालिङ्ग लिखितमिदं वयस्य पत्रं पत्रज्ञैर-पतितकोटिकण्टकाग्रम् ।' कलिङ्गं पतितकोटिकण्टकाग्रमिति पत्रविदा-माम्नायः । तद्विरुद्धत्वात् कलाशास्त्रविरुद्धम् । एवं कलान्तरेष्वपि विरोधोऽभ्यूह्यः । चतुर्वर्गशास्त्रविरुद्धानि तूदाह्रियन्ते—'कामोपभोग-साफल्यफलो राज्ञा महीजयः' । 'धर्मफलोऽश्वमेधादियज्ञफलो वा राज्ञां महीजयः' इत्यागमः । तद्विरोधाद्धर्मशास्त्रविरुद्धमेतद्वाक्यमिति । 'अह-ङ्कारेण जीयन्ते द्विषन्तः किं नयश्रिया' । द्विषज्जयस्य नयमूलत्वं स्थितं दण्डनीतौ । तद्विरोधादर्थशास्त्रविरुद्ध वाक्यमिति । 'दशनाङ्क-पवित्रितोत्तरोष्ठं रतिखेदालसमाननं स्मरामि' । 'उत्तरोष्ठमन्तर्मुखं नयनान्तमिति मुक्त्वा चुम्बननखरदशनस्थानानि इति कामशास्त्रे स्थितम् । तद्विरोधात् कामशास्त्रविरुद्धार्थं वाक्यमिति 'देवताभक्तितो मुक्तिर्न तत्त्वज्ञानसंपदा' । एतस्यार्थस्य मोक्षशास्त्रे स्थितत्वात् तद्वि-रुद्धार्थम् । एते वाक्यवाक्यार्थदोषास्त्यागाय ज्ञातव्याः । ये त्वन्ये शब्दार्थदोषाः सूक्ष्मास्ते गुणविवेचने लक्ष्यन्ते । उपमादोषाश्चोपमा-विचार इति ।। २४ ।।

इति श्रीकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ दोषदर्शने द्वितीयेऽधिकरणे
द्वितीयोऽध्यायः । वाक्यवाक्यार्थदोषविभागः ।
समाप्तं चेदं दोषदर्शनं द्वितीयमधिकरणम् ।।२।।

हिन्दी—कला और चतुर्वर्ग शास्त्रों के विरुद्ध अर्थ युक्त वाक्य विद्याविरुद्ध हैं।

कलाशास्त्रों और चतुर्वर्ग शास्त्रों से विरुद्ध अर्थ है जिन वाक्यों में वे वाक्य कला-चतुर्वर्गशास्त्रविरुद्ध होने के कारण विद्याविरुद्ध हैं। वाक्यों का विरोध अर्थद्वारा होता है।

कलाशास्त्रविरुद्ध यथा :—

हे मित्र, पत्रलेखक विज्ञों द्वारा यह कलिङ्ग शैली का लिखा हुआ पत्र लौहमय खड़े नुकीले कण्टक के अग्रभाग से लिखा गया है। कि कलिङ्ग शैली में खड़ी नोक से नहीं वल्कि गिरी नाम से लिखने का विधान है, यह पत्र लेखन पण्डितों में प्रसिद्ध है। इसके विरद्ध होने के कारण यह कलाशास्त्र विरुद्ध है। इसी तरह अन्य कलाओं में भी विरोध समझना चाहिए।

किन्तु चतुर्वर्गशास्त्र विरुद्ध (वाक्य) उदाहृत किए जाते हैं :—

राजाओं का पृथ्वी-विजय कामोपभोग-रूप-फलवान् है।

(इस उदाहरण में पृथ्वी-विजय का फल कामोपभोग को कहा गया है जो कि धर्मशास्त्र विरुद्ध है।) आगम कहता है कि राजाओं के पृथ्वी-विजय का फल धर्म अथवा अश्वमेधादि यज्ञ ही है। उस (आगम) से विरुद्ध होने के कारण यह वाक्य धर्मशास्त्र विरुद्धार्थक है।

शत्रु अहंकार से जीते जाते हैं नीति से क्या प्रयोजन है?

दण्डनीति में शत्रुविजय को नीतिमूलक कहा गया है। यहाँ उसके विरुद्ध प्रतिपादित होने से यह वाक्य अर्थशास्त्र विरुद्धार्थक है।

कामशास्त्र से विपरीत विद्याविरुद्ध का उदाहरण यथा—

दन्त चिह्नों से युक्त उत्तरोष्ठवाले और रतिजनित खेद से अलस मुख का मैं स्मरण कर रहा हूँ।

उत्तरोष्ठ, मुख के अन्दर तथा नेत्रप्रान्त को छोड़कर चुम्बन, नखक्षति तथा दशनक्षति के स्थान विहित है, ऐसा कामशास्त्र में कहा गया है। किन्तु इसके विरुद्ध होने के कारण यह वाक्य कामशास्त्र विरुद्धार्थक है।

देवता की भक्ति से मुक्ति मिलती है, तत्त्व ज्ञान की सम्पत्ति से नहीं।

(मोक्षशास्त्र में ऐसा नहीं कहा गया है। मोक्षशास्त्रानुसार ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः अर्थात् ज्ञान के विना मुक्ति नहीं मिल सकती है।) मोक्षशास्त्र में ऐसा नहीं रहने के कारण यह वाक्य मोक्षशास्त्रविरुद्धार्थक है।

ये वाक्यदोष तथा वाक्यार्थ दोष त्याग के लिए ज्ञातव्य हैं। इनके अतिरिक्त जो

शब्द और अर्थ के सूक्ष्म दोष हैं वे गुण-विवेचन के प्रसङ्ग में प्रतिपादित होंगे, और उपमागत दोष उपमा-विचार क क्रम में कहे जाएँगे ॥ २४ ॥

काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में दोषदर्शन नामक द्वितीय अधिकरण में
द्वितीय अध्याय दोषदर्शन नामक द्वितीय अधिकरण भी समाप्त ।

कलाचतुर्वर्गेति। शास्त्रपदस्योभयत्र सम्बन्धः प्रतिपाद्यस्य दुष्टत्वे प्रतिपादकमपि दुष्टं भवतीत्याह। वाक्यानामिति। कलाशास्त्रविरुद्धमुदाहरति। कालिङ्गमिति। कलिङ्गजनेषु दृष्टं पत्रं कालिङ्गमित्युच्यते–तच्च पतितकोटिकण्टकाग्रतया लेखनीयम्। तत्रार्थे तच्छास्त्रफक्किकामाह। कालिङ्गं पतितकोटिकण्टकाग्रमिति। पत्रविदामाम्नाय इति। विरोधस्तु परिस्फुट एव। एवमिति। भरतकलाविरोधो यथा–'रणद्भिराघट्टनया नभस्वतः' इत्यादावानुलोम्येन प्रातिलोम्येन वा नभस्वत्संचारक्रमेण स्वरा उत्पद्यन्ते, न पुनर्वैचित्र्येणेति कुतो रागमसम्बन्धिनीनां मूर्च्छनानां स्फुटीभाव इत्यादि द्रष्टव्यम्। धर्मार्थकाममोक्षाश्चतुर्वर्गः। 'त्रिवर्गो धर्मकामार्थैश्चतुर्वर्गः समोक्षकैः'। इत्यमरः। तत्प्रतिपादकशास्त्राणि चतुर्वर्गशास्त्राणि। तद्विरुद्धानि क्रमेणोदाहर्तुं प्रतिजानीते—चतुर्वर्गेति। तत्र धर्मशास्त्रविरुद्धमुदाहरति–कामोपभोगेति। तत्रागमवाक्यं दर्शयति—अश्वमेधादीति। महीजयस्य राज्ञामश्वमेधादिफलत्वेन धर्मशास्त्रेऽभिधानात्। तद्विरुद्धं कामोपभोगसाकल्यफलवाक्यम्। यथा वा 'सदा स्नात्वा निशीथिन्यां सकलं वासरं बुधः। नानाविधानि शास्त्राणि व्याचष्टे च शृणोति च'। अत्र ग्रहोपरागं विना रात्रौ स्नानं, धर्मशास्त्रविरुद्धम्। 'रात्रौ स्नानं न कुर्वीत् राहोरन्यत्र दर्शनाद्' इति स्मृतेः। अर्थशास्त्रमत्र दण्डनीति। यत्र पुनरर्थकामौ प्रधानं, लोकयात्रानुवृत्ति मात्राय धर्मः सा दण्डनीतिः। यस्या भगवान् बृहस्पतिः सवक्ता। तद्विरुद्धमुदाहरति अहङ्कारेणेति। विरोधं विवृणोति। द्विषज्जयस्येति। कामशास्त्रविरुद्धं दर्शयति। दशनेतिविरोधं विवेचयति उत्तरोष्ठमिति। यत्र त्रिवर्गस्य परस्परानुपरोधादुपयोगोपदेशः। यस्य भगवान् भार्गव प्रणेता। उक्तं हि रतिरहस्ये—'अङ्गुष्ठे पदगुल्फजानुजघने' इत्यादि। मोक्षशास्त्रविरुद्धमुदाहरति देवताभक्तित इति। विरोधं व्युत्पादयति एतस्येति। 'चतुर्विधा भजन्ते मां जनः सुकृतिनोऽर्जुन। आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ। तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते' इत्युक्तनीत्या या ज्ञानलक्षणा भक्तिः साऽत्र न विवक्षिता। किन्त्वार्तत्वादिप्रयुक्ता त्रिरूपाज्ञानरूपायास्तु भक्तेर्मोक्षो भवत्येव। तदुक्तं तत्रैव। 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' इति। अतो, न तत्त्वज्ञानसंपदे-

त्येतत्, 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' इत्यादिमोक्षशास्त्रविरुद्धम् । प्रतिपादितानाममीषां दोषाणां परिज्ञानस्य फलमाह एत इति । ये त्वन्य इति । सूक्ष्माः काव्यसौन्दर्याक्षेपाऽनतिक्षमाः, ओजोविपर्ययात्मा दोष इत्यारभ्य तदुदाहरणप्रत्युदाहरणाभ्यां वक्ष्यन्ते, ते गुणविवेचने यथायथमवबोध्याः । यद्येवं तर्हि स्थूलत्वादुपमादोषादयो दोषविवेचने विविच्यन्तामित्यत आह —उपमादोषाश्चेति । उपमाविचारे तद्दोषविचारणं प्रति सौकर्याय भवतीति भावः ।। २४ ।।

इति कृतरचनायामिन्दुवंशोद्वहेन
त्रिपुरहरधरित्रीमण्डलाखण्डलेन ।
ललितवचसि काव्यालंक्रियाकामधेना-
वधिकरणमयासीत् पूर्तिमेतद् द्वितीयम् ।। १ ।।

इति श्रीगोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालविरचितायां वामनालङ्कारसूत्रवृत्तिव्याख्यायां काव्यालङ्कारकामधेनौ दोषदर्शने द्वितीयेऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः ।। २-२ (२) ।।

तृतीयाधिकरणे प्रथमोऽध्यायः

देव्याः कृतिषु दीव्यन्त्या वाचां वैचित्र्यकारिणीम् ।
चेतोहरचमत्कारां प्रस्तौमि गुणविस्तृतिम् ॥ १ ॥

अथ गुणविवेचनं तृतीयमधिकरणमारभ्यते—

यद्विपर्ययात्मानो दोषास्तान् गुणान् विचारयितुं गुणविवेचनमधिकरणमारभ्यते । तत्रौजःप्रसादादयो गुणा यमकोपमादयस्त्वलङ्कारा इति स्थितिः काव्यविदाम् । तेषां किं भेदनिबन्धनमित्याह—

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः ॥ १ ॥

ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः । ते चौजःप्रसादादयः । न यमकोपमादयः । कैवल्येन तेषामकाव्यशोभाकरत्वात् । ओजःप्रसादादीनां तु केवलानामस्ति काव्यशोभाकरत्वमिति ॥ १ ॥

हिन्दी—जिनके विपर्यय स्वरूप दोष होते हैं उन गुणों का विचार करने के लिए गुणविवेचन नामक अधिकरण आरम्भ किया जाता है । उसमें ओज, प्रसाद आदि गुण और यमक, उपमा आदि अलङ्कार-हैं, यह काव्यज्ञों का सिद्धान्त है । उन (गुण और अलङ्कार) में क्या भेद का कारण है उसे निरूपित करने के लिए कहते हैं--

काव्य-शोभा के उत्पादक धर्म गुण होते हैं ॥ १ ॥

उक्तवक्तव्यसङ्गतिमुल्लिङ्गयति—यद्विपर्ययात्मानो दोषा इति । निर्वृत्ते दोषनिरूपणे तत्प्रतिभटानां गुणानां निरूपणं लब्धावसरमिति सङ्गतिः । गुणा अलङ्कारेभ्यो विविच्यन्ते । ते च परस्परं विविच्यन्ते विभज्यन्तेऽस्मिन्निति गुणविवेचनं नामाधिकरणमारभ्यते । 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते । काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः' इति दण्डिमतं खण्डयितुं गुणालङ्कारभेदं दर्शयिष्यन् पीठिकां प्रतिष्ठापयति—तत्रेति । काव्यविदां कविकर्ममर्मविदाम् ओजःप्रसादादीनां गुणा इति यमकोपमादीनामलङ्कारा इति च विभिन्नव्यवहारविषयत्वं व्यवस्थितमित्यर्थः । उत्तरसूत्रं प्रश्नपूर्वकं प्रसञ्जयति । तेषामिति । तेषां गुणालङ्काराणां भेदस्य किं निबन्धनं कारण-

मिति प्रश्नः । व्याचष्टे—ये खल्विति । गुणा वस्तुतो रीतिनिष्ठा अपि उपचाराच्छब्दधर्मा इत्युक्तम् । एतच्च गुणोद्देशसूत्रे कुशलमुपपादयिष्यामः । गुणशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमयोगाऽन्ययोगव्यवच्छेदाभ्यां परिच्छेत्तुं प्रक्रमते । ते चेति । अन्ययोगव्यच्छेदं तावदाख्याति—कैवल्येनेति । तेषामलङ्काराणां कैवल्येन गुणसाहचर्याभावेन काव्यशोभाकलनाक्षमत्वादित्यर्थः । अयोगं व्यवच्छिनत्ति । ओजः प्रसादादीनां त्विति । केवलानामसाहचर्याणामस्त्येवेति सम्बन्धः ॥ १ ॥

अलङ्कारपदप्रवृत्तिनिमित्तमावेदयितुमाह—

तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः ॥ २ ॥

तस्याः काव्यशोभाया अतिशयस्तदतिशयस्तस्य हेतवः । तुशब्दो व्यतिरेके । अलङ्काराश्च यमकोपमादयः । अत्र श्लोकौ—

युवतेरिव रूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव ।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः ॥ १ ॥
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः ।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते ॥ २ ॥

हिन्दी—शब्द एवम् अर्थ के जो धर्म काव्य की शोभा को उत्पन्न करते हैं वे गुण हैं। वे (गुण) ओज, प्रसाद आदि हैं. यमक, उपमा आदि नहीं। क्योंकि केवल वे (यमक, उपमा आदि अलङ्कार) काव्य की शोभा को उत्पन्न नहीं कर सकते। किन्तु ओज, प्रसाद आदि गुण तो केवल भी अर्थात् अलङ्कारों के बिना भी, काव्य की शोभा को उत्पन्न कर सकते हैं।

उस काव्यशोभा के अतिशय के हेतु अलङ्कार हैं ॥ २ ॥

तदतिशयहेतव इति । जडबुद्धिषु जातानुग्रहो विग्रहमाह—तस्य इति । तुशब्द इति । व्यतिरेको भेदः । 'तुः स्याद्भेदेऽवधारणे' इत्यमरः । अमुमेवार्थमन्वयव्यतिरेकाभ्यामभियुक्तसंवादेन द्रढयति । अत्र श्लोकाविति । शुद्धा अलङ्काराऽसङ्कलिता गुणा ओजःप्रसादादयो लावण्यादयश्च यस्य तत् । गुणमात्रविशिष्टमपि काव्यं युवते रूपमिव स्वदते रोचते रसिकेभ्य इति । निरन्तराभिर्निबिडाभिः । अलङ्कारा यमकोपमादयः कटकादयश्च तेषां विकल्पा विच्छित्तयस्तेषां कल्पनाभी रचनाभिः । विहितप्रणयं रचितानुबन्धं सत् काव्यं युवते रूपमिवातीवातिमात्रं स्वदते । इत्यन्वयमुक्त्वा व्यतिरेकमाह यदीति । वचः काव्यात्मकं गुणेभ्यश्च्युतं यदि, तद्वचो, यौवनवन्ध्यं लावण्यशून्यमङ्ग-

नाया वपुरिव भाति। तदा जनदयितान्यपि लोकप्रियाण्यपि, अलङ्करणानि, नियतमवश्यं, दुर्भगत्वं सौन्दर्यवैधुर्यादनादरणीयत्वं संश्रयन्ते इति श्लोकद्वयार्थः ॥ २ ॥

विरुद्धधर्माध्यासो भावं भिन्द्यादिति न्यायेन नित्यत्वानित्यत्वाभ्यां गुणालङ्कारभेदः सिद्ध इति दर्शयितुमाह—

पूर्वे नित्याः ॥ ३ ॥

पूर्वे गुणा नित्याः। तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः ॥ ३ ॥

हिन्दी—उस काव्यशोभा का अतिशय तदतिशय है, उसके हेतु अलङ्कार हैं। तु शब्द का प्रयोग गुण और अलङ्कार के भेदप्रदर्शन के लिए हुआ है। यमक और उपमा आदि अलङ्कार हैं। इस प्रसङ्ग में दो श्लोक हैं—

शुद्धगुण युक्त वह काव्य युवति के अलङ्कारविहीन शुद्ध रूप के समान अत्यन्त रुचिकर होता है। अत्यन्त अलङ्कार-रचनाओं से विभूषितरूप अत्यानन्ददायक होता है।

यदि काव्य ओज, प्रसाद आदि गुणों से शून्य हो तो स्त्री के यौवन शून्य देह के समान वह सुन्दर नहीं होती और लोकप्रिय गहने भी शोभन नहीं होते ॥ २ ॥

हिन्दी—गुण और अलङ्कार इन दोनों में प्रथम नित्य हैं।

पूर्व अर्थात् गुण नित्य हैं, क्योंकि उनके बिना काव्य की शोभा उत्पन्न नहीं होती ॥ ३ ॥

पूर्वे नित्या इति। पूर्वे गुणा नित्या इत्युक्तेऽन्ये पुनरलङ्कारा अनित्या इति गम्यते एव। गुणानां नित्यत्वे हेतुस्तैर्विनेति। गुणान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् काव्यशोभाया इत्यर्थः ॥ ३ ॥

एवमभेदमतं खण्डितम्। अथोक्तानुवादपूर्वकशुद्देशसूत्रमुदीरयति—

एवं गुणालङ्काराणां भेदं दर्शयित्वा शब्दगुणनिरूपणार्थमाह—

ओजःप्रसादश्लेषसमतासमाधिमाधुर्यसौकुमार्योदारताऽर्थव्यक्तिकान्तयो बन्धगुणाः ॥ ४ ॥

बन्धः पदरचना, तस्य गुणाः बन्धगुणाः ओजःप्रभृतयः ॥ ४ ॥

हिन्दी—इस तरह गुणों तथा अलङ्कारों के भेद दिखाकर शब्दगत गुणों के निरूपण करते हैं।

ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, अर्थव्यक्ति और कान्ति (ये दश) बन्ध के गुण हैं।

बन्ध का अर्थ है पद रचना, उसके गुण ओज, प्रभृति बन्धगुण हैं ॥ ४ ॥

एवमिति । वस्तुतो रीतिधर्मत्वेऽपि गुणानामात्मलाभस्य शब्दार्थाधीनत्वात् तस्य निरूप्यत्वाच्च शब्दार्थधर्मत्वमुपचारादुक्तम् । अथ शब्दनिष्ठा गुणा इदानीं मुख्यया वृत्त्या रीतिधर्मत्वमिति आत्मसिद्धान्तमाविष्कुर्वन् सौत्रं पदं व्याकरोति–बन्धः पदरचना तस्य गुणा इति । न तु शब्दार्थयोरिति शेषः। एवञ्च सत्युपक्रमोपसंहारलिङ्गैराचार्यतात्पर्यपर्यालोचनायामात्मभूतरीतिनिष्ठा गुणास्तच्छरीरभूतशब्दार्थनिष्ठाः पुनरलङ्कारा इति निश्चीयते। अतो मन्यामहे गुणत्वादोजःप्रभृतीनामात्मनि समवायवृत्त्या स्थितिरलङ्कारत्वाद्यमकोपमादीनां शरीरे संयोगवृत्त्या स्थितिरिति ग्रन्थकारस्याभिमतमिति । न ह्यविपश्चिदपि कश्चिदभिजानीयादभिवदेद्वा न गुणानामात्मनि रीताविवालङ्काराणां शरीरभूते शब्दार्थयुगले समवायवृत्त्या स्थितिरिति । एवञ्च गुणाऽलङ्काराणामुभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरित्यभिमन्यमानैर्भेदाभिधानं गड्डरिकाप्रवाहनयेनेति यदुक्तं तन्निरस्तम् । किञ्च रीतिरात्मा काव्यस्येति शब्दार्थयुगलकाव्यशरीरस्य रीतिमात्मानमुपपाद्य, विशिष्टा पदरचना रीतिरिति रीतिं लक्षयित्वा, विशेषो गुणात्मेति गुणमात्रस्यैवात्मभूतरीतिनिष्ठत्वे प्रतिष्ठापिते यमकोपमादीनामलंकाराणां तच्छरीरभूतशब्दार्थनिष्ठत्वमर्थात् समर्थितं भवति । अत एवौजःप्रसादादीनां गुणत्वं यमकोपमादीनामलंकारत्वमिति च व्यपदेशभेदोऽप्युपपद्यते । एवञ्च सति पूर्वे नित्या इति सूत्रे गुणानां नित्यत्वमलंकाराणाम् अनित्यत्वमित्यादि सूत्रयता सूत्रकृता गुणानां काव्यव्यवहारप्रयोजकत्वमुक्तं भवति । तथाच परमते व्यङ्ग्यस्य प्राधान्ये ध्वनिरुत्तमं काव्यं, गुणभावे गुणीभूतव्यङ्ग्यं मध्यमं काव्य, सम्भावनामात्रे चित्रमपरं काव्यमिति काव्यभेदाः कथिताः । तथात्रापि गुणसामग्र्ये वैदर्भी, अविरोधगुणान्तरानिरोधेन ओजःकान्तिभूयिष्ठत्वे गौडीया, माधुर्यसौकुमार्यप्राचुर्ये पाञ्चालीति काव्यभेदाः कथ्यन्ते । रीतिध्वनिवादमतयोरियांस्तु भेदः । ध्वनिरात्मा काव्यस्य, स एव तद्व्यवहारप्रयोजक इत्युभयत्राप्यात्मनिष्ठा गुणाः । शब्दार्थयुगलं शरीरं, तन्निष्ठा अलंकारा इति च सर्वमविशिष्टम् किं समस्तैर्गुणैः काव्यव्यवहारः ? उत कतिपयैः ? यदि समस्तैस्तत् कथमसमस्तगुणा गौडीया पाञ्चाली वा रीतिः काव्यस्यात्मा । अथ कतिपयैः 'अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येष धूमः' इत्यादावोजःप्रभृतिषु गुणेषु सत्सु काव्यव्यवहारप्राप्तिः । 'स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनि । अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोतितरां सुधाम्' इत्यादौ गुणनैरपेक्ष्येण विशेषोक्तिव्यतिरेकालंकारयोरेव काव्यव्यवहारप्रयोजकत्वं च दृश्यत इति स्वसंकल्पमात्रकल्पितविकल्पानां नावश्यमवकाशं पश्यामः । अथापि यदि पाण्डित्यकण्डूलवैतण्डिकचण्डिम्ना

चिखण्डयिषा परस्य तर्हि स्वमतं पृष्टः स्वयमेवाचष्टाम्। 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' इति काव्यसामान्यलक्षणे शब्दार्थयोर्गुण-साहित्यमिष्यते। किं गुणसमष्टिविशिष्टं काव्यं, तद्व्यष्टिविशिष्टं वा। नाद्यो निरवद्यः। एकैकगुणोदाहरणेषु काव्यत्वाभावप्रसङ्गात्। गुणसमष्टिवैशिष्ट्या-भावान्न द्वितीयः। वस्त्वलङ्कारध्वनिषु गुणिनो रसस्याऽभावेन गुणस्यैवा-भावात्। किञ्च, सर्वे रसाः संभूय काव्यात्मीभवन्ति ? उत एको रसः ? आद्ये न कुत्रापि काव्यात्मसम्भावना। विरोधिरसानामैकाधिकरण्यासम्भवात्। द्वितीये वस्त्यलङ्कारध्वनिषु रसासम्भवात्। आत्मविधुरेषु काव्यव्यवहारा-भावप्रसङ्ग इत्यलं परमतदोषोद्घाटनपाटवप्रकटनेन। प्रकृतमनुसरामः ॥४॥

उद्देशक्रमादमीषां गुणानामसाधारणधर्मानाख्यातुमारभते।

तान् क्रमेण दर्शयितुमाह—

गाढबन्धत्वमोजः ॥ ५ ॥

बन्धस्य गाढत्वं यत् तदोजः।

यथा–'विलुलितमकरन्दा मञ्जरीर्नर्तयन्ति'।

न पुनः–'विलुलितमधुधारा मञ्जरीर्लोलयन्ति' ॥ ५ ॥

हिन्दी—क्रम से उन दश गुणों को दिखलाने के लिए कहते हैं—

रचना का गाढत्व ओज गुण है।

बन्ध की जो गाढता है वह ओज गुण है। अर्थात् अक्षरविन्यास की पारस्परिक संश्लिष्टता से बन्ध की गाढता है।

मकरन्द को चंचल करते हुए भ्रमर मंजरियों को नचाते हैं।

परन्तु—मधुधारा को चंचल बनाते हुए भ्रमर मंजरियों को कपाते हैं।

इस श्लोक में ओजगुण नहीं है। मकरन्द की जगह 'मधु-धारा' तथा 'नर्तयन्ति' की जगह 'लोलयन्ति' करने से बन्धगाढता शिथिल पड़ जाती है ॥ ५ ॥

तान् क्रमेणेति। बन्धस्य पदरचनाया गाढत्वं कनकशलाकावयवघटनवन्निविडत्वम्। तत्र हेतवः—संयुक्ताक्षरत्वं, निरन्तररेफशिरस्कैर्वर्गाणां प्रथमद्वितीयैस्तृतीयचतुर्थैः प्रथमैस्तृतीयैश्च संयोगा विसर्जनीयजिह्वामूलीयो-पध्मानीया गुर्वन्तता समासाश्चेत्येवमादयस्तरतमभावेनावस्थिताः। तत्रो-दाहरणप्रत्युदाहरणे दर्शयति—यथेति। उभयत्र गाढत्वशैथिल्ये स्फुटे ॥ ५ ॥

शैथिल्यं प्रसादः ॥ ६ ॥

बन्धस्य शैथिल्यं शिथिलत्वं प्रसादः ॥ ६ ॥

हिन्दी—शैथिल्य का नाम प्रसाद है।

अर्थात् रचना का शैथिल्य या शिथिलत्व ही प्रसाद है ॥ ६ ॥

शैथिल्यमिति। अस्य वृत्तिः स्पष्टार्था ॥ ६ ॥

शिथिलत्वमोजोगुणविपर्ययरूपम्। तदात्मकत्वे प्रसादस्य दोषत्वमेव स्यादिति परशङ्कां पुरस्कृत्य तां पराकर्तुमुत्तरसूत्रमवतारयति—

नन्वयमोजोविपर्ययात्मा दोष, तत् कथं गुण इत्याह—

गुणः संप्लवात् ॥ ७ ॥

गुणः प्रसादः। ओजसा सह संप्लवाद् ॥ ७ ॥

यहाँ प्रश्न उठता है कि ओज गुण का विपर्यय तो दोष होगा। तब यह गुण कैसे? इसके उत्तर में कहते हैं—

प्रसाद गुण है, मिश्रित होने से।

अर्थात् प्रसाद गुण है, ओज के साथ मिश्रित होने के कारण ॥ ७ ॥

नन्विति। संप्लवो मेलनम्। प्रसादो गुणो भवत्येव। ओजसा सह गुणेन संप्लवात् ॥ ७ ॥

न शुद्धः ॥ ८ ॥

शुद्धस्तु दोष एवेति ॥ ८ ॥

हिन्दी—शुद्ध तो गुण नहीं है।

अर्थात् शुद्ध प्रसाद तो दोष ही है ॥ ८ ॥

तदमिश्रं तु शैथिल्यं दोष एवेत्याह। शुद्धस्त्विति ॥ ८ ॥

ननु गाढत्वशैथिल्ययोस्तमःप्रकाशवद् विरुद्धस्वभावयोः संप्लव एव न सम्भवतीति शङ्कामनूद्यानन्तरसूत्रेणापवदितुमाह।

ननु विरुद्धयोरोजःप्रसादयोः कथं संप्लव इत्याह—

स त्वनुभवसिद्धः ॥ ९ ॥

स तु संप्लवस्त्वनुभवसिद्धः। तद्विदां रत्नादिविशेषवत्। अत्र श्लोकः—

करुणप्रेक्षणीयेषु संप्लवः सुखदुःखयोः।
यथाऽनुभवतः सिद्धस्तथैवौजःप्रसादयोः॥ ९॥

हिन्दी—एक जगह परस्पर विरोधी ओज और प्रसाद का मिश्रण कैसे हो सकता है? उत्तर देते हैं—

वह तो अनुभव से सिद्ध है।

वह सम्प्लव (मिश्रण) तो उसको समझने वालों के लिए उसी तरह अनुभव-सिद्ध है जिस प्रकार रत्नों की विशेषता का ज्ञान जौहरियों के लिए अनुभवसिद्ध है। इस प्रसङ्ग में एक श्लोक है—

करुण-रस-प्रधान नाटकों में परस्पर विरोधी सुख और दुःख का मिश्रण जैसे अनुभव से सिद्ध है उसी प्रकार परस्पर विरोधी ओज और प्रसाद का मिश्रण भी अनुभव-सिद्ध है॥ ९॥

नन्विति। व्याचष्टे स तु संप्लव इति। रत्नविशेषवत्। परीक्षानुभव-साक्षिक इत्यर्थः। विरुद्धयोरपि क्वचित् संप्लवः सम्भवतीत्यभियुक्तोक्तिमभि-दर्शयति करुणेति। यानि करुणानि कारुण्यावहानि यानि मनोज्ञानि च वस्तूनि तेषु युगपदनुभूयमानेषु समसमयसमुत्पन्नयोः सुखदुःखयोः संप्लवो यथाऽनु-भवतः स्वसंवेदनात् सिद्धस्तथौजःप्रसादयोरपि संप्लवः स्वसंवित्संवेद्यतया सिद्ध इति श्लोकार्थः॥ ९॥

अत्रोजःप्रसादयोः साम्ये पर्यायतः प्रकर्षे च त्रिप्रकारो भवति। ते च प्रकारा अप्यनुभगवम्या इति दर्शयितुमाह—

साम्योत्कर्षौ च॥ १०॥

साम्यमुत्कर्षश्चौजःप्रसादयोरेव। साम्यं यथा—'अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे नृपतिककुदं दत्वा यूने सितातपवारणम्'। क्वचिदोजः प्रसादादुत्कृष्टम्। यथा—'व्रजति गगनं भल्लातक्याः फलेन सहोपमाम्'। क्वचिदोजसः प्रसादस्योत्कर्षः। यथा—'कुसुमशयनं न प्रत्यग्रं न चन्द्रमरीचयो न च मलयजं सर्वाङ्गीणं न वा मणियष्टयः'॥ १०॥

हिन्दी—(ओज और प्रसाद का मिश्रण ही नहीं उनका) साम्य तथा उत्कर्ष भी अनुभवसिद्ध है।

ओज और प्रसाद के ही साम्य और उत्सर्ष भी सहृदयों के अनुभवसिद्ध हैं। साम्य का उदाहरण, जैसे—

उसके वाद वह विषयों से विरक्त राजा दिलीप राज-चिह्न रूप श्वेतच्छत्र अपने युवक पुत्र को देकर (वन में चला गया)

कहीं-कहीं ओज प्रसाद से उत्कृष्ट होता है। जैसे—

आकाश भल्लातकी के फल के साथ सादृश्य को प्राप्त होता है।

कहीं-कहीं ओज से प्रसाद का उत्कर्ष अधिक होता है। जैसे न नूतन पुष्प शय्या, न ज्योत्स्ना, न चन्दन का सवाङ्ग लेप और न मणियों के हारें ही वियोगियों के लिए सुखद हैं॥ १०॥

साम्योत्कर्षौ चेति। क्रमेण त्रिविधं प्रसादमुदाहृत्य दर्शति साम्यं यथेति। विषयव्यावृत्तात्मेत्यादावोजः, यथाविधि सूनव इत्यादौ प्रसादः। भिन्नदेशयोरप्योजःप्रसादयोः परस्परच्छायाऽनुकारितया सम्प्लवः। उभयोरत्र साम्यं वेदितव्यम्। औजसः प्रसादादुष्कर्षमुदाहरति व्रजतीति। भल्लातकी नाम वीरवृक्षः। 'वीरवृक्षोऽरुष्करोऽग्निमुखो भल्लातकी त्रिषु' इत्यमरः। कुसमशयनमित्यत्र प्रसादस्योत्कर्षो द्रष्टव्यः॥ १०॥

श्लेषं विशदयितुमाह—

मसृणत्वं श्लेषः॥ ११॥

मसृणत्वं नाम यस्मिन् सन्ति वहून्यपि पदान्येकवद्भासन्ते। यथा—'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः'। न पुनः—'सूत्रं ब्राह्ममुरःस्थले। भ्रमरीवल्गुगीतयः। तडित्कलिलमाकाशम्' इति। एवं तु श्लेषो भवति 'ब्राह्मं सूत्रमुरःस्थले। भ्रमरीमुञ्जुगीतयः। तडिज्जटिलमाकाशम्' इति॥ ११॥

हिन्दी—मसृणत्व (शब्दनिष्ठ चिक्कणता) श्लेष है।

मसृणत्व उसे कहते हैं जिसके होने पर बहुत से पद एक पद के समान प्रतीत होते हैं। जैसे—

उत्तर दिशा में देवतास्वरूप हिमालय नाम का नगाधिराज है।

यहाँ 'अस्ति उत्तरस्यां दिशि' आदि पद भिन्न हैं किन्तु पढ़ने के समय 'अस्त्युत्त-स्यां दिशि' उच्चरित होने से वे तीनों पद एक के समान प्रतीत होते हैं।

किन्तु निम्न शब्द-समुदाय में यह मसृणत्व नहीं है—वक्षःस्थल पर यज्ञोपवीत। भ्रमरियों का मधुर गान। बिजली से देदीप्यमान आकाश। (इन तीनों उदाहरणों में एकपदवद्भासनात्मक मसृणत्व नहीं रहने से श्लेष नहीं है।) परन्तु थोड़ा पाठ-परि-वर्त्तन कर 'बाह्यं सूत्रमुरऽस्थले, भ्रमरीमञ्जुगीतयः, तडिज्जटिलमाकाशम्' ऐसा करने पर तो श्लेष हो जाता है ॥ ११ ॥

मसृणत्वं श्लेष इति। मसृणत्वं विशिष्य दर्शयति यस्मिन्निति। यत्र हि व्यासेऽपि समासवदवभासः स श्लेषः। अस्त्युत्तरस्यामिति सामान्येनोदाहरण-मुक्त्वा श्लेषस्य व्यतिरेकमुखेनान्वयमाविष्करोति न पुनरिति। सूत्रं ब्राह्म-मुरःस्थले, भ्रमरीवल्गुगीतयः, तडित्कलिलमाकाशम् इत्यत्र श्लेषः पुनर्नास्तीति सम्बन्धः। सूत्रं ब्राह्ममित्यत्र परसवर्णेऽपि परुषाक्षरोत्थानान्न श्लेषः। तर्हि कीदृशि विन्यासे श्लेषो भवतीत्यत आह—एवं त्विति। अस्य गुणस्य विपर्ययो विसन्धेर्वाक्यदोषस्य विश्लेषात्मा भेदः ॥ ११ ॥

समतां समाख्यातुमाह—

मार्गाभेदः समता ॥ १२ ॥

मार्गस्याभेदो मार्गाभेदः समता। येन मार्गेणोपक्रमस्तस्याऽत्याग इत्यर्थः। श्लोके प्रबन्धे चेति पूर्वोक्तमुदाहरणम्। विपर्ययस्तु यथा—

प्रसीद चण्डि ! त्यज मन्युमञ्जसा जनस्तवाऽयं पुरतः कृताञ्जलिः।
किमर्थमुत्कम्पितपीवरस्तनद्वयं त्वया लुप्तविलासमास्यते ॥ २१ ॥

हिन्दी—(आदि से अन्त तक) रचना-शैली का अभेद समता है।

मार्ग अर्थात् रचना-शैली का अभेद ही मार्गाभेद है और उसे ही समता कहते हैं। जिस मार्ग से रचना का आरम्भ किया जाए, उसका अन्त तक परित्याग न करना ही समता का अर्थ है। (यह एक शैली का अन्त तक अनुसरण) श्लोक तथा प्रबन्ध काव्य, दोनों में अपेक्षित है। पूर्वोक्त (अस्त्युत्तरस्यां दिशि) उदाहरण है। प्रत्युदाहरण जैसे—

हे चण्डि ! प्रसन्न हो जाओ तुम्हारा यह सेवक हाथ जोड़े सामने खड़ा है। क्रोध छोड़ दो। हिलते हुए बड़े-बड़े स्तनों के साथ तुम सौन्दर्य तथा विलास से रहित होकर क्यों बैठी हो ?

(यहाँ श्लोक के पूर्वार्द्ध में कर्तृवाच्य तथा उत्तरार्द्ध में भाववाच्य के प्रयोग के कारण रचना-शैली में भेद हो जाने से समता गुण नहीं है ।) ॥ १२ ॥

मार्गाभेद इति । आदिमध्यावसानेष्वैकरूप्यं समतेत्यर्थः । तस्या विषयं दर्शयति श्लोके प्रबन्धे चेति । किमत्रोदाहरणमिति चेदाह पूर्वोक्तमिति । अस्त्युत्तरस्यामित्यादि । प्रत्युदाहरणमाह—विपर्ययस्त्विति । प्रसीद त्यजेति कर्तृवाचितया प्रक्रान्तस्य मार्गस्यास्यत इत्यत्र त्यागान्न समता ॥ १२ ॥

पञ्चमगुणं प्रपञ्चयितुमाह—

आरोहावरोहक्रमः समाधिः ॥ १३ ॥

आरोहावरोहयोः क्रम आरोहावरोहक्रमः समाधिः परिहारः । आरोहस्यावरोहे सति परिहारः, अवरोहस्य वाऽऽरोहे सतीति । तत्रारोहपूर्वकोऽवरोहो यथा—'निरानन्दः कौन्दे मधुनि परिभुक्तोज्झितरसे' । अवरोहपूर्वस्त्वारोहो यथा—'नराः शीलभ्रष्टा व्यसन इव मज्जन्ति तरवः' । आरोहस्य क्रमोऽवरोहस्य च क्रम आरोहावरोहक्रमः । क्रमेणारोहणमवरोहणं चेति केचित् । यथा—'निवेशः स्वःसिन्धोस्तुहिनगिरिवीथीषु जयति' ॥ १३ ॥

हिन्दी—आरोह और अवरोह (अर्थात् चढ़ाव और उतार) को समाधि (गुण) कहते हैं ।

आरोह और अवरोह का क्रम ही आरोहावरोहक्रम है । समाधि परिहार ही है । आरोह का अवरोह होने पर अथवा अवरोह का आरोह होने पर परिहार रूप समाधि गुण होता है । आरोह के बाद अवरोह, जैसे—

रसास्वादन के बाद परित्यक्त कुन्दपुष्प के मधु में आनन्द का अनुभव नहीं करनेवाला ।

(दीर्घ तथा गुरु स्वर-समुदाय आरोह है तथा लघु स्वरसमुदाय अवरोह है । उपर्युक्त उदाहरण गत 'कौन्दे' में आरोह है और लघुस्वरयुक्त 'मधुनि' में अवरोह है । इस तरह यहाँ आरोह का अवरोह होने से समाधि गुण हुआ ।)

अवरोह के बाद आरोह, जैसे—

शीलभ्रष्ट पुरुषों के व्यसन में डूबने के समान वृक्ष जल में डूब रहे हैं । (यहाँ 'नराः' में लघु स्वरादि होने के कारण अवरोह है और उसके बाद 'शीलभ्रष्टा' में दीर्घ एवं गुरु स्वरों के प्रयोग के कारण आरोह है । अतः यहाँ अवरोहपूर्वक आरोह है ।)

आरोह का क्रम तथा अवरोह का क्रम, इस तरह समास करने पर 'आरोहावरोह-क्रम' हुआ। क्रमशः आरोह तथा अवरोह हो यह भी कुछ लोग कहते हैं। जैसे—

हिमालय के मार्गों में गंगा का प्रवाह सुशोभित हो रहा है ॥ १३ ॥

आरोहावरोहक्रम इति। अत्र स्वाभिमतं तावदेकमर्थं लक्षणवाक्यस्य समर्थयते समाधिः परिहार इति। अवरोहे प्रवर्तमाने सत्यारोहस्य प्रवृत्तस्य परिहारः परित्यागः। आरोहे च सत्यवरोहस्य परिहारः आरोहावरोहयोर्विरुद्धत्वेन यौगपद्यासम्भवादिति भावः। दीर्घादिगुर्वक्षरप्राचुर्ये, आरोहः। लघ्वादिशिथिलप्रायत्वे चावरोह इति द्रष्टव्यम्। तथा चारोहपूर्वकोऽवरोहः, क्वचिदवरोहपूर्वक आरोह इति समाधेर्द्वैविध्यमुक्तं भवति। तत्राद्यमुदाहरति। आरोहपूर्वक इति। निरानन्दः कौन्द इत्यत्र गुर्वक्षरबाहुल्यादारोहः। मधुनीत्यत्र लघ्वक्षरप्राचुर्यादवरोहः। द्वितीयमुदाहरति—अवरोहपूर्वक इति। नरा इत्यत्र शैथिल्यादवरोहः शीलभ्रष्टा इत्यत्र गुर्वक्षरप्रचुरत्वादारोहः। अस्यैव लक्षणवाक्यस्यान्यैरभिहितमर्थमभ्यनुजिज्ञासुरनुवदति आरोहस्य क्रम इति। निःश्रेणिकारोहावरोहन्यायेन क्रमेणारोहणं, क्रमेण चावरोहणमिति लक्षणवाक्यार्थः। उदाहरति निवेश इति। निवेशः स्वःसिन्धोरित्यत्र निःश्रेणिकाक्रमेणारोहः। तुहिनगिरीत्यत्रावरोहः ॥ १३ ॥

ननु लक्षणवाक्यार्थपर्यालोचनया समाधेरोजःप्रसादानतिरेकान्न पृथक्त्वमिति शङ्कामङ्कुरयितुमुत्तरसूत्रमुपक्षिपति—

न पृथगारोहावरोहयोरोजःप्रसादरूपत्वात् ॥ १४ ॥

न पृथक्समाधिर्गुणः आरोहावरोहयोरोजःप्रसादरूपत्वात्। ओजोरूपश्चारोहः प्रसादरूपश्चावरोह इति ॥ १४ ॥

हिन्दी—आरोह और अवरोह के क्रमशः ओज और प्रसाद स्वरूप होने के कारण समाधि (कोई) पृथक् गुण नहीं है।

समाधि (कोई) पृथक् गुण नहीं है क्योंकि समाधि के आधारभूत आरोह और अवरोह क्रमशः ओजःस्वरूप और प्रसादस्वरूप हैं। ओजोरूप आरोह तथा प्रसादरूप अवरोह हैं। (इस तरह समाधि पृथक् गुण नहीं है।) ॥ १४ ॥

न पृथगिति। व्याचष्टे। न पृथक् समाधिरिति ॥ १४ ॥

आरोहावरोहावोजःप्रसादरूपौ न भवतः। असम्पृक्तत्वात्। अतः परस्परच्छायानुकारितया सम्पृक्तयोरोजःप्रसादयोर्न समाधिरन्तर्भवतीत्यभिसन्धाय सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—

न संपृक्तत्वात् ॥ १५ ॥

यदुक्तमोजःप्रसादरूपत्वमारोहावरोहयोस्तन्न । सम्पृक्तत्वात् । सम्पृक्तौ खल्वोजःप्रसादौ नदीवेणिकावद् वहतः ॥ १५ ॥

हिन्दी—(इस पूर्व पक्ष के खण्डन में कहा गया है) नहीं, (समाधि गुण में ओज तथा प्रसाद के) सम्मिश्रण से।

यह जो कहा गया है कि आरोह और अवरोह का क्रमशः ओजरूपत्व और प्रसाद-रूपत्व है (और इन दोनों से युक्त समाधि कोई पृथक् गुण नहीं है) सो ठीक नहीं है क्योंकि समाधि में उक्त दोनों गुणों का सम्मिश्रण होता है। नदी की सहप्रवहिणी दो धाराओं के समान ओज और प्रसाद दोनों समाधि गुण मिश्रित रूप में रहते हैं ॥ १५ ॥

यदुक्तमिति। संपृक्तत्वं सदृष्टान्तमुपपादयति—संपृक्तौ खल्विति। संपृक्त-सरिद्द्वयसलिलन्यायेन संपृक्तावोजःप्रसादाविति। तद्विलक्षणयोरारोहावरो-हयोः संपृक्तत्वव्यतिरेकादसंपृक्तत्वहेतोरसिद्धिरुद्धृता ॥ १५ ॥

ननु, न केवलं नदीद्वयवेणिकान्यायेनौजःप्रसादयोः साम्येनाऽवस्थितिः, किन्तु साम्योत्कर्षौ चेत्युक्तत्वात् समुद्गकस्थमणिप्रभासमूहन्यायादुच्चावच-भावेन स्थितिः। तस्मिन् पक्षे कथमयं समाधिः पृथग्गुण इति शङ्कामपनेतु-माह—

अनैकान्त्याच्च ॥ १६ ॥

न चायमेकान्तः। यदोजस्यारोहः प्रसादे चावरोहः ॥ १६ ॥

हिन्दी—ओज में आरोह और प्रसाद में अवरोह का होना ऐकान्तिक सत्य नहीं है। आरोह और अवरोह के अभाव में भी क्रमशः ओज और प्रसाद गुण पाए जाते हैं। इस तरह आरोह और अवरोह में क्रमशः ओज और प्रसाद के अनैकान्तिक होने के कारण आरोहावरोहक्रम रूप समाधि का पृथक् अस्तित्व न्यायसंगत है। इसी के समर्थन में कहा गया है—

अनैकान्तिक होने से भी।

ओज और प्रसाद में क्रमशः आरोह और अवरोह का होना ऐकान्तिक नहीं है ॥१६॥

अनैकान्त्याच्चेति। ओजःप्रसादयोरारोहावरोहसाहचर्यनियमो न सम्भ-वति। व्यभिचारात्। व्यभिचारस्तु 'उद्गच्छदच्छसुमगच्छविगुच्छकच्छम्'

इत्यादौ। 'यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते' इत्यादौ च, आरोहशून्यस्यौजसः, अवरोहशून्यस्य प्रसादस्य च स्थितत्वादित्यभिप्रायः ॥ १६ ॥

नन्वारोहावरोहावोजःप्रसादयोरवस्थाविशेषौ स्यातामतो न पृथक् समाधिरिति यदि चोद्यते, तर्हि समाधेर्दत्तो हस्तावलम्ब इति दर्शयितुमनन्तरसूत्रमवतारयति—

ओजःप्रसादयोः क्वचिद्भागे तीव्रावस्थायां ताविति चेदभ्युपगमः ॥ १७ ॥

ओजःप्रसादयोः क्वचिद्भागे तीव्रावस्थायामारोहोऽवरोहश्चेत्येवं चेन्मन्यसे, अभ्युपगमः——न विप्रतिपत्तिः ॥ १७ ॥

हिन्दी—ओज और प्रसाद के किसी भाग में तीव्रावस्था होने पर क्रमशः आरोह और अवरोह होते हैं, सर्वत्र ओज और प्रसाद मात्र में नहीं। इस तरह समाधि का पृथक् अस्तित्व स्वीकार है।

ओज और प्रसाद में किसी भाग में तीव्रावस्था होने पर क्रमशः आरोह और अवरोह होता है। यदि ऐसा कहा जाए तो समाधि का पृथक् अस्तित्व स्वीकार है। इसमें कोई आपत्ति नहीं है ॥ १७ ॥

ओजःप्रसादयोः क्वचिद्भाग इति। शङ्कां सङ्कलय्य दर्शयति। ओजःप्रसादयोरिति ॥ १७ ॥

परोक्तस्याभ्युपगमे पर्यवसितमर्थं समर्थयितुमाह—

विशेषापेक्षित्वात्तयोः ॥१८॥

स विशेषो गुणान्तरात्मा ॥ १८ ॥

हिन्दी—ओज तथा प्रसाद गुणों में उन दोनों आरोह और अवरोह की नियत स्थिति को विशेष कारण या निमित्त की अपेक्षा होने से।

वह विशेष कारण गुणस्वरूप ही है ॥ १८ ॥

विशेपेति। विशेषस्तीव्रावस्थात्मा। तमपेक्षितुं शीलमनयोरिति विशेषापेक्षिणौ तयोर्भावस्तत्त्वं तस्मात्। आरोहावरोहाभ्यामोजःप्रसादयोस्तीव्रावस्था हि स्वनिमित्तत्वेनापेक्षिता। सोऽयमोजःप्रसादव्यतिरेकेण समाधिरन्यो गुण इति सूत्रार्थः ॥ १८ ॥

नन्वमुमर्थमभिधातुं समाधिलक्षणवाक्यं न क्षमत इत्याशङ्क्य गौणवृत्तिराश्रयणीयेत्याह—

आरोहावरोहनिमित्तं समाधिराख्यायते ॥ १९ ॥

आरोहावरोहक्रमः समाधिरिति गौण्या वृत्त्या व्याख्येयम् ॥१९॥

हिन्दी—आरोह और अवरोह का निमित्त ही समाधि नामक गुण कहा जाता है।

आरोह और अवरोह का क्रम समाधि है इस लक्षणगत क्रम शब्द की व्याख्या गौणी वृत्ति (लक्षणा) से निमित्तार्थ परक मानकर करनी चाहिए ॥ १९ ॥

आरोहावरोहेति । क्रमपदेन तन्निमित्तं लक्ष्यत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

ननु पुनरवस्थाऽवस्थावतो यदा न भिद्यते तदा तीव्रावस्था ओजःप्रसादात्मिकैव भवति । यद्यपि, यद् यदोजस्तत्तदारोह इति नास्ति नियमः, तथापि यो य आरोहस्तत्तदोज इति भवति । ततः सत्यं न समाधिना प्रसादः स्वीक्रियते, प्रसादेन च समाधिः संगृह्यत एवेति किमर्थमस्योपादानमित्यत आह—

क्रमविधानार्थत्वाद्वा ॥ २० ॥

पृथक्करणमिति । पाठधर्मत्वं च न सम्भवतीति 'न पाठधर्माः सर्वत्रादृष्टेः' इत्यत्र वक्ष्यामः ॥ २० ॥

हिन्दी—अथवा आरोह और अवरोह में क्रम विधान के लिए समाधि एक पृथक् गुण माना जाता है।

आरोह और अवरोह के स्थलों में धीरे-धीरे (क्रम से) आरोहण और अवरोहण के उद्‌बोध होने के कारण ओज तथा प्रसाद से समाधि को पृथक् किया गया है।

आरोह और अवरोह का क्रमिक उद्‌बोधन पाठ का धर्म है यह काव्य गुण नहीं हो सकता, इस पूर्व पक्ष के खण्डन में वृत्तिकार 'न पाठधर्माः सर्वत्रादृष्टेः' सूत्र में कहेंगे ॥ २० ॥

क्रमविधानेति । नात्र क्रमः परस्परम् । अपि तु क्रमेणारोहणं क्रमेणाऽवरोहणमित्येवरूपः क्रमो ज्ञेयः । नन्वारोहावरोहक्रमः पाठधर्मः किन्न स्यादिति चोद्यं, वक्ष्यमाणयुक्त्या विघटितमित्याह । पाठधर्मत्वं चेति ॥ २० ॥

माधुर्यमवधारयितुमाह—

पृथक्पदत्वं माधुर्यम् ॥ २१ ॥

बन्धस्य पृथक्पदत्वं यत् तन्माधुर्यम् पृथक्पदानि यस्य स पृथ-

क्पदः। तस्य भावः पृथक्पदत्वम्। समासदैर्ध्यनिवृत्तिपरं चैतत्। पूर्वोक्तमुदाहरणम्। विपर्ययस्तु यथा—'चलितशबरसेनादत्तगोशृङ्ग-चण्डध्वनिचकितवराहव्याकुला विन्ध्यपादाः' ॥ २१ ॥

हिन्दी—रचनागत पदों की पृथक्ता को माधुर्य गुण कहते हैं।

रचनागत पदों की जो पारस्परिक पृथक्ता है वही माधुर्य है। जिसके पद पृथक् पृथक् हैं वह पृथक्पद हुआ और उसका भाव पृथक्पदत्व हुआ। यह गुण दीर्घ समास-युक्त रचना का निषेधक है। पूर्वोक्त रचना अर्थात् 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि' इत्यादि इसके उदाहरण हैं। विपरीत उदाहरण यथा —

चलती हई शबरसेना द्वारा बजाए गए गोश्रृङ्ग नामक वाद्य विशेष की तीव्र ध्वनि से चकित बराहों से व्याकुल विन्ध्याचल की खाड़ियाँ हैं ॥ २१ ॥

पृथक्पदत्वमिति। सूत्रार्थं विविङ्क्त। बन्धस्येति। अव्याप्ति परिहरति समासदैर्ध्यनिवृत्तिपरमिति। पूर्वोक्तमिति। अस्त्युत्तरस्यामित्याद्युदाहरणम्। प्रत्युदाहरणमाह विपर्ययस्त्विति। समासपदैर्ध्याद्विपर्ययः। दत्तं धतम् ॥२१॥

सौकुमार्यं पर्यालोचयितुमाह—

अजरठत्वं सौकुमार्यम् ॥ २२ ॥

बन्धस्याजरठत्वमपारुष्यं यत् तत् सौकुमार्यम्। पूर्वोक्तमुदाहर-णम्। विपर्ययस्तु यथा—

'निदानं निर्द्वंतं प्रियजनसदृक्त्वव्यवसितिः।
सुधासेकप्लोषौ फलमपि विरुद्धं मम हृदि' ॥ २२ ॥

हिन्दी—रचनागत अकठोरता सौकुमार्य गुण है।

रचना की जो अकठोरता अर्थात् पारुष्यहीनता है वही सौकुमार्य है। पूर्वोक्त रचना अर्थात् 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' इत्यादि पद्य इसका उदाहरण है। विप-रीत उदाहरण यथा—

प्रिय जन के सदृश रूप ही स्मृति और वियोग के उद्दीपन के कारण हैं। स्मृति से ही सुधा-सिञ्चन तथा वियोग से ही दाह ये दो तरह के फल मेरे हृदय में उत्पन्न होते हैं ॥ २२ ॥

अजरठत्वं सौकुमार्यमिति। बन्धस्याजरठत्वं कोमलत्वं श्रुतिसुखत्वमिति यावत्। पूर्वोक्तमिति। अस्त्युत्तरस्यामित्याद्युदाहरणम्। प्रत्युदाहरणमाह—

विपर्ययस्त्वति । सौकुमार्यस्य विपर्ययः कष्टत्वभिन्नवृत्तत्वे । निर्द्वैतं संशयाभावः । अत्र निर्द्वैतमिति कष्टम् ।। २२ ।।

उदारतामुदीरयितुमाह—

विकटत्वमुदारता ॥ २३ ॥

बन्धस्य विकटत्वं यदसावुदारता । यस्मिन् सति नृत्यन्तीव पदानीति जनस्य वर्णभावना भवति तद्विकटत्वम् । लीलायमानत्वमित्यर्थः । यथा—

स्वचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां झणिति रणितमासीत् तत्र चित्रं कलं च।

न पुनः—

चरणकमललग्नैर्नूपुरैर्नर्तकीनां झटिति रणितमासीन्मञ्जु चित्रं च तत्र २३

हिन्दी—रचना की विकटता उदारता है।

रचना की जो विकटता है वह उदारता है। जिसके होने पर लोगों की भावना होती है कि रचनागत पद नाच से रहे हैं वह विकटत्व है। वर्णों का नृत्य अर्थात् लीलायमानत्व ही विकटत्व का अर्थ है। जैसे—

वहाँ नर्तकियों के अपने पैरों में पहने हुए नूपुरों से विचित्र और सुन्दर आवाज निकलने लगी।

कुछ पदों का परिवर्त्तन होने पर पुनः इसी श्लोक में वह उदारता गुण नहीं है—
नर्त्तकियों के चरणकमलों के नूपुरों से वहाँ विचित्र और सुन्दर आवाज हुई ।।२३।।

विकटत्वमिति । क्रमशो वर्धमानाक्षरपदत्वम् । पदप्रथमाद्यक्षराणां पदान्तरप्रथमाद्यक्षरैः सादृश्यं च । उदाहरणप्रत्युदाहरणे दर्शयति—यथेति ।। २३ ।।

अर्थव्यक्तिं समर्थयितुमाह—

अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः ॥ २४ ॥

यत्र झटित्यर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वं स गुणोऽर्थव्यक्तिरिति पूर्वोक्तमुदाहरणम् । प्रत्युदाहरणं तु भूयः सुलभं च ॥ २४ ॥

हिन्दी—अर्थ की स्पष्ट प्रतीति का हेतु अर्थव्यक्ति गुण है।

जहाँ अर्थ की शीघ्र प्रतीति का हेतुत्व है वह अर्थव्यक्ति गुण है। पूर्वोक्त श्लोक (अर्थात् अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा) इसका उदाहरण है। प्रत्युदाहरण तो बहुत हैं और सुलभ भी हैं ।। २४ ।।

अर्थव्यक्तीति । वृत्तिः स्पष्टार्था । पूर्वोक्तमस्त्युत्तरस्यामिति । सुलभं चेति । सपदि पङ्क्तिविहङ्गनामेत्यादि । अव्यवहितान्वयप्रसिद्धार्थपदत्वे हि भवत्यर्थ-व्यक्तिः । अस्य च विपर्ययः—असाध्वप्रतीतानर्थकान्यार्थनेयार्थगूढार्थयतिभ्रष्ट-क्लिष्टसन्दिग्धाऽप्रयुक्तानि । असाधुत्वे हि भवति नार्थव्यक्तिः । यत्र च भवति तत्र 'असाधुरनुमानेन वाचकः कैश्चिदिष्यते' इत्युक्तत्वादसाधुशब्दः साधुशब्दा-नुमानद्वारेणार्थबोधक इति नार्थव्यक्तिः । पूरणार्थमव्ययं च, कस्मादस्य प्रयोग इति सन्देहावहत्वादर्थव्यक्तिं व्यवदधाति । यतिभ्रंशे चाऽर्थव्क्तिहृतिः । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् ।। २४ ।।

कान्तिं कथयितुमाह—

औज्ज्वल्यं कान्तिः ॥ २५ ॥

बन्धस्योज्ज्वलत्वं नाम यदसौ कान्तिरिति । यदभावे पुराणच्छायेत्युच्यते । यथा—'कुरङ्गीनेत्रालीस्तबकितवनालीपरिसरः' । विपर्ययस्तु भूयान् सुलभश्च ।

श्लोकाश्चात्र भवन्ति—

पदन्यासस्य गाढत्वं वदन्त्योजः कवीश्वराः ।
अनेनाधिष्ठिताः प्रायः शब्दाः श्रोत्ररसायनम् ॥
श्लथत्वमोजसा मिश्रं प्रसादं च प्रचक्षते ।
अनेन न विना सत्यं स्वदते काव्यपद्धतिः ॥
यत्रैकपदवद्भावं पदानां भूयसामपि ।
अनालक्षितसन्धीनां स श्लेषः परमो गुणः ॥
प्रतिपादं प्रतिश्लोकमेकमार्गपरिग्रहः ।
दुर्बन्धो दुर्विभावश्च समतेति मतो गुणः ॥
आरोहन्त्यवरोहन्ति क्रमेण यतयो हि यत् ।
समाधिर्नाम स गुणस्तेन पूता सरस्वती ॥
बन्धे पृथक्पदत्वं च माधुर्यमुदितं बुधैः ।
अनेन हि पदन्यासाः कामं धारामधुच्युताः ॥
यथा हि च्छिद्यते रेखा चतुरं चित्रपण्डितैः ।
तथैव वागपि प्राज्ञैः समस्तगुणगुम्फिता ॥

बन्धस्याजरठत्वं च सौकुमार्यमुदाहृतम् ।
एतेन वर्जिता वाचो रूक्षत्वान्न श्रुतिक्षमाः ॥
विकटत्वं च बन्धस्य कथयन्ति ह्युदारताम् ।
वैचित्र्यं न प्रपद्यन्ते यया शून्याः पदक्रमाः ॥
पश्चादिव गतिर्वाचः पुरस्तादिव वस्तुनः ।
यत्रार्थव्यक्तिहेतुत्वात् साऽर्थव्यक्तिः स्मृतो गुणः ॥
औज्ज्वल्यं कान्तिरित्याहुर्गुणं गुणविशारदाः ।
पुराणचित्रस्थानीयं तेन वन्ध्यं कवेर्वचः ॥ २५ ॥

हिन्दी—रचना की उज्ज्वलता अर्थात् नूतनता कान्ति गुण है ।

रचना की जो उज्ज्वलता है वही कान्ति गुण है । जिसके अभाव में 'यह प्राचीन रचना की छाया है' यह कहा जाता है । कान्ति गुण का उदाहरण, जैसे—

हरिणियों की नेत्रपंक्तियों से वनपंक्ति का किनारा पुष्पगुच्छों से युक्त प्रतीत हो रहा है । यहाँ कवि की कल्पना सर्वथा नूतनतापूर्ण है विपरीत उदाहरण तो बहुत और सुलभ हैं । यहाँ शब्द-गुणों के स्वरूप-निरूपण के प्रसङ्ग में ११ श्लोक है—

पद-रचना के गाढत्व को कवीश्वर लोग ओज गुण कहते हैं । इससे युक्त पद प्रायः कानों के लिए रसायन के समान स्फूर्त्तिदायक होते हैं ।

ओज से मिश्रित रचना-शैथिल्य को प्रसाद गुण कहते हैं । इसके बिना काव्य रचना का वास्तविक स्वाद ही नहीं मिलता ।

जहाँ सन्धि के अलक्षित होने पर भी बहुत पदों में एक पद के समान प्रतीति हो वह श्लेष नामक उत्कृष्ट गुण है

प्रत्येक पाद एवं प्रत्येक श्लोक में एक रचना-शैली का होना, जो दुर्बन्ध एवं दुर्विज्ञेय है, समता गुण माना गया है ।

श्लोक के पादो की यतियाँ जहाँ क्रमशः चढ़ती और उतरती हैं वह समाधि नामक गुण है और उससे कविता पवित्र होती है ।

रचना में पृथक्पदत्व को विद्वानों के द्वारा माधुर्य गुणकहा गया है । इससे पद-रचनाएँ मधु-धारा की अत्यन्त वृष्टि करनेवाली होती हैं ।

जिस तरह चित्रकारिता के पण्डितों द्वारा चतुरतापूर्वक रेखा खींची जाती है ठीक उसी तरह विद्वान् कवियों द्वारा समस्त गुणों से युक्त कविता की रचना की जाती है ।

रचना के अपारुष्य को सौकुमार्य गुण कहा गया है । इससे रहित रचनाएँ कठोर होने के कारण सुनने योग्य नहीं होती हैं ।

रचना के विकटत्व को ही उदारता गुण कहते हैं, जिसके अभाव में पदरचनाएँ वैचित्र्य अर्थात् सौन्दर्य को नहीं प्राप्त करती हैं।

जहाँ पदों की गति मानो पश्चात् हो और अर्थ की प्रतीति मानो पूर्व ही हो जाए उसे अर्थ की शीघ्र एवं स्पष्ट प्रतीति का हेतु होने के अर्थव्यक्ति गुण कहा गया है।

गुणज्ञ विद्वानों ने रचना की उज्ज्वलता अर्थात् नवीनता को कान्ति गुण कहा है। उसके बिना कवि की वाणी प्राचीन चित्र के समान प्रतीत होती है॥ २५॥

औज्ज्वल्यमिति। पत्रमिति वक्तव्ये किसलयमित्यादि। जलधाविति वक्तव्येऽधिजलधीति। राज्ञीति वक्तव्ये राजनीति। कमलमिवेति वक्तव्ये कमलायत इत्यादिः कान्तिहेतुः। विपर्ययस्य विषयं दर्शयति--यदभाव इति। अत्र संवादं संदर्शयन्नमून् गुणान् अन्यश्लोकैरुपश्लोकयति। पदन्यासस्येत्यादि। श्लोकाः स्पष्टार्थाः॥ २५॥

नन्वेते गुणाः स्वसंकल्पनामात्रसारा रूपरसादिवदपरोक्षतयाऽधिगन्तुमशक्यत्वादिति शङ्कामुङ्कट्टयितुमाह--

नाऽसन्तः संवेद्यत्वात्॥ २६॥

न खल्वेते गुणा असन्तः संवेद्यत्वात्॥ २६॥

हिन्दी--सहृदयों के संवेद्य होने के कारण ये गुण अविद्यमान नहीं हैं।

ये गुण असत् नहीं हैं संवेद्य होने के कारण।

नाऽसन्त इति। ओजःप्रमुखा एते गुणा, असन्त = तुच्छा न भवन्ति। कुतः? संवेद्यत्वात्। सहृदयसंवेदनस्य विषयत्वात्॥ २६॥

असार्वजनीनत्वादियं प्रतीतिर्भ्रान्तिरेव किं न स्यादिति शङ्कामङ्कुरयित्वा समुन्मूलयितुमाह--

तद्विदां संवेद्यत्वेऽपि भ्रान्ताः स्युरित्याह—

न भ्रान्ता निष्कम्पत्वात्॥ २७॥

न गुणा भ्रान्ताः। एतद्विषयायाः प्रवृत्तेर्निष्कम्पत्वात्॥ २७॥

गुणज्ञों द्वारा ज्ञानगम्य होने पर भी ये गुण भ्रममूलक हो सकते हैं, उस पूर्वपक्ष के खण्डन में कहा है—

अबाधित (निष्कम्प) होने से ये गुण भ्रममूलक नहीं हैं।

गुण भ्रान्त नहीं हैं, इस विषय की प्रवृत्ति के अबाधित होने से॥ २७॥

न भ्रान्ता इति । निष्कम्पत्वादसार्वजनीनत्वेऽप्यबाधितत्वादित्यर्थः ।।२७।।

ओजःप्रमुखा गुणाः पाठधर्मा इति प्रत्यवस्थातारम्प्रत्याह—

न पाठधर्माः सर्वत्राऽदृष्टेः ॥ २८ ॥

इति वामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ गुणविवेचने
तृतीयेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः ।

नैते गुणाः पाठधर्माः । सर्वत्राऽदृष्टेः । यदि पाठधर्माः स्युस्तर्हि विशेषानपेक्षाः सन्तः सर्वत्र दृश्येरन् । न च सर्वत्र दृश्यन्ते । विशेषापेक्षया विशेषाणां गुणत्वाद् गुणाभ्युपगम एवेति ॥ २८ ॥

इति श्रीकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ गुणविवेचने तृतीयेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः
गुणालङ्कारविवेकः, शब्दगुणविवेकश्च ॥ ३ ॥ १ ॥

सब जगह (पाठमात्र में) नहीं पाए जाने के कारण ये गुण पाठधर्म नहीं हैं ।

ये गुण पाठ के धर्म नहीं हैं, सर्वत्र पाठ मात्र में नहीं देखे जाने से । यदि ये गुण पाठ के धर्म होते तो विना किसी विशेषता की अपेक्षा के सर्वत्र (पाठमात्र में) दृष्टिगोचर होते । सर्वत्र तो नहीं देखे जाते हैं । विशेषता की अपेक्षा से विशेषों के गुण रूप में होने के कारण गुणों को स्वीकार करना ही है ।। २८ ।।

काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में गुणविवेचन नामक तृतीय अधिकरण
में प्रथम अध्याय समाप्त ।

न पाठधर्मा इति । व्याचष्टे—नैते गुणा इति । सर्वत्रोदाहरणे प्रत्युदाहरणे पाठधर्मत्वे बाधकमाह—यदि पाठधर्माः स्युरिति । सहृदयसंविदालम्बनतया विशेषाः केचिदपेक्षणीयाः । त एव विशेषा गुणा इत्यभ्युपगन्तव्या इति ।।२८।।

इति श्रीगोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालविरचितायां काव्यालङ्कारसूत्र-
वृत्तिव्याख्यायां काव्यालङ्कारकामधेनौ गुणविवेचने
तृतीयेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः ।

अथ तृतीयाधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः

सम्प्रत्यर्थगुणविवेचनार्थमाह--

त एवार्थगुणाः ॥ १ ॥

त एवौजःप्रभृतयोऽर्थगुणाः ॥ १ ॥

हिन्दी—अब अर्थगुणों के विवेचन के लिए कहते हैं--

वे (ओज, प्रसाद आदि) ही अर्थगुण भी हैं।

वे ओज आदि ही अर्थगुण भी हैं ॥ १ ॥

कारुण्यसम्पदुत्कूललावण्यगुणशालिनीम् ।
स्वच्छस्वच्छन्दवाचालां भावये हृदि भारतीम् ॥१॥

शब्दगुणविवेचने कृते लब्धावसरमर्थगुणविवेचनमिति सङ्गतिमुल्लिङ्ग-यन्ननन्तरसूत्रमवतारयति—सम्प्रतीति ॥ १ ॥

शब्दगुणा एव चेदर्थगुणाः किमनेन विधान्तरविधानव्यसनेन । लक्षित-त्वात् तेषामित्याशङ्क्य शब्दार्थगुणानान्नामतो भेदाभावेऽपि शब्दार्थोपश्लेष-वशादस्ति भेद इत्याह--

शब्दार्थगुणानां वाच्यवाचकद्वारेण भेदं दर्शयति—

अर्थस्य प्रौढिरोजः ॥ २ ॥

अर्थस्याभिधेयस्य प्रौढिः प्रौढत्वमोजः ।

पदार्थे वाक्यवचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा ।
प्रौढिर्व्याससमासौ च साभिप्रायत्वमेव च ॥

पदार्थे वाक्यवचनं यथा 'अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः' । अत्र चन्द्रपदवाच्येऽर्थे नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिति वाक्यं प्रयुक्तम् । पदसमूहश्च वाक्यमभिप्रेतम् । अनया दिशाऽन्यदपि द्रष्टव्यम् । तद्यथा—

पुरः पाण्डुच्छायं तदनु कपिलिम्ना कृतपदं
ततः पाकोत्सेकादरुणगुणसंसर्गितवपुः ।

शनैः शोषारम्भे स्थपुटनिजविष्कम्भविषमं
वने वीतामो बदरमरसत्वं कलयति ॥

नचैवमतिप्रसङ्गः । काव्यशोभाकरत्वस्य गुणसामान्यलक्षणस्यावस्थितत्वात् । वाक्यार्थे पदाभिधानं यथा—दिव्येयं न भवति किन्तु मानुषी इति वक्तव्ये—निमिषति इत्याहेति । अस्य वाक्यार्थस्य व्याससमासौ । व्यासो यथा—

अयं नानाकारो भवति सुखदुःखव्यतिकरः
सुखं वा दुःखं वा न भवति भवत्येव च ततः ।
पुनस्तस्मादूर्ध्वं भवति सुखदुःखं किमपि तत्
पुनस्तस्मादूर्ध्वं भवति न च दुःखं, न च सुखम् ॥

समासो यथा—

ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम् ।
सिद्धश्चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ॥

साभिप्रायत्वं यथा—

'सोऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयश्चन्द्रप्रकाशो युवा ।
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्टचा कृतार्थश्रमः ॥'

आश्रयः कृतधियामित्यस्य च सुबन्धुं साचिव्योपक्षेपपरत्वात् साभिप्रायत्वम् । एतेन 'रतिविगलितबन्धे केशपाशे सुकेश्या' इत्यत्र सुकेश्या इत्यस्य च साभिप्रायत्वं व्याख्यातम् ॥ २ ॥

हिन्दी—शब्दगुणों और अर्थगुणों का वाच्य और वाचक के द्वारा दभे दिखलाता है—

अर्थ की प्रौढ़ता ओज गुण है ।

अभिधेय अर्थ की प्रौढ़ि अर्थात् प्रौढ़ता ओज नामक अर्थगुण है । अर्थगत प्रौढ़ि के पाँच प्रकार हैं, यथा (१) एक पद से प्रतिपाद्य अर्थ के बोधन के लिए वाक्य की रचना, (२) वाक्य द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ के बोध के लिए पद का प्रयोग, (३) अन्य प्रकार से अर्थ का विस्तार, (४) अन्य प्रकार से अर्थ का संकोच, (५) अर्थ का साभिप्रायत्व ।

पद से प्रतिपाद्य अर्थ के बोध के लिए वाक्य का प्रयोग, यथा—अत्रि मुनि के नयन से उत्पन्न ज्योति (चन्द्रमा) के समान। यहाँ 'चन्द्र' पद से प्रतिपाद्य अर्थ के बोध के लिए 'नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रे' का प्रयोग हुआ है। पद-समूह वाक्य है यही यहाँ समझा गया है। इस तरह अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य है, जैसे--

बेर फल सबसे पहले पाण्डु छाया युक्त, उसके बाद कपिल वर्णयुक्त, उसके बाद पक जाने के कारण लालिमायुक्त, उसके बाद धीरे-धीरे सूखने पर नीची-ऊँची त्वचा से युक्त और अन्त में वन में ही गन्धहीन और रसहीन हो जाता है।

इस श्लोक में 'कपिल' एवं 'अरुण' अर्थ-बोधन के लिए क्रमशः 'कपिलिम्ना कृतपदं' तथा 'अरुणगुणसंसर्गितवपुः' ये पद-समूह प्रयुक्त हुए हैं।

यहाँ अतिव्याप्ति की कोई आशंका नहीं है काव्यशोभाजनकत्वरूप गुण के सामान्य लक्षण विद्यमान होने से।

वाक्यार्थ के बोधन के लिए पद का प्रयोग, यथा–'यह दिव्य अप्सरा नहीं है अपि तु मानुषी स्त्री है' इस वाक्यार्थ-बोधन के लिए 'निमिषति' कहा गया है।

(देव, देवी, यक्ष, अप्सराएँ पलक नहीं मारते हैं जब कि भूलोकवासी प्राणी पलक मारते हैं। अतः उपर्युक्त स्थल में 'निमिषति' (पलक मारती है) मात्र के प्रयोग से वाक्यार्थ की प्रतीति हो जाती है।)

इसी प्रकार वाक्य द्वारा प्रतिपादित अर्थ का व्यास (विस्तार) एवं समास (संक्षेप) भी पृथक्-पृथक् प्रौढि रूप अर्थगुण हैं।

व्यास का उदाहरण, यथा—

सुख और दुःख का सम्बन्ध नाना प्रकार का है—(१) सुख नहीं होता है, दुःख होता है, (२) दुःख नहीं होता, सुख होता है, (३) सुख और दुःख दोनों होते हैं, (४) सुख और दुःख दोनों नहीं होते हैं।

समास का ऊदाहरण, यथा—

वे हिमालय से मन्त्रणा कर और पुनः शिव से मिलकर और उन्हें कार्य-सिद्धि की सूचना देकर तथा विदा लेकर स्वर्ग चले गए।

साभिप्रायत्व का उदाहरण, यथा—

सो यह चन्द्रप्रकाश, जो विद्वानों को आश्रय देने वाला, युवक तथा चन्द्रगुप्त का पुत्र है, राजा बन गया है।

'यहाँ 'आश्रयः कृतधियां' इस पद्यांश से सुबन्धु का साचिव्य द्योतित होने से साभिप्रायत्व सिद्ध हुआ।

इससे—सुकेशी के रतिकार्य से शिथिल केशपाश में यहाँ 'सुकेश्याः' पद में साभिप्रायत्व कहा गया है॥ २॥

वाच्येति । प्रागुद्देशपरिपाट्या प्रथमप्राप्तमोजः प्रतिपादयितुमाह—अर्थस्येति । वृत्तिः स्पष्टार्था । प्रौढिं पद्येन पञ्चधा प्रपञ्चयति—पदार्थे इति । तत्राद्यमुदाहरति—पदार्थे इति । लक्ष्यलक्षणयोरानुकूल्यमुन्मीलयति—चन्द्रपदेति । 'तिङ्सुबन्तयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता' इत्युक्तलक्षणवाक्यं न विवक्षितम् । किन्तु पदसमुदायमात्रमभिमतमित्याह—पदसमूहश्चेति । अयं न्यायोऽन्यत्रापि सञ्चारणीय इत्याह—अनयेति । अन्यदपि दर्शयति—पुरः पाण्डुच्छायमिति । स्थपुटो निम्नोन्नतः । विष्कम्भ आभोगः । अत्र कपिलमिति वक्तव्ये कपिलिम्ना कृतपदमिति । शुष्कमिति वक्तव्ये शनैः शोषारम्भ इत्यादि च वाक्यं प्रयुक्तमिति पदार्थे वाक्यरचना । 'दक्षात्मजादयितवल्लभवेदिकासु' इत्यादावतिप्रसङ्गं परिहरति—न चैवमिति । तत्र हेतुः—काव्यशोभाकरत्वस्येति । तत्र गुणसामान्यलक्षणाभावान्नातिप्रसङ्ग इत्यर्थः । द्वितीयां प्रौढिं द्रढयति—वाक्यार्थे इति । किमियं देव्युत मानुषीति पृष्टे कश्चिदुत्तरमाह—निमिषतीति । अनेन मानुषधर्मवाचिना पदेन देवीयं न भवती । किं तर्हि, मानुषीति वाक्यार्थः प्रतिपादितो भवति । पदार्थे वाक्यं, वाक्यार्थे पदमिति प्रौढेर्भेदाभ्यां व्याससमासौ पुनरुक्तौ स्यातामिति न शङ्कनीयम् । तत्र हि पदार्थो वाक्यार्थतां, वाक्यार्थश्च पदार्थतां प्रतिपद्यते । इह तु वाक्यार्थस्यैव व्यासो विस्तरः समासश्च संक्षेपो वाक्येनैवेति भेदादित्याह—अस्य वाक्यार्थस्येति । व्यासमुदाहरति—अयं नानाकार इति । अयमविसंवादितयाऽनुभूयमानः सुखदुःखव्यतिकरः । नानाकारो विचित्ररूपो भवतीति वाक्यार्थः । अस्यैव विस्तरः–सुखं वा, दुखं वेत्यादिना कृत इति व्यासः । समासं समुन्मेषयति—ते हिमालयमिति । अत्र संक्षेपः स्फुटः । पञ्चमीं प्रौढिं प्रपञ्चयति—साभिप्रायत्वमिति । पदान्तरप्रयोगमन्तरेण तदर्थप्रत्यायनप्रागल्भ्यं साभिप्रायत्वम् । लक्ष्यलक्षणयोरानुरूप्यं निरूपयति—आश्रयः कृतधियामिति । एतेनेति । न्यायेनेति शेषः । सुकेश्या इत्यत्र कवेः केशसौष्ठवमभिप्रेतम् । कलापिकलापकदर्थनसामर्थ्यं केशहस्तस्य समर्पयतीति साऽभिप्रायत्वम् । अस्य च विपर्ययो–व्यर्थमपुष्टार्थं च । अपुष्टार्थस्य दोषत्वं 'नापुष्टार्थत्वात्' इति सूत्रे वक्ष्यते । व्यर्थं यथा 'श्यामां श्यामलिमानमानयत भोः' इत्यत्र श्यामाशब्दः कृष्णत्वमपि प्रतिपादयतीति श्यामलिमानमानयतेति श्यामलिम्नः करणं व्याहतमिति व्यर्थम् । 'चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी' इत्यादौ, तारकारिरिति स्थानेऽनुप्रासानुरोधात् प्रयुक्तं कार्तिकेय इति पदमपुष्टार्थम् ॥ २ ॥

प्रसादं प्रसञ्जयितुमाह—

अर्थवैमल्यं प्रसादः ॥ ३ ॥

अर्थस्य वैमल्यं प्रयोजकमात्रपरिग्रहः प्रसादः। यथा—'सवर्णा कन्यका रूपयौवनारम्भशालिनी' विपर्ययस्तु-'उपास्तां हस्तो मे विमल-मणिकाञ्चीपदमिदम्' । काञ्चीपदमित्यनेनैव नितम्बस्य लक्षितत्वाद् विशेषणस्याप्रयोजकत्वमिति ॥ ३ ॥

हिन्दी--अर्थ की स्पष्टता प्रसाद गुण है।

अर्थ की स्पष्टता प्रयोजक पद मात्र से होती है और वही प्रसाद है। यथा--रूप और युवावस्था के आरम्भ से युक्त यह कन्या सवर्णा है।

अर्थस्पृता का प्रत्युदाहरण, यथा–मेरा हाथ विमलमणिकाञ्ची के स्थान को प्राप्त करे। यहाँ 'काञ्चीपदम्' इसीसे नितम्ब के लक्षित हो जाने से 'विमलमणि' पद अविवक्षित एवम् अप्रयोजक है। अतः प्रसाद गुण का अभाव है ॥ ३ ॥

अर्थवैमल्यमिति । प्रयोजकमात्रपदपरिग्रह इति विवक्षिताऽर्थसमर्पक-पदमात्रप्रयोगः ततोऽर्थस्य यद्वैमल्यं स प्रसादः। नच पञ्चमप्रौढिप्रसादयोः को भेद इति वाच्यम्। तयोः परस्परपरिहारेण दर्शनात्। यथा 'रतिविगलतबन्धे केशहस्ते' इत्यादौ 'कुशाऽङ्गचा' इति पाठे वैमल्येऽपि, न साभिप्रायत्वम्। 'अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदाम्' इत्यादौ साभिप्रायत्वेऽपि नार्थवैमल्यम्। सवर्णेत्यादि स्पष्टम्। अस्य विपर्ययोऽपुष्टार्थमनर्थकं च तत्राद्यमुदाहरति—विपर्ययस्त्विति। विशेषणस्याप्रयोजकत्वमित्यपुष्टार्थत्वमित्यर्थः। अनर्थकं तु प्रागुदाहृतम् ॥ ३ ॥

श्लेषमुन्मेषयितुमाह--

घटना श्लेषः ॥ ४ ॥

क्रमकौटिल्यानुल्वणत्वोपपत्तियोगो घटना। स श्लेषः।

यथा—

दृष्ट्वैकासनसङ्गते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ॥

शूद्रकादिरचितेषु प्रबन्धेष्वस्य भूयान् प्रपञ्चो दृश्यते ॥ ४ ॥

हिन्दी—घटना श्लेष है।

क्रम (अनेक क्रियाओं का क्रम), कौटिल्प (चमत्कार-कौटिल्य), अनुल्वणत्व

(प्रशस्त-वर्णनत्व) और उपपत्ति (युक्तिविन्यास) का योग ही घटना है, और वही श्लेष है। उदाहरण, यथा—

एक आसन पर इकट्ठी बैठी दो प्रियतमाओं को देखकर धूर्त नायक पीछे से आकर आदर से एक की आखें बन्दकर खेल का बहाना करता हुआ, गर्दन थोड़ा मोड़कर प्रसन्न मुद्रा में, प्रेम से आनन्दित मतवाली तथा मुस्कराहट से शोभित कपोलों वाली दूसरी नायिका को चूमता है।

शुद्रक आदि विरचित नाटक आदि प्रबन्धों में श्लेष का बहुत विस्तार (प्रपञ्च) देखा जाता है ॥ ४ ॥

घटनेति। मणिपुत्रिकादिषु मुखाद्यवयवयोजनेऽपि श्लेषणं घटना भवति, सा मा भूदित्याह—क्रमेति। नेत्रनिमीलनादीनां यः क्रमः परिपाटी कौटिल्यश्च तयोरनुल्बणत्वेनोपपत्त्या युक्ततया पृच्छाक्षेपरूपतया बाधाभावस्वभावतया च योजनं घटना विवक्षिता। उदाहरति—दष्ट्वेति। प्रियतमयोरेका स्वकीया, अपरा तत्सखी प्रच्छन्नाऽनुरागा। अन्यथा नास्त्येकासनसङ्गतिः। निमील्यमाननयना च न द्वेष्या। तथात्वे हि प्रियतमे इति कथम्। क्रीडामनुबध्नातीति-क्रीडानुबन्धं तच्च तच्छलं च। विहितं क्रीडानुबन्धच्छलं येन स तथोक्तः। अस्य विपर्ययो लोकविरुद्धत्वम्। यथा हि मधुरा या सौवीरेषु सक्ता, यथा मधुरा याऽश्लेषणसक्ता, तथैवैकासने प्रसिद्धपत्न्योरवस्थितिः। यथा मधौ कदम्बविकासः, तथा सपत्नीसन्निधावेकस्याः क्रीडा। यथा कलिका-मकरन्दो गोष्पदपूरः, तथा क्रमेण युगपद् वा, द्वयोरेकस्या वा निधुवनमिति देशकाल-स्वभावैर्विरुद्धम्। प्रबन्धान्तरेषु भूयिष्ठमुदाहरणमस्ति तदूहनीयमित्याह—शूद्रकेति ॥ ४ ॥

समतां समुन्मीलयितुमाह—

अवैषम्यं समता ॥ ५ ॥

अवैषम्यं प्रक्रमाभेदः समता। क्वचित् क्रमोऽपि भिद्यते।

यथा—

च्युतसुमनसः कुन्दाः पुष्पोद्गमेष्वलसा द्रुमा
मलयमरुतः सर्पन्तीमे वियुक्तधृतिच्छिदः।
अथ च सवितुः शीतोल्लासं लुनन्ति मरीचयो
न च जरठतामालम्बन्ते क्लमोदयदायिनीम् ॥

ऋतुसन्धिप्रतिपादनपरेऽत्र द्वितीये पादे क्रमभेदो, मलयमरुताम-साधारणत्वात् । एवं द्वितीयः पादः पठितव्यः—'मनसि च गिरं वध्नन्तीमे किरन्ति न कोकिलाः' इति ॥ ५ ॥

हिन्दी—अवैषम्य (विषमता का अभाव) समता गुण है ।

अवैषम्य अर्थात् प्रक्रम का अभेद समता है । कहीं-कहीं क्रम का भेद भी होता है, यथा—

कुन्द फूलों से रहित हो गए हैं और अन्य पुष्पवृक्षों में ऋतु-सन्धि के कारण अभी फूल खिलना आरम्भ नहीं हुआ है । वियोगियों को अधैर्य करनेवाला मलय-पवन चल रहा है । सूर्य की किरणें सर्दी के कुहासे को नष्ट कर रही हैं किन्तु पसीना उत्पन्न करनेवाली अत्युष्णता को अभी प्राप्त नहीं हुई हैं ।

ऋतु-सन्धि (शिशिर और वसन्त ऋतुओं की सन्धि) के प्रतिपादक द्वितीय पाद में मलय-पवन के विशेष होने से प्रक्रम-भेद है । इसलिए इसका द्वितीय (संशोधित) पाठ पढ़ना चाहिए—

ये कोकिल मन ही मन बोलना चाहते हैं किन्तु ऋतु-सन्धि के कारण व्यक्त रूप से बोल नहीं रहे हैं ॥ ५ ॥

अवैषम्यमिति ॥ अवैषम्यं नाम प्रक्रमाभेदः, सुगमत्वं वा भवतीत्यभि-सन्धाय प्राथमिकं पक्षमुपक्षिपति—अवैषम्यं, प्रक्रमाभेद इति । प्रक्रमस्याभेदो भेदाभावः । तत्प्रतिपत्तेः प्रक्रमभेदप्रतिपत्तिपूर्वकत्वात् प्रक्रमभेदं दर्शयितुं प्रथमतः प्रत्युदाहरणं दर्शयति—क्वचिदिति । अत्र प्रक्रमभेदं प्रतिपादयति—ऋतुसन्धीति । ऋत्वोः शिविरवसन्तयोः सन्धिः । असाधारणत्वाद् वसन्तैक-धर्मत्वादित्यर्थः । इदमेवोदाहरणयितुं पाठान्तरं प्रकल्पयति—एवं द्वितीय इति । 'मनसि च गिरं बध्नन्तीमे किरन्ति न कोकिलाः' इति पाठे प्रक्रमाऽभेदः स्फुटः ॥ ५ ॥

विवेकिनोऽत्र शिष्या इति कथमवैषम्यं प्रक्रमाभेद इति । तत्रारुच्या पक्षान्तरमुपक्षिपति—

सुगमत्वं वाऽवैषम्यमिति ॥ ६ ॥

सुखेन गम्यते ज्ञायत इत्यर्थः । यथा—'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' इत्यादि । यथा वा—

का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या ।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम् ॥
प्रत्युदाहरणं सुलभम् ॥ ६ ॥

हिन्दी—अथवा सुगमता अवैषम्य है। जिससे सुगमता से अर्थ-बोध हो जाता है, यही तात्पर्य है, यथा—

'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' इत्यादि । अथवा यथा—

पाण्डुपत्रों के बीच किसलय की तरह तपस्वियों के मध्य में घूंघटवाली, जिसका सौन्दर्य स्पष्ट परिस्फुटित नहीं होता है, यह कौन है ?

सुगमता (समता) का प्रत्युदाहरण सुलभ है ॥ ६ ॥

सुगमत्वं वेति । उदाहरति । का स्विदिति । अत्र सुगमत्वं सुगमम् । प्रत्युदाहरणं सुलभमिति । अस्य विपर्ययः—

क्रमादपक्रमं, क्लिष्टत्वं च । तदुभयमपि पूर्वमुदाहृतं द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

समाधिं सम्प्रधारयितुमाह—

अर्थदृष्टिः समाधिः ॥ ७ ॥

अर्थस्य दर्शनं दृष्टिः । समाधिकारणत्वात् समाधिः । अवहितं हि चित्तमर्थान् पश्यतीत्युक्तं पुरस्तात् ॥ ७ ॥

हिन्दी—अर्थ की दृष्टि समाधि गुण है ।

अर्थ का दर्शन ही दृष्टि है और उसके समाधिमूलक होने से उसे समाधि कहते हैं। अवहित अर्थात् एकाग्र चित्त ही अर्थों को देखता है, यह पहले ही कहा गया है ॥ ७ ॥

अर्थदृष्टिरिति । ननु समाधिरवधानं, दर्शनं तु ज्ञानविशेषः । कथमुभयोः सामानाधिकरण्यमित्यतः आह—समाधिकारणत्वादिति । समाधिः कारणं यस्येति बहुव्रीहिः । कार्यकारणयोरुभयोरभेदमुपचर्योक्तमित्यर्थः । कार्यकारण-भावमेव ज्ञापयति—अवहितं हीति । 'चित्तैकाग्र्यमवधानमि'ति सूत्रे प्रागुक्त-मित्यर्थः । 'सद्यः कृत्तद्विरदरदनच्छेदगौरैः' इत्यादौ यथा छेदश्छिद्यमाने दन्तादौ पर्यवस्यति तथा दर्शनमत्र दृश्यमानेऽर्थे पर्यवस्यतीति भवत्ययमर्थ-गुणः ॥ ७ ॥

द्वैविध्यमर्थस्य दर्शयितुमाह—

अर्थो द्विविधोऽयोनिरन्यच्छायायोनिर्वा ॥ ८ ॥

यस्यार्थस्य दर्शनं समाधिः सोऽर्थो द्विविधः—अयोनिरन्यच्छायायोनिर्वेति । अयोनिरकारणः । अवधानमात्रकारण इत्यर्थः । अन्यस्य काव्यस्य छायाऽन्यच्छाया तद्योनिर्वा । तद्यथा—

आस्वपेहि मम शीधुभाजनाद् यावदग्रदशनैर्न दश्यसे ।
चन्द्र मद्दशनमण्डलाङ्कितः खं न यास्यसि हि रोहणीभयात् ॥

मा भैः शशाङ्क मम शीधुनि नास्ति राहुः
खे रोहिणी वसति कातर किं बिभेषि ।
प्रायो विदग्धवनितानवसङ्गमेषु
पुंसां मनः प्रचलतीति किमत्र चित्रम् ॥

पूर्वस्य श्लोकस्यार्थोऽयोनिः । द्वितीयस्य च छायायोनिरिति ॥८॥

हिन्दी—वह अर्थ दो प्रकार का है–(१) आयोनि तथा (२) अन्यच्छायायोनि ।

जिस अर्थ का दर्शन समाधि गुण है वह दो प्रकार का है, आयोनि और अन्यच्छायायोनि । अयोनि का अर्थ है अकारण, अर्थात् बिना अन्य कविकृति से प्रेरणा पाए रचना करना, अपि तु स्वयम् अपनी प्रतिभा से रचना करना । अन्य काव्य की छाया को अन्यच्छाया कहते हैं और वह जिस काव्य रचना का कारण है उसे अन्यच्छायायोनि कहते हैं । उदाहरण यथा—

मदिरा-पात्र में प्रतिबिम्बित चन्द्र को देख कर कवि कहता है—हे चन्द्र, मेरे शीधु-भाजन (मदिरा-पात्र) से शीघ्र भाग जाओ जब तक मैं तुम्हें प्रियमुख समझ कर दाँतों से काट न लूँ । मेरे दाँतों के चिह्नों से अङ्कित होकर तुम अपनी पत्नी रोहिणी के भय से आकाश को नहीं जा सकोगे ।

यह कवि की अननुकृत कल्पना होने के कारण आयोनि अर्थमूलक समाधिगुण का उदाहरण है ।

हे चन्द्र, डरो मत, मेरी मदिरा में राहु नहीं है । रोहिणी आकाश में रहती है, तो फिर हे कायर, तुम क्यों डरते हो ? प्रायः चतुर वनिताओं के साथ नव संगमों के अवसर पर पुरुषों का मन चञ्चल हो जाता है, इसमें आश्चर्य क्या है ?

प्रथम श्लोक का अर्थ मौलिक कल्पना-प्रसूत होने के कारण अयोनि है और दूसरा श्लोक का अर्थ प्रथम श्लोकार्थ की छाया में रचित होने के कारण अन्यच्छायायोनि है ॥ ८ ॥

अर्थो द्विविध इति। व्याख्यातुं पूर्वसूत्रार्थमनुवदति—यस्येति। अयोनिरिति। न विद्यते योनिः कारणं यस्येति विग्रहमभिसन्धायाभिधत्ते--अयोनिरकारण इति। कथमसति कारणमात्रे कार्योत्पत्तिरित्याशङ्क्य कवित्वबीजप्रतिभोन्मेषप्रयोजकमवधानमेवाऽत्र कारणमित्यवगमयितुं नञा प्रसिद्धकारणं प्रतिषिद्धचत इत्याह--अहधानेति। विधान्तरं व्याकरोति—अन्यस्य काव्यस्येति। तद्योनिरित्यत्र सा छाया योनिर्यस्येति बहुव्रीहिः। प्रथमं भेदं दर्शयति। आश्वपेपीति। स्पष्टम्। विधान्तरं व्युत्पादयति—मा भैरिति। विभेषीत्यत्र मत्त इत्यध्याहार्यम्। स्त्रीणां प्रियस्य पुरतः स्ववैदग्ध्यप्रकटनमुचितमेवेत्यवगन्तव्यम्। लक्ष्ये लक्षणमवगमयति--पूर्वस्येति। पूर्वभाविना कविना कृतत्वात्॥ ८॥

अर्थो व्यक्तः सूक्ष्मश्च॥ ९॥

यस्यार्थस्य दर्शनं समाधिरिति, स द्वेधा व्यक्तः सूक्ष्मश्च। व्यक्तः स्फुट उदाहृत एव॥ ९॥

हिन्दी— अर्थ के दो प्रकार हैं व्यक्त और सूक्ष्म।

जिस अर्थ का दर्शन समाधि है यह दो प्रकार का है व्यक्त क्षीर सूक्ष्म। व्यक्त स्पष्ट है और उदाहरण भी पहले दिया जा चुका है॥ ९॥

द्विविधस्याप्यर्थस्य द्वैविध्यं दर्शयितुमाह—व्यक्तः सूक्ष्मश्चेति। व्यक्तार्थद्वयस्य प्रागुक्तमुदाहरणाद्वयं प्रत्येतव्यमित्याह—उदाहृत एवेति॥ ९॥

सूक्ष्मविभागं दर्शयितुं सूत्रमवतारयति—

सूक्ष्मं व्याख्यातुमाह—

सूक्ष्मो भाव्यो वासनीयश्च॥ १०॥

सूक्ष्मो द्वेधा भवति—भाव्यो, वासनीयश्च। शीघ्रनिरूपणागम्यो भाव्यः। एकाग्रताप्रकर्षगम्यो वासनीय इति। भाव्यो यथा--

अन्योन्यसंवलितमांसलदन्तकान्ति
सोल्लासमाविरलसंवलितार्धतारम्।
लीलागृहे प्रतिकलं किलिकिञ्चितेषु
व्यावर्तमाननयनं मिथुनं चकास्ति॥

वासनीयो यथा--

अवहित्थवलितजघनं विवर्तिताभिमुखकुचतटं स्थित्वा।
अवलोकितोऽहमनया दक्षिणकरकलितहारलतम्॥ १०॥

हिन्दी--सूक्ष्म की व्याख्या करने के लिए कहते हैं—

सूक्ष्म (अर्थ) भाव्य और वासनीय है ।

सूक्ष्म दो प्रकार का होता है—भाव्य और वासनीय । शीघ्र निरूपण से जो अथ जाना जाए उसे भाव्य कहते हैं। एकाग्रतापूर्ण ध्यान से जो अर्थ समझा जाय वह वासनीय (अर्थ) है । भाव्य का उदाहरण, यथा—

नायक और नायिका दोनों में परस्पर एक दूसरे की मांसल दन्तकान्ति मिश्रित हो रही है । दोनों उल्लास एवं आलस्य से युक्त हैं और आनन्दातिरेक से अर्द्ध-मुद्रित नेत्र हैं । लीलागृह में प्रत्येक कला पर किलकिञ्चितों के अवसर पर दोनों की आँखें एक दूसरे की ओर आकृष्ट हैं और इस तरह नायक-यायिका का युगल सुशोभित हो रहा है ।

इस श्लोक में आलम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारीभाव के संयोग से रतिरूप स्थायीभाव के साधारणीकरण से रसोद्रेक होना बताया गया है। भावना द्वारा शीघ्र ज्ञान होने के कारण यह अर्थ भाव्य है ।

वासनीय का उदाहरण, यथा—

दोनों जङ्घाओं को परस्पर सटाकर, कुचतटों को सामने की ओर करके और दाहिने हाथ से हार को पकड़ती हुई इस नायिका द्वारा मैं देखा गया ॥ १० ॥

सूक्ष्ममिति । विभागं व्युत्पादयति--सूक्ष्म इति । भावकानामवधानमात्रेण विमर्शो भावना । तद्योग्यो भाव्यः । सहृदयसद्व्यवहारसमुल्लसितसंस्कार-सम्पन्नो योऽवधानप्रकर्षस्तेन गम्यो वासनीयः । तदिदमभिसन्धायाहशीघ्रेति । आद्यमुदाहरति--भाव्यो यथेति । लीलागृहे मिथुनमुक्तविधं चकास्तीति वाक्यार्थः । अन्योन्यसंवलितमांसलदन्तकान्तीत्यनेन स्मितसँल्लापाधरास्वादा-दयः, सोल्लासमित्यनेन हर्षौत्सुक्यादयः, अलसमित्यनेन श्रमाङ्गदौर्बल्यादयः, किलिकिञ्चितेषु व्यावर्तमाननयनमित्यनेन प्रणयकलहगर्वभयकम्पादयश्च व्यज्यन्ते । 'क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादेः सङ्करः किलिकिञ्चितम्' इति दशरूपके तल्लक्षणकथनात् । अत्र मिथुनभालम्बनविभावः । लीलागृहमुद्दीपनविभावाः । अधरास्वादाङ्गक्लमस्मितकम्पनयनव्यावर्तनभ्रूभेदादयोऽनुभावाः । उल्ला-सितोन्मीलितहर्षौत्सुक्यादयः किलिकिञ्चिताक्षिप्तक्रोधशोकभयगर्वाश्च सञ्चारिणः । इत्थं विभावानुभावसञ्चारिभिरास्वादनीयतामापाद्यमानो रति-लक्षणः स्थायीभावः साधारण्येन चर्व्यमाणतैकप्राणः सम्भोगशृङ्गारो रसः । तदुक्तं दशरूपके--

'विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
आनीयमानः स्वादुत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः ।। इति ।

वासनीयमुद्भासयति--वासनीय इति । अवहित्थेति । अवहित्थमा-

कारगोपनम् । दुर्लभस्त्वत्संभोगः त्वय्येव लग्नमिदं मदीयं मनः, दुरन्तसन्ताप-शान्तये हारलतिकेयमेका मयि दाक्षिण्यमवलम्बत इत्येवं स्वाभिप्रायप्रकाशन-मवधानप्रकर्षेणात्र सहृदयसंवेद्यम् । अत्र विप्रलम्भश्रृङ्गारः । विभावादयः स्वयमूह्याः । अस्य गुणस्य विपर्ययो–ग्राम्यत्वम् , 'स्वपिति यावद्' इत्यादौ द्रष्टव्यम् ।। ११ ।।

माधुर्यं पर्यालोचयितुमाह—

उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम् ।। ११ ।।

उक्तेर्वैचित्र्यं यत्तन्माधुर्यमिति । यथा—

रसवदमृतं, कः सन्देहो मधून्यपि नान्यथा
मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम् ।
सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्जनो
वदतु यदिहान्यत् स्वादु स्यात् प्रियादशनच्छदात् ।। ११ ।।

हिन्दी—उक्ति-वैचित्र्य माधुर्य गुण है ।

उक्ति का जो वैचित्र्य है वह माधुर्य गुण है, यथा—

अमृत रसवान् होने से सुस्वादु है इसमें सन्देह क्या ? मधुमें भी अन्य प्रकार के आस्वाद नहीं हैं । सुन्दर रसनय आम का फल भी बहुत मधुर होता है । परन्तु अन्य रसों को जानने वाला विद्वान् एक बार भी निष्पक्षपात होकर यह बतावे जो प्रिया के अधर पान से वढ़कर कोई स्वादिष्ट पदार्थ इस संसार में है ? ।। ११ ।।

उक्तिवैचित्र्यमिति । वर्ण्यमानस्यार्थस्य प्रकर्षे प्रतिपाद्ये भङ्गयन्तरेणोक्ति-रुक्तिवैचित्र्यम् । रसवदमृतमिति । कस्यचिन्नागरिकस्येयमुक्तिः । अमृतं रसवद्भवत्येव । मधून्यपि नान्यथा रसवन्त्येव । प्रसन्नरसं चूतस्यापि फल-मधिकं मधुरमेव । कः सन्देह इति सर्वत्रानुषज्ज्यते । तथापि रसान्तरवित् सकृदपि रसविशेषाभिज्ञो जनो मध्यस्थः सन् वदतु । रसज्ञोऽपक्षपाती चेदन्यत् स्वादु भवतीति न वदेत् । तादृशवस्त्वन्तरासम्भवादित्यर्थः । नाना-विधोपमानाऽतिशायि दशनच्छदमिति वक्तव्ये, रसवदमृतमित्यादिभङ्गय-न्तरेण प्रतिपादनादत्र माधुर्यम् । अस्य गुणस्य विपर्ययो—ह्येकस्यैवार्थस्य पुनः पुनः कथनमित्येकार्थत्वम् । प्राय एकार्थश्रुतेर्वैरस्यात् कष्टत्वं वा ।। ११ ।।

सौकुमार्यं समाख्यातुमाह—

अपारुष्यं सौकुमार्यम् ।। १२ ।।

पुरुषेऽर्थे अपारुष्यं सौकुमार्यमिति । यथा 'मृतं, यशःशेषमित्याहुः । एकाकिनं देवताद्वितीयमिति । गच्छेति साधयेति च ॥ १२ ॥

हिन्दी—कठोरता का अभाव सौकुमार्य गुण है।

कठोर अर्थ के प्रतिपादन में कठोरता का अप्रयोग ही सौकुमार्य गुण है, यथा—(१) 'मर गया' इस अर्थ के प्रतिपादन में 'यश मात्र ही अवशेष है' इस वाक्य का प्रयोग (२) 'एकाकी' के अर्थबोध के लिए 'देवताद्वितीय' अर्थात् 'परमात्मा सहायक है जिसका' इस वाक्य का प्रयोग, और (३) किसी को विदा करने के समय में 'जाओ' इस कठोर अर्थ-बोध के लिए अपना कार्य 'सिद्ध करो' इस वाक्य का प्रयोग ॥ १२ ॥

अपारुष्यमिति । परुषे अमङ्गलातङ्कदायिन्यर्थे वर्णनीये यदपारुष्यं तत् सौकुमार्यमिति लक्षणार्थः । उदाहरणानि स्पष्टानि । अस्य गुणस्य विपर्ययोऽश्लीलत्वम् ॥ १२ ॥

उदारता मुदीरयितुमाह—

अग्राम्यत्वमुदारता ॥ १३ ॥

ग्राम्यत्वप्रसङ्गे अग्राम्यत्वमुदारता । यथा—

त्वमेवं सौन्दर्या स च रुचिरतायां परिचितः
कलानां सीमानं परमिह युवामेव भजथः ।
अयि द्वन्द्वं दिष्ट्या तदिति सुभगे संवदति वा-
मतः शेषं चेत् स्याज्जितमिह तदानीं गुणितया ॥

विपर्ययस्तु—

स्वपिति यावदयं निकटे जनः स्वपिमि तावदहं किमपैति ते ।
इति निगद्य शनैरनुमेखलं मम करं स्वकरेण रुरोध सा ॥१३॥

हिन्दी—ग्राम्यत्व का अभाव उदारता गुण है।

ग्राम्यत्व के प्रसङ्ग में अग्राम्यत्व का प्रयोग उदारता है, यथा—

तुम ऐसी अतिसुन्दरी हो और वह (माधव) भी सुन्दरता में जगत्प्रसिद्ध है। कलाओं की परम सीमा को तुम्ही दोनों प्राप्त हो रहे हो। हे सुन्दरी (मालति) तुम दोनों का जोड़ा सौभाग्य से अनुरूप बैठता है। अतः जो कुछ (विवाह आदि) शेष बचा है वह भी यदि सम्पन्न हो जाए तो यहाँ गुणित्व की विजय होगी। किन्तु प्रत्युदाहरण यथा—

जबतक यह आदमी नजदीक में सोता है तब तक मैं सो जाता हूँ, इसमें तेरा क्या बिगड़ता है, यह धीरे से मुझे कहकर उस महिला ने अपनी मेखला की ओर बढ़ते हुए मेरे हाथ को अपने हाथ से रोक दिया ॥ १३ ॥

अग्राम्यत्वमिति । अत्र कन्ये ! कामयमानं कान्तं कामयस्वेति वक्तव्ये ग्राम्यार्थे यदौचित्येन प्रतिपादनं सोदारता । त्वमेवमिति एवं वर्णनापथोत्तीर्णतयाऽनुभूयमानं सौन्दर्यं यस्याः सा तथोक्ता । स च माधवो रुचिरतायां सौन्दर्यविषये परिचितः संस्तुतः, प्रसिद्ध इति यावत् । युवां, स च त्वं च । युवामेव परमिह लोके कलानां सीमानं भजथः । अयि हे मालति ! वां युवयोः द्वन्द्वं मिथुनं दिष्टचा भाग्येन संवदति सदृशं भवतीत्यर्थः । अतः शेषं पाणिग्रहरूपं मङ्गलं कर्म स्याच्चेत् तदानीं गुणितया गुणवत्त्वेन जितम् । युवयोर्गुणसम्पत्तिर्विश्वातिशायिनी भवेदित्यर्थः । अत्र प्रथमं त्वं चेति पृथक्तयोक्तेः, ततो युवामिति मिश्रीकरणेन, तदनन्तरं द्वन्द्वमिति, ततः शेषमिति च विवक्षितार्थव्यञ्जनमुखेन फलपर्यवसायित्वमित्यौचित्यशालिना क्रमेण कामन्दक्या मालतीमुद्दिश्योक्तमिति स्पष्टमुदाहरणत्वम् । प्रत्युदाहरणं प्रत्याययितुमाह—विपर्ययस्त्विति । स्वपितीति । अत्र कश्चित् कामी वयस्याय रहस्यं कथयति । अयं निकटे जनः परिसरसञ्चारी जनो यावत् स्वपिति, यावता कालेन नियतं कर्म निर्वृत्य निद्राति । तावत्, तावन्तं कालं, स्वपिमि । ते किमपैति तावता कालविलम्बेन तव का हानिर्भवति । इत्युक्तप्रकारेण शनैरुपांशु निगद्य कथयित्वा, अनुमेखलं मेखलासमीपे प्रसारितं मम मे करं स्वकरेण रुरोध निरुद्धवती । स्पष्टं ग्राम्यत्वम् ॥१३॥

अर्थव्यक्तिं समर्थयितुमाह—

वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः ॥ १४ ॥

वस्तूनां भावानां स्वभावस्य स्फुटत्वं यदसावर्थव्यक्तिः । यथा—

पृष्ठेषु शंखशकलच्छविषु च्छदानां राजीभिरङ्कितमलक्तकलोहिनीभिः ।
गोरोचनाहरितबभ्रुबहिःपलाशमामोदते कुमुदमम्भसि पल्वलस्य ॥

यथा वा—

प्रथममलसैः पर्यस्ताग्रं स्थितं पृथुकेसरै-
र्विरलविरलैरन्तःपत्रैर्मनाङ्मिलितं ततः ।
तदनु वलनामात्रं किञ्चिद् व्यधायि बहिर्दलै-
र्मुकुलनविधौ वृद्धाऽब्जानां बभूव कदर्थना ॥ १४ ॥

हिन्दी—वस्तु के स्वभाव का स्फुटत्व अर्थव्यक्ति गुण है।

वर्ण्य वस्तुओं के स्वभाव की जो स्पष्टता है उसे अर्थव्यक्ति गुण कहते हैं, यथा—

शङ्ख-खण्ड के सदृश कान्ति वाली पंखुड़ियों के पिछले भाग में अलक्तक (महावर) के समान लाल रेखाओं से अंकित, गोरोचना के समान हरित एवं बाहरी में पलाश-पत्र के समान भूरे रङ्ग से युक्त कुमुद पुष्प छोटे तालाब के जल में खिल रहा है।

इस श्लोक में कवि ने सूर्योदय के समय में तालाब में खिलते हुए कमल के विकास का स्पष्ट वर्णन किया है।

पहले मुरझाए हुए कमल केसरों का अग्रभाग नीचे झुक गया और बाद में बिरली-बिरली पंखुरियाँ परस्पर एक दूसरे से मिल गई हैं। उसके बाद बाहरी पंखुरियाँ कुछ संकुचित हो गईं। इस तरह पुराने कमलों के सम्पुटित होने में कदर्थना हुई ॥ १४ ॥

वस्त्विति । व्याचष्टे । वस्तूनामिति । अशेषविशेषैर्वर्णने पुरः इव प्रतिभासमानत्वमर्थस्य स्फुटत्वम् उदाहरति—पृष्ठेष्विति । शङ्खशकलच्छविषु पृष्ठेषु चरमभागेषु, अलक्तकलोहिनीभी रेखाभिरङ्कितं, गोरोचनावद्धरितानि बभ्रूणि कपिशानि बहिःपलाशानि यस्य तत् कुमुदं, पल्वलस्य वेशन्तस्याऽम्भसि, आमोदते, आमोदमुद्गिरतीति योजना । उदाहरणान्तरमाह—प्रथममिति । प्रथममलसैः पृथुकेसरैः पर्यस्ताग्रं शैथिल्यशालिशिखरं स्थितम् । ततः परं विरलविरलैरत्यन्तशिथिलैरन्तःपत्रैर्मनागीषन्मिलितम् । तदनु बहिर्दलैर्वलनामात्रं सङ्कोचक्रियारम्भमात्रं किञ्चिद् व्यधायि । इत्थं वृद्धाऽब्जानां कदर्थना क्लेशदशा बभूवेति योजना । अस्य विपर्ययः—सन्दिग्धत्वं, क्लिष्टत्वं च ॥१४॥

कान्तिं कथयितुमाह—

दीप्तरसत्वं कान्तिः ॥ १५ ॥

दीप्ता रसाः शृङ्गारादयो यस्य स दीप्तरसः । तस्य भावो दीप्तरसत्वं कान्तिः । यथा—

प्रेयान् सायमपाकृतः सशपथं पादानतः कान्तया
द्वित्राण्येव पदानि वासभवनात् यावन्न यात्युन्मनाः ।
तावत् प्रत्युत पाणिसम्पुटलसन्नीवीनितम्बं धृतो
धावित्वैव कृतप्रणामकमहो प्रेम्णो विचित्रा गतिः ॥

एवं रसान्तरेष्वप्युदाहार्यम् । अत्र श्लोकाः—

गुणस्फुटत्वसाकल्य काव्यपाकं प्रचक्षते ।
चूतस्य परिणामेन स चाऽयमुपमीयते ॥
सुप्तिङ्संस्कारसारं यत् क्लिष्टवस्तुगुणं भवेत् ।
काव्यं वृन्ताकपाकं स्याज्जुगुप्सन्ते जनास्ततः ॥
गुणानां दशतामुक्तो यस्यार्थस्तदपार्थकम् ।
दाडिमानि दशेत्यादि न विचारक्षमं वचः ॥१५॥ इति ॥

इति श्रीपण्डितवरवामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ
गुणविवेचने तृतीयेऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः ।
समाप्तं चेदं गुणविवेचनं तृतीयमधिकरणम् ।

हिन्दी—दीप्तरसत्व कान्ति गुण है । शृङ्गार आदि रस दीप्त हैं जिस रचना में उसे दीप्तरस कहते हैं और उसका भाव अर्थात् दीप्तरसत्वे को कान्ति गुण कहते हैं, यथा—

सायं काल में पैरों पर गिरे एवं शपथ खाते हुए प्रेमी पुरुष को कान्ता ने बहिष्कृत कर दिया । खिन्न होकर वह पुरुष वास-भवन से दो-तीन कदम भी जब तक नहीं जा पाया था कि तबतक खलते हुए नीवीवस्त्र एवं नितम्ब को पकड़ती हुई उस नायिका ने स्वममेव दौड़कर उस पुरुष को प्रणामपूर्वक पकड़ लिया । अहो प्रेम की विचित्र गति है ।

इस तरह अन्य रसों में भी उदाहरणीय है । इस प्रसङ्ग में श्लोक है—

गुणों की स्पष्टता और पूर्णता को 'काव्यपाक' कहते हैं और आम के परिणाम अर्थात् 'आम्रपाक' से इसकी उपमा दी जाती है ।

सुप्, तिङ् का संस्कारमात्र सार है जिस रचना में उसमें वस्तुगुण (अर्थगुण) क्लिष्ट हो जाता है और उस काव्य को 'वृन्ताकपाक' कहा जाता है । उस काव्य से कवि लोग डरते हैं ।

जिस काव्य का अर्थ दशों शब्द गुणों और अर्थगुणों से रहित है वह काव्य निरर्थक है । महाभाष्यकार के 'दाडिमानि दश' इत्यादि की तरह निरर्थक वाणी विचार के योग्य नहीं होती ॥ १५ ॥

गुणविवेचननामक तृतीय अधिकरण में द्वितीय अध्याय समाप्त ।

दीप्तरसत्वमिति । व्याचष्टे—दीप्ता इति । दीप्ता विभावानुभावव्यभिचारिभिरभिव्यक्ताः । प्रेयानिति । अत्र विप्रलम्भपूर्वकसम्भोगश्रृङ्गारः । एवं रसान्तरेष्विति । श्रृङ्गारो द्विविधः—सम्भोगो विप्रलम्भश्च । तत्राद्यः परस्परावलोकनपरिचुम्बनाद्यनन्तभेदादपरिच्छेद्यः । तत्रैको भेद उदाहृतः । विप्रलम्भस्तु परस्पराभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पञ्चविधः । तत्राद्यो यथा—

प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदया-
स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि ।
यास्वन्तःकरणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणा-
दाशंसापरिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रो लयः ।।

एवमन्येऽपि विप्रलम्भवेदा ज्ञातव्याः ।

वीरो यथा—

क्षुद्राः सन्त्रासमेते विजहतु हरयो भिन्नशक्रेभकुम्भा
युष्मद्गात्रेषु लज्जां दधति परममी सायकाः सम्पतन्तः ।
सौमित्रे तिष्ठ पात्रं त्वमसि न हि रुषो नन्वहं मेघनादः
किञ्चिद् भ्रूभङ्गलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि ।।

करुणो यथा—

हा मातस्त्वरिताऽसि कुत्र किमिदं हा देवताः क्वाऽऽशिषो
धिक् प्राणान् परितोऽशनिर्हुतवहो गात्रेषु दग्धे दृशौ ।
इत्थं गद्गदकण्ठरुद्धकरुणाः पौराङ्गनानां गिर-
श्चित्रस्थानपि रोदयन्ति शतधा कुर्वन्ति भित्तीरपि ।।

अद्भुतो यथा—

चित्रं महानेष बताधिकारः क्व कान्तिरेषाऽभिनवैव भङ्गी ।
लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः काव्याकृतिर्नूतन एष सर्गः ।।

हास्यो यथा—

आकुञ्च्य पाणिमशुचिर्मम मूर्ध्नि वैश्या
मन्त्राऽम्भसां प्रतिपदं पृषतैः पवित्रे
तारस्वनं प्रहितसीत्कमदात् प्रहारं
हा हा हतोऽहमिति रोदिति विष्णुशर्मा ।।

भयानको यथा—

ग्रीवाभङ्गाऽभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभिया भूयसा पूर्वकायम् ।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ।।

रौद्रो यथा—

एतत्करालकरवालनिकृत्तकण्ठनालोच्चलद्बहुलबुद्बुदफेनिलौघैः ।
सार्धं डमड्डमरुडात्कृतिहूतभूतवर्गेण भर्गगृहिणीं रुधिरैर्धिनोमि ॥

बीभत्सो यथा—

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसा-
न्यस्थिस्फिक्पृष्ठपीठाद्यवयवजटिलान्युग्रपूनीति जग्ध्वा ।
आत्तस्नाय्वान्त्रनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसन्धिस्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमात्ति ॥

शान्तो यथा—

अहौ वा हारे वा कुसुयशयने वा दृषदि वा
मणौ वा लोष्टे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा ।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः
क्वचित् पुण्येऽरण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः ॥

एवं भावा अप्युदाहार्याः । इत्थमर्थगुणान् समर्थ्य काव्यस्य गुणस्फुटत्व-साकल्याभ्यां तदभावेन चोपादेयत्वानुपादेयत्वे सदृष्टान्तमाचष्टे । गुणस्फुट-त्वेति । गुणानां स्फुटत्वं साकल्यं च, स चायं काव्यपाकः । सुप्तिङां संस्कारो यथाशास्त्रं प्रकृतिषु प्रत्यययोजनमेव सारः स्थिरांशो यस्य । क्लिष्टा अस्फुटा वस्तुनोऽर्थस्य गुणा यस्य । अनेन स्फुटगुणव्यावृत्तिः सूचिता । वृन्ताकस्य पाक इव पाको यस्य । तत् काव्यम् । ततो जना जुगुप्सन्ते । किमुत कावय इति भावः । गुणानामिति । दशता दशसंख्यापरिमितेन वर्गेणेत्यर्थः । 'पञ्चद्दशतौ वर्गे इति निपातितो दशच्छब्द । अपार्थं वाक्यमुदाहरति । दाडिमानीति । दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाजिनं पललपिण्ड इति वाक्यं विचारयोग्यं न भवति । अतोऽलङ्कारशास्त्राद् दोषगुणस्वरूपं विज्ञाय कविर्दोषाञ्जह्याद् गुणानाददीतेत्युपदेशः ॥ १५ ॥

इति कृतरचनायामिन्दुवंशोद्वहेन
त्रिपुरहरधरित्रीमण्डलाखण्डलेन ।
ललितवचसि काव्यालंक्रियाकामधेना-
वधिकरणमयासीत् पूर्तिमेतत् तृतीयम् ॥ १ ॥

इति श्रीगोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालविरचितायां वामनालङ्कारसूत्र-
वृत्तिव्याख्यायां काव्यालङ्कारकामधेनौ गुणविवेचने
तृतीयेऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ।

अथ चतुर्थाऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः

निजसौन्दर्यनिर्धौतस्फुरन् मौक्तिकभूषणा।
प्रसादविशदालोका शारदा वरदाऽन्तु मे ॥ १ ॥

आलङ्कारिकं चतुर्थमधिकरणमारभ्यते। अधिकरणद्वयसंघटनामुद्घाटयति—

गुणनिर्वर्त्या काव्यशोभा। तस्याश्चातिशयहेतवोऽलङ्काराः। तन्निरूपणार्थमालङ्कारिकमधिकरणमारभ्यते। तत्र शब्दालङ्कारौ द्वौ यमकानुप्रासौ क्रमेण दर्शयितुमाह—

पदमनेकार्थमक्षरं वा वृत्तं स्थाननियमे यमकम् ॥ १ ॥

पदमनेकार्थं भिन्नार्थमेकमनेकं वा तद्वदक्षरमावृत्तं स्थाननियमे सति यमकम्। स्ववृत्त्या सजातीयेन वा कात्स्न्यैकदेशाभ्यामनेकपादव्याप्तिः स्थाननियम इति। यानि त्वेकपादभागवृत्तीनि यमकानि दृश्यन्ते तेषु श्लोकान्तरस्थसंस्थानयमकापेक्षयैव स्थाननियम इति ॥१॥

हिन्दी—काव्य-शोभा गुणों से उत्पन्न होती है। उस (काव्य-शोभा) की वृद्धि के हेतु अलङ्कार हैं। उसके निरूपण के लिए यह आलङ्कारिक अधिकरण आरम्भ किया जाता है। उस प्रसङ्ग में यमक और अनुप्रास इन दोनों शब्दालङ्कारों को क्रमशः दिखलाने के लिए कहा है—

स्थान-नियम के रहने पर अनेकार्थक पद अथवा अक्षर की आवृत्ति को 'यमक' कहते हैं।

स्थान-नियम के रहने पर अनेकार्थक अर्थात् विभिन्नार्थवान् एक अथवा अनेक पदों की और उसी तरह (एक अथवा अनेक) अक्षरों की आवृत्ति यमक है। पद की अपनी उपस्थिति (वृत्ति) से अथवा विभिन्न पदांशों के सम्मिश्रण से यथास्वरूप प्रतीयमान होने वाले सजातीय के साथ सम्पूर्ण रूप से अथवा एकदेश से अनेक पादों में व्याप्त होना ही स्थान-नियम है।

किन्तु एक पाद के भाग में स्थित जो यमक देखे जाते हैं उनमें अन्य श्लोकों में समुचित स्थानों अर्थात् भिन्न-भिन्न पादों में स्थित यमकों की अपेक्षा से अर्थात् सजातीय होने के कारण गौणी लक्षणा द्वारा स्थाननियम होता है ॥ १ ॥

टि०—यम्यते गुण्यते आवर्त्यते पदमक्षरं वेति यमः, यह 'यमक' पद का निर्वचन है। यम् नियमने धातु से बाहुलकात् 'घ' प्रत्यय करने पर 'यम' शब्द बनता है।

स्वार्थ में 'क' प्रत्यय से 'यम एव यमकम्' इस प्रकार 'यमक' पद निष्पन्न होता है। अत एव भिन्नार्थक एक अथवा अनेक पदों की आवृत्ति 'यमक' कहलाती है।

गुणनिर्वर्त्येति। गुणैर्निर्वर्त्या निष्पाद्या। अलङ्कारः प्रयोजनमस्येति आलङ्कारिकम्। प्रयोजनमिति ठक्। अलङ्कारा द्विविधाः—शब्दाः, अर्थाश्च। तत्र शब्दप्रतिपत्तिपूर्विकार्थप्रतिपत्तिरिति प्रथमं प्रतिपिपादयिषुस्तद्विभागं दर्शयति। तत्रेति। यमकं विवरीतुं यतते—क्रमेणेति। पदमनेकार्थमिति। अनेकार्थमिति पदविशेषणं, न त्वक्षरविशेषणम्। गवादिश्लिष्टपदवन्नानार्थमात्रं न भवति। किन्तु स्वरमपि भिन्नार्थं पदं हि विवक्षितमित्याह—भिन्नार्थमिति। अमेकमिति जातावेकवचनम्। 'तुल्यश्रुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम्। वर्णानां यः पुनर्वादो यमकं तन्निगद्यत' इति भामहेनोक्तं प्रत्याख्यातुमाह—स्थाननियमे सतीति। यमनमत्र गुणनमावृत्तिरिति यावत्। यम्यते गुण्यते, आवर्त्यते पदमक्षरं वेति यम.। बहुलग्रहणात् कर्मणि घप्रत्ययः। यम एव यमकम्। अयमत्र वाक्यार्थः। भिन्नार्थमेकमनेकं वा पदं तद्वदेकमनेकं वाक्षरं च स्थाननियमे सत्यावृत्तं यमकं भवतीति। तथाच पदयमकमक्षरयमकमिति च द्वैविध्यं दर्शितं भवति। कीदृगत्र स्थाननियम इति तत्राह—स्ववृत्त्येति। यदेव पदमक्षरं वा यमकनिबन्धनं तदेव यदि पादान्तरे वर्तते, यथा 'भ्रमर द्रुमपुष्पाणि' इत्यादौ, तत्र स्ववृत्त्यावृत्तिः। सजातीयनैरन्तर्ये चास्य प्रकर्ष इतीहैव वक्ष्यमाणयुक्त्या सजातीयं यत्र पदान्तरे वर्तते यथा—'हन्त हन्तः' इत्यादौ, तत्र सजातीयस्यावृत्तिः। नियतस्थानाऽऽवृत्तसमानसंख्याक्षरसन्निवेशोऽत्र साजात्यम्। कार्त्स्न्येन समस्तपादगतत्वेन। एकदेशेन पादस्यादिमध्यान्तभागगतत्वेनेत्यर्थः। ननु 'अथ समाववृते कुसुमैर्नवैस्तमिव सेवितुमेकनराधिपम्। यमकुवेरजलेश्वरवज्रिणां समधुरं मधुरञ्चितविक्रमम्' इत्यादौ पादान्तरव्याप्तिलक्षणस्थाननियमासम्भवेन यमकता न स्यात्। अतो लक्षणस्याव्याप्तिरिति। तत्राह—यानि त्विति। एकस्यैव पादस्य भागेषु वर्त्तिर्येषां तानि, एकपादभागवृत्तीनि, तेषु 'द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम्' इत्यादिश्लोकान्तरस्थं संस्थानं यस्य तत्तथाभूतं यमकम्। तदपेक्षया सजातीयेनानेकपादव्याप्तिर्भवतीति भवत्येव स्थाननियमः॥ १॥

यमकस्थानानि दर्शयितुं सूत्रमवतारयति—

स्थानकथनार्थमाह—

पादः पादस्यैकस्यानेकस्य चादिमध्यान्तभागाः स्थानानि ॥ २ ॥

पादः, एकस्य च पादस्यादिमध्यान्तभागाः, अनेकस्य च पादस्य त एव स्थानानि । पादयमकं यथा—

असज्जनवचो यस्य कलिकामधुगर्हितम् ।
तस्य स्याद्विपतरोः कलिकामधुगर्हितम् ॥

एकपादस्थादिमध्यान्तयमकानि यथा—

हन्त हन्तररातीनां धीर धीरर्चिता तव ।
कामं कामन्दकीनीतिरस्या रस्या दिवानिशम् ।

वसुपरासु परासुमिवोज्झतीष्वविकलं विकलङ्कशशिप्रभम् ।
प्रिपतमं यतमन्तुमनीश्वरं रसिकता सिकतास्विव तासु का ॥

सुदृशो रसरेचकितं चकितं भवतीक्षितमस्ति मितं स्तिमितम् ।
अपि हासलवस्तवकस्तव कस्तुलयेन्ननु कामधुरां मधुराम् ॥

पादयोरादिमध्यान्तयमकानि यथा—

भ्रमर द्रुतपुष्पाणि भ्रम रत्यै पिबन् मधु ।
का कुन्दकुसुमे प्रीतिः काकुन्दत्वा विरौषि यत् ॥

अप्यशक्यं तया दत्तं दुःखं शक्यन्तरात्मनि ।
वाष्पो वाहीकनारीणां वेगवाही कपोलयोः ॥

सपदि कृतपदस्त्वदीक्षितेन स्मितशुचिना स्मरतत्त्वदीक्षितेन ।
भवति बत जनः सचित्तदाहो न खलु मृषा कुत एव चित्तदाहो ॥

एकान्तरपादान्तयमक यथा—

उद्वेजयति भूतानि तस्य राज्ञः कुशासनम् ।
सिंहासनवियुक्तस्य तस्य क्षिप्रं कुशासनम् ॥

एवमेकान्तरपादादिमध्ययमकान्यूह्यानि । समस्तपादान्तयमकं यथा—

नतोन्नतभ्रूगतिबद्धलास्यां विलोक्य तन्वीं शशिपेशलास्याम् ।
मनः किमुत्ताम्यसि चञ्चलास्यां कृती स्मराज्ञा यदि पुष्कलास्याम् ॥

एवं समस्तपादादिमध्ययमकानि व्याख्यातव्यानि । अन्ये च सङ्करजातिभेदाः सुधियोत्प्रेक्ष्याः । अक्षरयमकं त्वेकाक्षरमनेकाक्षरं च । एकाक्षरं यथा—

नानाकारेण कान्ताभ्रूराराधितमनोभुवा ।
विविक्तेन विलासेन ततक्ष हृदयं नृणाम् ॥

एवं स्थानान्तरयोगेऽपि द्रष्टव्यः । सजातीयनैरन्तर्यादस्य प्रकर्षो भवति । स चाऽयं हरिप्रबोधे दृश्यते । यथा—

विविधधववना नागगर्द्धद्धनाना विविततगगनानाममज्जज्जनाना ।
रुरुशशललना नावबन्धुन्धुनाना मम हि हिततनानाननस्वस्वनाना ॥

अनया च वर्णयमकमालया पदयमकमाला व्याख्याता ॥ २ ॥

हिन्दी—स्थान-कथन के लिए कहा है—

एक सम्पूर्ण पाद और एक तथा अनेक पाद के आदि, मध्य एवम् अन्त भाग स्थान हैं ।

एक सम्पूर्ण पद और एक पाद के आदि, मध्य एवम् अन्त भाग तथा अनेक पादों के भी वे ही भाग स्थान हैं ।

पाद-यमक यथा—

दुर्जन का कलियुगीय इच्छापूरक वचन जिसके लिए मान्य है उसके लिए विष-वृक्ष की कलियों का मधु निन्दित नहीं है ।

एक ही पाद के आदि, मध्य तथा अन्त में रहने वाले यमक, यथा—

हे शत्रुओं के नाशक धीर, तेरी बुद्धि अच्छी है । इसके लिए कामन्दकी नीति अहोरात्र यथेच्छ आस्वादयोग्य है ।

निष्कलङ्क चन्द्र के समान सुन्दर, निरपराध, सर्वाङ्गपुष्ट किन्तु निर्धन प्रियतम को मृतक के समान छोड़ देने वाली, बालू की तरह स्नेहहीन तथा धनलोभी उन वेश्याओं में क्या रसिकता हो सकती है ?

तुझ में अनुरक्त उस सुन्दरी का चकित भाव, चुपचाप रहना तथा कटाक्ष क्षेपण प्रतीत हो रहा है और उसका मन्द मुस्कान पुष्पगुच्छ के समान भासित होता है । तेरे मधुर मुस्कान की तुलना कौन कर सकता है ?

दोनों पादों के आदि, मध्य तथा अन्त में रहने वाले यमक, यथा—

हे भ्रमर, रत्यानन्द के लिए मधु-पान करता हुआ तू पेड़ों के पुष्पों पर भ्रमण कर, कुन्द फूल में कौन ऐसी प्रीति है जो उसके (शिशिर ऋतु में खिलनेवाले कुन्द पुष्प के) विना (अभी वसन्त ऋतु में) शोकाकुल ध्वनि द्वारा विकृत रोदन करता है ।

शकजातीय स्त्रियों की अन्तरात्मा में उसने असह्य दुःख दिया और वाहीक (वाह्लीक) वासिनी स्त्रियों के कपोलों पर वेगवाही आँसुओं का प्रवाह दिया ।

जब स्मित-शुभ्र एवं कामतत्त्वदीक्षित तेरे कटाक्ष निक्षेपण से ही एकाएक पुरुष का चित्त दग्ध हो जाता है तब यह कहना झूठा नहीं है कि किसी से भी चित्तदाह हो सकता है।

एक पाद के व्यवधान से पादान्त यमक का उदाहरण, यथा—

जिस राजा का निन्दनीय शासन प्रजाजनों को दुःख पहुँचाता है उस राजा को शीघ्र ही राज-सिंहासन से उतर कर कुश के आसन अर्थात् चटाई पर बैठना पड़ता है।

इसी तरह एक पाद के व्यवधान से पाद के आदि तथा मध्य में रहने वाले यमक के उदाहरण स्वयं ज्ञातव्य हैं।

समस्त अर्थात् चारो पादों के अन्त में यमक का उदाहरण, यथा—

रे चञ्चल मन, नत तथा उन्नत भौंहों की गति से लास्ययुक्त एवं चन्द्र के समान सुन्दर इस कृशाङ्गी को देखकर क्यों उतावला हो रहा है, कामदेव की आज्ञा यदि पूर्ण रूप से इस पर आवे तो मैं अनायास ही कृतार्थ हो जाऊँ।

इसी तरह चारो पादों के आदि और मध्य में रहने वाले यमक स्वयं व्याख्येय हैं अन्य भी यमक-भेद-सङ्कर से उत्पन्न भेद विद्वान् के द्वारा स्वयं समझने योग्य हैं।

किन्तु अक्षर यमक के दो भेद हैं—एकाक्षर और अनेकाक्षर। एकाक्षर यथा—

कामदेव की आराधना करनेवाली कान्ता की भौंहों ने विभिन्न प्रकार की विलास-भङ्गिमाओं से लोगों के हृदय को चीर दिया।

इसी तरह स्थानान्तर (पाद के मध्य अथवा अन्त) के योग में भी यमक द्रष्टव्य है।

सजातीय वर्णों के निरन्तर प्रयोग से इसका (एकाक्षर यमक) का प्रकर्ष होता है। वह (सजातीय वर्ण बहुल) यमक हरिप्रबोध काव्य में देखा जाता है। यथा—

समुद्र की तटवर्त्ती भूमि विविध प्रकार के अर्जुनवृक्षमय जंगल से युक्त है, जंगली हाथियों से भरपूर है, वहाँ का आकाश नाना प्रकार के मयूर आदि पक्षियों से व्याप्त हैं तथा वहाँ समुद्र-तट में बिना झुके कोई व्यक्ति नहा नहीं सकता है। वहाँ हरिण एवं खरहे स्वच्छन्द चारण करते हैं। वह भूमि हम दोनों (कृष्ण और बलराम) के शत्रुओं का संहार करनेवाली तथा हमारा हित करने वाली है। उस भूमि का जीवन अमौखिक आवाज से गुञ्जित है।

इस वर्ण यमक-माला से पद-यमक-माला की भी व्याख्या हो गई ॥ २ ॥

स्थानकथनार्थमिति। व्याचष्टे—पाद इति। अत्रायं विभागः। प्रथमपादो द्वितीये तृतीये चतुर्थे क्रमेण यम्यते। एवं द्वितीयस्तृतीये चतुर्थे च। तृतीयश्चतुर्थे। तथा प्रथमो द्वितीयादिषु त्रिषु युगपद् यम्यत इति सप्तधा भवति।

प्रथमो द्वितीये तृतीयश्चतुर्थे, प्रथमश्चतुर्थे द्वितीयस्तृतीये इति द्वौ भेदाविति पादयमकं नवधा। पादस्य त्रेधा विभागपक्षे प्रथमादिपादादिभागो द्वितीयादिपादादिभागेषु पुर्ववत्। प्रथमादिपादमध्यभागो द्वितीयादिपादमध्यभागेषु। प्रथमादिपादान्तभागो द्वितीयादिपादान्तभागेषु यम्यत इति सप्तविंशतिधा, खण्डभेदकल्पनया परिगणनायां भूयसी भेदसंख्येत्युपरम्यते। तत्र दिङ्मात्रं दर्शयितुं पादयमकं तावदुदाहरति—पादयमकमिति। कलेः कामं दोग्धीति कलिकामधुक्। तथाविधमसज्जनस्य खलस्य वचो यस्यार्हितं पूजितं भवति। तस्य पुंसः, विषतरोः कलिकामधु कोरकमकरन्दः गर्हितं न स्यात्। तदप्युपादेयं स्यादित्यर्थः। अथैकस्य पादस्यादिमध्यान्तेषु यमकं क्रमेणोदाहरति —एकपादस्येति। हन्तेति। अरातीनां हन्तः, धीर प्राज्ञ। 'धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः' इत्यमरः। तव धीरर्चिता। हन्तेति हर्षे। अतः कामन्दकसम्बन्धिनी नीतिः कामन्दकप्रणीता दण्डनीतिरित्यर्थः। अस्यास्तव धियः काममत्यर्थं रस्याऽऽस्वादनीया। नन्वत्र पदयमके द्वयोरपि पदत्वाभावे कथं पदयमकमिति न चोदनीयम्। यमकनिबन्धनयोर्द्वयोरेकस्य पदत्वे सति तदन्यस्य संहिताकाले तदाकारानुकारितया पदावभासजनकत्वाद् भवत्येव पदयमकमिति। वसुपरास्विति। अविकलं सम्पूर्णमित्यर्थः। विकलङ्कशशिप्रभ, यत उपरतो मन्तुरपराधौ यस्य तथाविधं निरागसमित्यर्थः। 'आगोऽपराधो मन्तुश्च' इत्यमरः। अनीश्वरमैश्वर्यरहितं प्रियतमं परासुं मृतमिवोज्झितासु त्यक्तवतीसु वसुपरासु वेश्यासु सिकतास्विव, रसिकता रस आसामस्तीति रसिकाः। 'अत इनिठनौ' इति ठन् प्रत्ययः। तासां भावो रसिकता, का, न काचित् तासु रसिकतेत्यर्थः। अत्र प्रियतममित्यक्षरयमकत्वेन पदावृत्यसम्भवान्नेदमुदाहरणम्। सुदृश इति। रसेन रागविशेषेण रेचकितं भ्रमितं, चकितं भयसम्भ्रान्तम्। 'चकितं भयसम्भ्रमः इत्यमरः। मितं स्तोकं स्तिमितं निभृतं सुदृशं ईक्षणं भवति त्वय्यस्ति। अपि किञ्च, हासस्य लवो लेशः। लवलेशकणाणवः' इत्यमरः। स्तबक इव हासलवा हासलवस्तबकः। उपमितं व्याघ्रादिभिः' इति समासः। सोऽपि त्वय्यस्तात्यनुषज्ज्यते। अतः कः पुमान् तव। बवयोरभेदः। मधुरां मनोज्ञां कामस्य धूः कामधुरा ताम्। 'ऋकपूरब्धूःपथामानक्षे' इत्यकारः समासान्तः। न तुलयेन्न कोऽपि तुलयेत्। तव कामधुरां परिच्छेत्तुं न शक्नुयादित्यर्थः। अथ पादयोरादिमध्यान्तभागेषु यमकं क्रमेणोदाहरति पादयोरिति। हे भ्रमर मधु पिबन् रत्य सुखाय द्रुमपुष्पाण्युद्दिश्य भ्रम। सञ्चर कुन्दकुसुमे का प्रीतिः। काकुं ध्वनिविकारं दत्त्वा 'काकुः स्त्रियां विकारो यः शोकभीत्यादिभिर्ध्वनेः।' इत्यमरः। किं विरौषि। रु शब्द इति धातुः। अप्यशक्यमिति—अशक्यम् असह्यं दुःखं शकीनां शकाख्यजनपदस्त्रीणामन्तरात्मनि तया दत्तम्। तयेति

कर्तृपदम् । तदर्थस्तु प्रकरणानुसारेण द्रष्टव्यः । अपि किञ्च, वाहीकनारीणां कपोलयोर्वेगवाही वेगेन वहति प्रवहतीति वेगवाही बाष्पो दत्त इत्यनुपज्ज्यते । सपदीति । स्मितशुचिना कामतत्त्वदोक्षितेन त्वदीक्षितेन सपदि कृतपदो जनस्तदैव सचित्तदाहो भवति । न कुतश्चित्=कुतोऽपि न मृषा खलु अहो । एकान्तरितपादान्तयमकमाह—एकान्तरेति । यस्य राज्ञः कुशासनं कुत्सितं शासनं भूतानि प्राणिन उद्वेजयति । सिंहासनवियुक्तस्य तस्य कुशासनं कुत्सितं शासनं भूतानि प्राणिन उद्वेजयति । सिंहासनवियुक्तस्य तस्य कुशासनं कुशमयमासनं भवति । एवमिति । एकान्तरितपादादियमकं यथा—

करोऽतिताम्रो रामाणां तन्त्रीताडनविभ्रमम् ।
करोति सेर्ष्यं कान्ते च श्रवणोत्पलताडनम् ॥

एकान्तरितपादमध्ययमकं यथा—

यान्ति यस्यान्तिके सर्वेऽप्यन्तकान्तमुपाधयः ।
तं शान्तचित्तवृत्तान्तं गौरीकान्तमुपास्महे ॥ इति ॥

चतुर्ष्वपि पादेषु यमकमुदाहरति । नतोन्नतेति । हे चञ्चल मनः, नते उन्नते च ये भ्रुवौ तयोर्गतिभिर्वलनभङ्गीभिर्बद्धं लास्यं शृङ्गारनटनं यया ताम् । शशीव पेशलं मनोज्ञमास्यं यस्यास्तां तन्वीं विलोक्य किमुत्ताम्यसि । अस्यां तन्व्यां स्मराज्ञा यदि पुष्कला भवेत्तर्हि कृती स्यामिति सम्बन्धः । एवमिति समस्तपादादियमकं यथा—

सारसाऽलंकृताकारा सारसामोदनिर्भरा ।
सारसालवृतप्रान्ता सा रसाढ्या सरोजिनी ॥

समस्तपादमध्ययमकं यथा—

स्थिरायते यतेन्द्रियो न भूयते यतेर्भवान् ।
अमायतेयतेऽप्यभूत् सुखाय ते यतेऽक्षयम् ॥

अन्ये चेति—

सनाकवनितं नितम्बरुचिरं चिरं सुनिनदैर्नदैर्वृतममुम् ।
मता फणवतोऽवतो रसपरा परास्तवसुधा सुधाऽधिवसति ॥ इत्यादि

अक्षरयमकम् अध्यक्षयितुं तद्विभागमाह—अक्षरयमकमिति । तत्राद्यमुदाहरति—नानेति । नानाकारेण विविक्तेन शुद्धेनाराधितमनोभुवा विलासेन कान्ताभ्रूः, नृणां हृदयं ततक्ष । 'अडादीनां व्यवस्थार्थं पृथक्त्वेन प्रकल्पितम् । स्थानान्तरयोगे यथा—

सभासु राजन्नसुराहतैर्मुखैर्महीसुराणां वसुराजितैः स्तुताः ।
न भासुरा यान्ति सुरान्न ते गुणाः प्रजासु रागात्मसु राशितां गताः॥इति॥
अकलङ्कशशाङ्काङ्कामिन्दुमौलेर्मतिर्मम ॥ इत्यादि ।

इत्थमक्षरयमकमुदाहृत्य तदेव नैरन्तर्येण वृत्तमुदाहर्तुमुपश्लोकयति—सजातीयेति ।। विविधेति । अत्र पारावारपरिसरभुवमभिलक्ष्य हलधरं हरिराह—विविधानि बहुविधानि धवानामर्जुनानां वनानि । 'धवो वृक्षे नरे पत्यावर्जुने च द्रुमान्तरे' इति वैजयन्ती । यस्यां सा विविधधववना । नागाः कुञ्जराः सर्पा वा तान् गृध्यति अभिलषन्तीति नागगर्द्धाः । तथाविधा ऋद्धाः समृद्धा ये नानाविधा वयः पक्षिणस्तैर्विततं व्याप्तं गगनं यस्याः सा नागगर्द्धर्द्धनानाविविततगगना । न विद्यते नामो नमनं यस्मिन् कर्मणि तत्तथा मज्जन्तो जना यस्यां सा । अनाममज्जज्जना । अनिति प्राणतीत्यना, स्फुरन्तीति यावत् । अथवा विद्यन्ते नरो यस्यां सा अना । समासान्तविधेरनित्यत्वात् कबभावः । रुरूणां शशानां च ललनं विलसनं यस्यां सा रुरुशशललना । नौ आवयोः, अबन्धुं शत्रुं धुनाना हि यस्मात् कारणात् । मम हितं तनोतीति हिततना । न विद्यते आननं यस्याऽसौ नाननः, स्व आत्मीयः स्वन एवानः प्राणनं यस्याः सा अनाननस्वस्वनाना । एवंविधा समुद्रभूमिरिति वाक्यार्थः पदयमकमालेति । 'स्वभुवे स्वभुवे भयोर्भयोर्भवतां भवतां भसिते भसिते' । इत्यादि द्रष्टव्यम् ।। २ ।।

अथ यमकगोचरमेव किञ्चिद्वैचित्र्यमासूत्रयितुमाह—

भङ्गादुत्कर्षः ।। ३ ।।

उत्कृष्टं खलु यमकं भङ्गाद्भवति ।। ३ ।।

हिन्दी—भङ्ग से यमक का उत्कर्ष होता है ।

पदों में भङ्ग अर्थात् विच्छेद करने से यमक अवश्य उत्कृष्ट होता है ।। ३ ।।

भङ्गादुत्कर्ष इति । व्याचष्टे—उत्कृष्टमिति । भङ्गो नाम वर्णविच्छेदः ।। ३ ।।

भङ्गभेदान् भणितुमाभाषते—

शृङ्खलापरिवर्तकश्चूर्णमिति भङ्गमार्गः ।। ४ ।।

एते खलु शृङ्खलादयो यमकभङ्गानां प्रकारा भवन्ति ।। ४ ।।

हिन्दी—शृङ्खला, परिवर्त्तक और चूर्ण, ये भङ्ग के तीन भेद हैं ।

ये शृङ्खला आदि यमक के भङ्गों के प्रकार हैं ।। ४ ।।

शृङ्खलेति । वृत्तिः स्पष्टार्था ।। ४ ।।

शृङ्खलादीन् सङ्कथयितुं सूत्रमवतारयति—

तान् क्रमेण व्याचष्टे—

वर्णविच्छेदचलनं शृङ्खला ।। ५ ।।

वर्णानां विच्छेदो वर्णविच्छेदः। तस्य चलनं यत् सा श्रृङ्खला। यथा कालिकामधुशब्दे कामशब्दविच्छेदे मधुशब्दविच्छेदे च तस्य चलनम्। लि–म–वर्णयोर्विच्छेदात्॥ ५॥

हिन्दी—वर्ण-विच्छेद का चलन श्रृङ्खला है !

वर्णों का विच्छेद ही वर्णविच्छेद है, उसका जो चलन अर्थात् सरकना है वही श्रृङ्खला है। यथा 'कलिकामधुर्गहितम्' इस उद्धरण में 'काम' शब्द के विच्छेद करने पर तथा 'मधु' शब्द के विच्छेद करने पर क्रमशः कलिशब्दगत 'लि' वर्ण पर रहने वाले विच्छेद का कामशब्दगत 'का' वर्ण पर चलन अर्थात् सरकना होता है। पहले 'कलि + कामधुक्' ऐसा पदच्छेद करने पर वर्ण-विच्छेद 'लि' पर होता है। पुनः 'कलिका + मधु' ऐसा पदच्छेद करने पर वह विच्छेद 'लि' को छोड़कर 'का' को प्रभावित करता है। इस तरह 'लि' और 'म' दोनों वर्णों के विच्छेद से वर्णविच्छेद के चलन की श्रृङ्खला बन जाती है॥ ५॥

तानिति। विग्रहं विवृण्वन् व्याचष्टे—वर्णानामिति। लक्ष्यलक्षणयोरानुकूल्यमुन्मीलयति—यथेति। कलिकेति। अत्र चस्त्वर्थे। पदद्वयात्मके कलिकामधुशब्दे, कामशब्दस्य तु विच्छेदे पृथक्कारे तस्य कलिकामधुशब्दस्य चलनं भवति। कुत इत्यत आह—लि–म–वर्णयोरिति। यद्वा–'कलिकामधुशब्दे कामशब्दविच्छेदे मधुशब्दविच्छेदे च तस्य चलनम्' इति पाठान्तरम्। अत्र चः समुच्चये। अत्र कामशब्दस्य विच्छेदे पृथक्कारे कलिकाविच्छेदस्य चलनं भवति। लिवर्णस्य विच्छेदात्। मधुशब्दस्य विच्छेदे पृथक्कारे कामविच्छेदस्य चलनं भवति। मवर्णस्य विच्छेदादित्यर्थः। एवं श्रृङ्खलारूपवर्णविच्छेदप्रतीतेरयं भङ्गमार्गः श्रृङ्खलेति व्यपदिश्यते॥ ५॥

परिवर्तकं कीर्तयितुमाह—

सङ्गविनिवृत्तौ स्वरूपापत्तिः परिवर्तकः॥ ६॥

अन्यवर्णसंसर्गः सङ्गः। तद्विनिवृत्तौ स्वरूपस्यान्यवर्णतिरस्कृतस्यापत्तिः प्राप्तिः परिवर्तकः। यथा, कलिकामधुगर्हितम् इत्यत्राऽर्हितमिति पदं गकारस्य व्यञ्जनस्य सङ्गाद् गर्हितमित्यन्यस्य रूपमापन्नम्। तत्र व्यञ्जनसङ्गे विनिवृत्ते स्वरूपमापद्यते—अर्हितमिति। अन्यवर्णसंक्रमेण भिन्नरूपस्य पदस्य ताद्रूप्यविधिरयमिति तात्पर्यार्थः। एतेनेतरावपि व्याख्यातौ॥ ६॥

हिन्दीं—समीपस्थ अक्षर की सङ्गति छूट जाने पर विकृत रूप से प्रकृत स्वरूप की प्राप्ति ही परिवर्त्तक नामक दूसरा यमक-भङ्ग है।

अन्य वर्णों का संसर्ग ही सङ्ग (सङ्गति) का अर्थ है, उससे विच्छेद होने पर दूसरे वर्णों (के संसर्ग के कारण) से तिरस्कृत प्रतीत होने वाले वर्ण के अपने स्वरूप की प्राप्ति जिस भङ्ग-भेद में होती है वह परिवर्त्तक नामक यमक है। जैसे—

'कलिकामधुर्गर्हितम्' इसमें 'अर्हितम्' पद व्यञ्जनरूप गकार के सङ्ग से अपने अर्हितार्थप्रतिपादक स्वरूप को छोड़कर 'गर्हितम्' यह अन्य रूप प्राप्त करता है। वहाँ गकार रूप व्यञ्जन का विच्छेद होने पर अर्थात् सङ्ग छूट जाने पर वह 'गर्हित' पद 'अर्हित' रूप को प्राप्त करता है। अन्य वर्ण के संसर्ग से भिन्नरूपात्मक पद का अन्य-वर्णसङ्गविच्छेद होने पर पुनः अपने असली रूप की प्राप्ति का यह विधान है, यही इसका तात्पयार्थ है। इस व्याख्यान से परिवर्तक के अन्य दोनों भेदों को भी व्याख्या हो गई॥ ६॥

सङ्गेति। तद्विनिवृत्तौ=अन्यवर्णसङ्गस्य विनिवृत्तौ। अन्यवर्णो व्यञ्जनं, तेन तिरस्कृतस्य तिरोहितस्य स्वरूपस्यापत्तिः। अर्थान्तरभ्रमं निवारयति—प्राप्तिरिति। लक्ष्ये लक्षणं योजयति—यथेति। स्पष्टमन्यत्। नन्वन्यवर्णसंयोगे हि यमकत्वं सङ्गच्छते, कथं तन्निवृत्तिरुपयुज्यत इत्याशङ्क्य तात्पर्यमाविष्क-रोति। अन्यवर्णसंक्रमेणेति। एतेनेति। नानाविच्छेदशालिपदमेलने स्वरूप-लाभः, भिन्नयोर्हलोः पिण्डीकरणे च स्वरूपलाभ इति द्वौ भेदौ द्रष्टव्यौ॥६॥

चूर्णकं वर्णयितुमाह—

पिण्डाक्षरभेदे स्वरूपलोपश्चूर्णम्॥ ७॥

पिण्डाक्षरस्य भेदे सति पदस्य स्वरूपलोपश्चूर्णम्। यथा—

> योऽचलकुलमवति चलं दूरसमुन्मुक्तशुक्तिमीनां कान्तः।
> साग्नि बिभर्ति च सलिलं दूरसमुन्मुक्तशुक्तिमीनाङ्कान्तः॥

अत्र शुक्तिपदे क्तीति पिण्डाक्षरं, तस्य भेदे शुक्तिपदं लुप्यते। ककारतिकारयोरन्यत्र संक्रमात्। दूरसमुन्मुक्तशुक्, अचलकुलं, तिमीनां कान्तः समुद्रः। अत्र श्लोकाः—

> अखण्डवर्णविन्यासचलनं शृङ्खलाऽमला।
> अनेन खलु भङ्गेन यमकानां विचित्रता॥

यदन्यसङ्गमुत्सृज्य नेपथ्यमिव नर्तकः ।
शब्दस्वरूपमारोहेत् स ज्ञेयः, परिवर्तकः ॥
पिण्डाक्षरस्य भेदेन पूर्वापरपदाश्रयात् ।
वर्णयोः पदलोपो यः स भङ्गश्चूर्णसञ्ज्ञकः ॥
अप्राप्तचूर्णभङ्गानि यथास्थानस्थितान्यपि ।
अलकानीव नात्यर्थं यमकानि चकासति ॥
विभक्तिपरिणामेन यत्र भङ्गः क्वचिद्भवेत् ।
न तदिच्छन्ति यमकं यमकोत्कर्षकोविदाः ॥
आरूढं भूयसा यत्तु पदं यमकभूमिकाम् ।
दुष्येच्चेन्न पुनस्तस्य युक्तानुप्रासकल्पना ॥
विभक्तीनां विभक्तत्वं संख्यायाः कारकस्य च ।
आवृत्तिः सुप्तिङन्तानां मिथश्च यमकाद्भुतम् ॥ ७ ॥

हिन्दी—पिण्डाक्षर (संयुक्ताक्षर) को पृथक् कर देने पर पद के स्वरूप का लोप हो जाना चूर्ण (यमक का तृतीय भेद) है ।

पिण्डाक्षर (संयुक्ताक्षर) के विच्छिन्न होने पर पद के स्वरूप का लोप चूर्ण कहलाता है । यथा—

शोक रहित और मछलियों का प्रिय, बाहर निकले हुए मोतियों वाली शुक्तियों और मछलियों से अङ्कित तट युक्त समुद्र, जो (पर्वतों के पङ्ख काटने वाले इन्द्र के भय से काँपते हुए तथा समुद्र के भीतर छिपकर बैठे हुए शरणागत मैनाक) पर्वत की रक्षा करता है, वड़वानल युक्त तथा विकृत स्वादयुक्त जल को भी धारण करता है ।

इस उदाहरण में 'दूरसमुन्मुक्तशुक्तिमीनाङ्कान्तः' यह खण्ड द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों में अक्षरशः समान है, किन्तु अन्वय-भेद से अर्थ में भेद है (१) दूरे समुन्मुक्ता शुक् शोको येन स दूरसमुन्मुक्तशुक् एवं तिमीनां कान्तः प्रियः । (२) दूरसम् × उन्मुक्ता उद्गतमुक्ता शुक्तयः उन्मुक्तशुक्तयः, एवं मीनानामङ्कश्चिह्नं वर्त्तते अन्तभागे प्रान्तभागे (तटे) ।

यहाँ शुक्ति पद में 'क्ति' यह पिण्डाक्षर (संयुक्ताक्षर है है, उसके अलग हो जाने पर 'शुक्ति' पद लुप्त हो जाता है । शुक में 'क्' तथा तिमीनाम् में 'ति' का संक्रमण हो जाने से 'शुक्ति' का अस्तित्व नष्ट हो जाता है । उक्त उद्धरण का अन्वय इस प्रकार है—दूरसमुन्मुक्तशुक् = शोक को छोड़ देने वाला, अचलकुलम् = मैनाक

आदि पर्वत समूह को, तिमीनां कान्त = मछलियों का प्रिय यह समुद्र। यहाँ उदाहरण रूप में कुछ श्लोक हैं:—

अखण्डित वर्णों के विन्यास का विचलित हो जाना शुद्ध शृखला (यमक-भंग का दूसरा भेद) है। इस भङ्ग से यमकों की विचित्रता प्रतीत होती है।

नाटकीय पात्र रङ्गमञ्च पर अपनाये गये वसनाभूषणों को अभिनय के बाट छोड़ कर अपना वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करता है उसी तरह जो वर्ण अन्य वर्ण के संग छोड़कर वास्तविक शब्द स्वरूप को प्राप्त करता है उसे परिवर्त्तक नामक भङ्गभेद समझना चाहिए।

संयुक्ताक्षर मध्य विच्छेद होने पर प्रथम अक्षर का पूर्व पद में तथा द्वितीय अक्षर का उत्तर पद में मिल जाने से जो संयुक्ताक्षर पद का लोप हो जाता है वह भङ्ग चूर्ण नामक भङ्गभेद है।

जैसे चूर्ण-भंग (रचना-विशेष) से रहित होनेपर उचित स्थान में स्थित भी केश सुशोभित नहीं होते हैं उसी प्रकार चूर्णभङ्ग से हीन उचित स्थान में स्थित भी यमक अतिशय सुशोभित नहीं होता है।

विभक्तियों के विपरिणाम से जहाँ कहीं भंग हो उसे यमकोत्कर्षज्ञाता यमक नहीं मानते हैं।

बहुत दूर तक यमक रूपता को प्राप्त होकर भी जो पद दूषित हो जाए अर्थात् यमक न हो सके उसे अनुप्रास का उदाहरण मानना ठीक नहीं है।

सुबन्त तथा तिङन्त पदों की आवृत्ति, जिससे विभक्तियों, संख्याओं (वचनों) तथा कारकों का भेद हो जाए, 'अद्भुत यमक' है॥ ७॥

पिण्डाक्षरस्येति। पिण्डाक्षरस्य संयुक्ताक्षरस्य। उदाहरति—योऽचलकुलमिति। दूरे समुन्मुक्ता शुक् शोको येन। तिमीनां मत्स्यानां कान्तः प्रियः। उन्मुक्ता उद्गतमुक्ताः शुक्तय उन्मुक्तशुक्तयो मीनाश्चाऽङ्का यस्य स तादृशो यः समुद्रः। चलं भयचञ्चलं दूरसमुन्मुक्तशुगचलकुलमवति। दूरसं दुष्टरसं साग्नि सलिलं बिभर्ति च। लक्ष्ये लक्षणानुगममभिलक्षयति—अत्रेति। पिण्डाक्षरं दर्शयति—शुक्तिपदे क्तीति। तस्य पिण्डाक्षरस्य वर्णयोः शुगित्यत्र ककारस्य तिमीत्यत्र तिकारस्य च भेदे शुक्तिपदस्वरूपं लुप्यते। तत्र हेतुमाह—ककारेति। ककारतिकारयोरन्यत्र शुक्तिपदे तिमिपदे च संक्रमादित्यर्थः। संक्रमणमेव दर्शयति—दूरसमुन्मुक्तशुगिति। तिमानामिति च। विशेषद्वयस्य यथासङ्ख्यं विशेष्यद्वयं दर्शयति—अचलकुलमिति। कान्तः समुद्र इति च। प्रतिपादितेऽर्थे परसंवादं प्रकटयति—अत्र श्लोका इति। पद्यत्रयं स्पष्टार्थम्। भङ्गादुत्कर्ष इत्युपक्रम्य भङ्गमार्गेषु प्रकर्षं प्रतिपाद्यान्यत्रापकर्षमवगमयितुमाह—

अप्राप्तेति । अप्राप्तचूर्णभङ्गानीति विशेषणमलकेष्वपि योजनीयम् । विभक्तीति विभक्तीनां परिणामो विपरणामोऽन्यथाभाव इति यावत् । उदाहरणं तु 'शिवमात्मनि सत्त्वस्थान् पश्यतः पश्यतः शिवो' इत्यादि द्रष्टव्यम् । आरूढमिति । यत्पदं भूयसा भूम्ना, यमकभूमिकां यमकवदवभासमानत्वमारूढं तद् दुष्येद्, दुष्टं भवेत् । ननु, न चेत् तद् यमकं तर्ह्यनुप्रासोऽस्त्विति शङ्कां शकलीकरोति-न पुनरिति । यथा दण्डिनोक्तम्—'कालकालगलकालकालमुखकालकाल कालकालघनकालकालपनकाल काल । कालकालसितकालका ललनिकालकालकालकाऽऽलगतु कालकालकलिकालकाल' इति । विभक्तीनामिति । प्रथमादीनां विभक्तीनां विभक्तत्वं विविधत्वम् । एकवचनादिलक्षणायाः संख्यायाः कर्तृकर्मादिः कारकस्य सुबन्तानां तिङन्तानाञ्च पदानामावृत्तिर्यत्र तद्यमकाद्भुतमतिशयितं यमकमित्यर्थः । क्रमणोदाहरणानि 'विश्वप्रमात्रा भवता जगन्ति व्याप्तानि मात्राऽपि न मुञ्चति त्वाम् ।' इति । 'एताः सन्नामयो बाला यासां सन्नाभयः प्रियः' इति । 'यतस्ततः प्राप्तगुणा प्रभावे यतस्ततश्चेतसि भासते यम्' । इति । 'सरति सरति कान्तस्ते ललामो ललामः' इत्यादीनि । अत्र विभक्तिविपरिणाममात्रे यमकत्वहानिः । प्रकृत्यर्थस्यापि भेदे यमकाद्भुतमिति विवेकः ॥ ७ ॥

इत्थं यमकं लक्षयित्वाऽनुप्रास लक्षयितुमाह—

शेषः सरूपोऽनुप्रासः ॥ ८ ॥

पदमेकार्थमनेकार्थं च स्थानानियतं तद्विधमक्षरं च शेषः । सरूपोऽन्येन प्रयुक्तेन तुल्यरूपोऽनुप्रासः । ननु शेषोऽनुप्रास इत्येतावदेव सूत्रं कस्मान्न कृतम् । आवृत्तिशेषोऽनुप्रास इत्येव हि व्याख्यास्यते । सत्यम् । सिद्ध्यत्येवावृत्तिशेषे, किन्त्वव्याप्तिप्रसङ्गः । विशेषार्थं च सरूपग्रहणम् । कार्त्स्न्येनैवावृत्तिः । कार्त्स्न्यैकदेशाभ्यां तु सारूप्यमिति ॥८॥

हिन्दी—शेष सारूप्य अनुप्रास है ।

एकार्थक एवम् अनेकार्थक पद, अनियत स्थान वाले पद तथा अनियत स्थान वाले अक्षर शेष कहलाते हैं । अन्य प्रयुक्त पद के तुल्य रूप (सरूप) पद अनुप्रास है ।

प्रश्न है कि 'शेषोऽनुप्रासः' इतना ही सूत्र क्यों नहीं बनाया गया । यमक से भिन्न अन्य प्रकार (शेष) की आवृत्ति अनुप्रास है, यही उसकी व्याख्या होगी ।

उत्तर है कि यह ठीक है, आवृत्ति-शेष अनुप्रास है । किन्तु केवल इतना लक्षण होने से अव्याप्ति-दोष की सम्भावना है । अतः विशेष अर्थ के लिए लक्षण में 'सरूप'

पद का ग्रहण किया गया है। यमक में स्वर-व्यञ्जन-संघात की आवृत्ति सम्पूर्ण रूप से होती है किन्तु अनुप्रास में स्वर-व्यञ्जन-संघात, सम्पूर्ण अथवा एकदेश, दोनों प्रकार से सारूप्य हो सकता है॥ ८॥

शेष इति। शेषशब्दार्थमाह—पदमिति। स्थानायितं प्रागुक्तस्थानरहित-मित्यर्थः। एकार्थं पदं स्थानानियतमनेकार्थं च, तद्विधं तथाविधमस्थाननियत-मक्षरं शेषः। सरूपपदार्थमाह—सरूपेति। प्रयुक्तेन पदान्तरेण तुल्यरूपः शेषोऽनुप्रासो भवति। अत्र सूत्रे सरूपपदवैयर्थ्यमाशङ्कते—नन्विति। शेषो-ऽनुप्रास इत्येव कृते सूत्रे, आवृत्तपदानुषङ्गादस्थाननियमं पदमक्षरं वा वृत्तमनु-प्रासो भवतीति सूत्रार्थे सम्पन्ने सारूप्यमर्थात् सम्पत्स्यते, किं सरूपग्रहणेनेति शङ्कार्थः। अर्धाङ्गीकारेण परिहरति–सत्यमिति। अङ्गीकृतमंशमाह–सिद्धय-त्येवेति। सारूप्यमिति शेषः। तथाप्यावृत्तेरविशेषत्वेन सामान्येन तद्व्याप्तं कात्स्न्येनावृत्तत्वं तन्मात्रप्रसङ्गः स्याद्, विशेषस्तु न सिद्धयेदिति शेषः। तमेव विशेषं दर्शयितुमाह—विशेषार्थं चेति। यद्यपि सामान्येन कात्स्न्येनावृत्ति-र्भवति तथापि कात्स्न्यैकदेशाभ्यां सारूप्यमत्र वक्तव्यमिति सरूपग्रहणं कृत-मित्यर्थः॥ ८॥

अनुल्बणो वर्णाऽनुप्रासः श्रेयान्॥ ९॥

वर्णानामनुप्रासः स खल्वनुल्बणो लीनः श्रेयान्। यथा—

क्वचिन्मसृणमांसलं क्वचिदतीव तारास्पदं
प्रसन्नसुभगं मुहुः स्वरतरंगलीलाङ्कितम्।
इदं हि तव वल्लकीरणितनिर्गमैर्गुम्फितं
मनो मदयतीव मे किमपि साधु संगीतकम्॥

उल्बणस्तु न श्रेयान्। यथा—'वल्लीबद्धोर्ध्वजूटोद्भटमटति रट-त्कोटिकोदण्डदण्डः' इति॥ ९॥

हिन्दी—मधुर (उग्रता रहित) वर्णों का अनुप्रास अच्छा होता है।

वर्णों का जो अनुप्रास है यह स्निग्ध (अनुग्र) होने से अच्छा कहलाता है। यथा—

कहीं स्निग्ध और पुष्ट, कहीं अतीव उग्र, फिर कही स्पष्ट एवं सुन्दर, इस तरह के विविध स्वर-तरङ्गों के आलाप से युक्त, वीणा की आवाज से मिलता-जुलता तुम्हारा यह सुन्दर संगीत मेरे मन को मद मस्त सा बना रहा है। उग्र (वर्णों का अस्निग्ध अनुप्रास) तो अच्छा नहीं होता है। यथा—

लता से जटाओं को ऊपर बाँधकर भयङ्कर रूप धारण किये हुए एवं प्रत्यञ्चा के आघात से शब्दायमान चाप दण्ड हाथ में लिये हुए (वह) घूम रहा है ॥ ९ ॥

अनुपासो द्विविधः—उल्बणोऽनुल्बणश्च । तत्रोल्बणादनुल्बण उत्कृष्ट इत्युपपादयितुमाह—अनुल्बण इति । व्याचष्टे । वर्णानामिति । अनुल्बणपदव्याख्यानं, लीन इति । मसृण इत्यर्थः । उदाहरणं तु स्पष्टार्थम् । यथा वा—

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः ।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥ इति ।

उल्बणमुदाहरति—यथेति । वल्लीबद्धेति ॥ ९ ॥

पादानुप्रासः पादयमकवत् ॥ १० ॥

ये पादयमकस्य भेदास्ते पादानुप्रासस्येत्यर्थः । तेषामुदाहरणानि यथा—

कविराजमविज्ञाय कुतः काव्यक्रियाऽऽदरः ।
कविराजं च विज्ञाय कुतः काव्यक्रियादरः ॥

आखण्डयन्ति मुहरामलकीफलानि ।
बालानि बालकपिलोचनपिंगलानि ॥

वस्त्रायन्ते नदीनां सितकुसुमधराः शक्रसङ्काशकाशाः
काशाभा भान्ति तासां नवतुलिनगताः श्रीनदीहंस हंसाः ।
साभाऽम्भोदमुक्तः स्फुरदमलरुचिर्मेदिनी चन्द्रचन्द्र-
श्चन्द्राङ्कः शारदस्ते जयकृदुपगतो विद्विषां कालकालः ॥

कुवलयदलश्यामा मेघा विहाय दिवं गताः
कुवलयदलश्यामो निद्रां विमुञ्चति केशवः ।
कुवलयदलश्यामा श्यामा लताऽद्य विजृम्भते
कुवलयदलश्यामं चन्द्रो नभः प्रतिगाहते ॥

एवमन्येऽपि द्रष्टव्याः ॥ १० ॥

इति श्रीपण्डितवरवामनविरचितायां काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ता-
वालङ्कारिके चतुर्थेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः ।

इति शब्दाऽलङ्कारविचारः ।

हिन्दी—पाद-यमक के समन पादानुप्रास होता है।

पाद-यमक के जो भेद हैं वे पादानुप्रास के भी हैं, इसका यह अर्थ है। उनके उदाहरण, यथा—

कविराज (श्रेष्ठ कवि) को विना जाने अर्थात् सत्कवियों की उपासना के विना काव्य-रचना में आदर कैसे प्राप्त हो सकता है। श्रेष्ठ कवि को जानकर अर्थात् उनकी उपासना के बाद काव्यरचना में भय (दर) कहाँ रह जाता है। इस (उदाहरण में समस्त पादों के वर्णों की अविकल आवृत्ति है।)

छोटे बन्दर के नेत्रों के समान पिङ्गल वर्ण (लाल एवं पीले रङ्ग) वाले छोटे-छोटे धात्री फलों को (तोते) खण्ड-खण्ड कर रहे हैं।

हे इन्द्रसम राजन्, श्वेत पुष्पों से युक्त काश नदियों के स्वच्छ वस्त्रों के समान प्रतीत होते हैं। हे राज्यलक्ष्मी रूप नदी के हंस, बाढ के उन नदियों के नये किनारों पर विचरने वाले हंस काश के समान सुशोभित हो रहे हैं। हे पृथ्वी के चन्द्र, मेघमुक्त एवं निर्मल कान्तियुक्त चन्द्र हंस के समान सुशोभित हो रहा है। हे शत्रु-संहारक, तुम्हारी विजय करने वाला तथा चन्द्रमा से युक्त शरत्काल आ गया है।

कुवलय पुष्प की पंखुरियों के समान काले मेघ आकाश को छोड़कर कहीं चले गये हैं। कुवलय पुष्प की पंखुरियों के समान श्याम वर्ण वाले विष्णु निद्रा छोड़ रहे हैं। कुवलय दल के समान श्याम वर्णवाली श्यामा (प्रियङ्गु) लता आज खिल रही है। कुवलय-दल के समान नील आकाश में चन्द्रमा सुशोभित हो रहा है। यह समस्त पादादि अनुप्रास का उदाहरण है क्योंकि यहाँ चारो पादों के आदि में 'कुवलयदलश्याम' पद की आवृत्ति की गई है।

इस तरह अनुप्रास के अन्य भेद भी ज्ञातव्य हैं ॥ १० ॥

आलङ्कारिक नामक चतुर्थ अधिकरण में प्रथम अध्याय समाप्त।

पादानुप्रासः पादयमकवदिति। अत्रातिदेशप्राप्तमर्थमावेदयति—ये पादयमकस्येति। कविराजमिति। एकत्रादरः। अन्यत्र दरः। 'दरत्रासौ भीतिर्भीः साध्वसं भयम्'। इत्यमरः। उभयत्र दर इति वा व्याख्येयम्। आखण्डयन्तीति। अत्र 'ला—नी' त्यक्षरानुप्रासः। वस्त्रायन्त इति। हे शक्रसंकाश, सितकुसुमधराः काशाः नदीनां वस्त्रायन्ते, दुकूलवदाचरन्तीत्यर्थः। हे श्रीनदीहंस, श्रीराज्यलक्ष्मीरेव नदी तत्र हंस, तासां नदीनां नवपुलिनगताः काशाभा हंसा भान्ति। हे मेदिनीचन्द्र ! चन्द्रः, हंसाभैरम्भोदैर्मुक्तः, अत एव स्फुरदमलरुचिर्भवति।

इे विद्वषां काल, चन्द्राङ्कः शारदः कालः, ते जयकृदुपगत इति। अत्र समस्त-पादान्तपदानुप्रासः। पादान्तपदानामुपरि पादादिषु पुनर्ग्रहणान्मुक्तपदग्रहाख्य-मन्यदपि द्रष्टव्यम्। कुवलयदलेति। अत्र सर्वपादादिपदानुप्रासः। एवमन्ये-ऽपीति।

सितकरकररुचिरविभा विभाकराकार धरणिधर कीर्तिः।
पौरुषकमला कमला साऽपि तवैवास्ति नान्यस्य ॥

इत्यादयः प्रत्येतव्याः ॥ १० ॥

इति श्रीगोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालविरचितायां काव्यालङ्कारसूत्र-
वृत्तिव्याख्यायां काव्यालङ्कारकामधेनावालङ्कारिके
चतुर्थेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः।

अथ चतुर्थाधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः

उत्खण्डिततमस्तोममुपेयमुपरि श्रुतेः ।
उदर्चिरुपमामिन्दोरुक्तिज्योतिरुपास्महे ॥ १ ॥

शब्दालङ्कारेषु चर्वितेषु, खलेकपोतन्यायादखिलानामार्थाऽलङ्काराणामशेषेण प्राप्तौ प्रकृतित्वात् तेषां प्रथममुपमां प्रस्तौति—

सम्प्रत्यर्थालङ्काराणां प्रस्तावः । तन्मूलं चोपमेति सैव विचार्यते—

उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा ॥१॥

उपमीयते सादृश्यमानीयते येनोत्कृष्टगुणेनान्यत्तदुपमानम् । यदुपमीयते न्यूनगुणं तदुपमेयम् । उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यं यदसावुपमेति । ननूपमानमित्युपमेयमिति च सम्बन्धिशब्दावेतौ, तयोरेकतरोपादानेनैवान्यतरसिद्धिरिति । यथा 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इत्यत्रोपमितग्रहणमेव कृतं, नोपमानग्रहणमिति । तद्वदत्रोभयग्रहणं न कर्तव्यम् । सत्यम् । तत् कृतं लोकप्रसिद्धिपरिग्रहार्थम् । यदेवोपमेयमुपमानञ्च लोकप्रसिद्धं तदेव परिगृह्यते, नेतरत् । न हि यथा 'मुखं कमलमिव' इति, तथा 'कुमुदमिव' इत्यपि भवति ॥१॥

हिन्दी—अब अर्थालङ्कारों का अवसर है, और उन अर्थालङ्कारों का मूल उपमा है, इसलिए वही विचारा जाता है—

गुणलेश से उपमान के साथ उपमेय का जो साम्य होता है वही उपमा है ।

जिस उत्कृष्ट गुण वाले पदार्थ से न्यून गुण वाला अन्य पदार्थ उपमित होता है अर्थात् सादृश्य को प्राप्त होता है वह उपमान है । न्यून गुण वाला जो पदार्थ उपमित होता है वह उपमेय है । उपमान अर्थात् अधिक गुणवाले पदार्थ से उपमेय अर्थात् न्यून गुण वाले पदार्थ का गुणलेश से जो साम्य होता है वह उपमा है ।

प्रश्न है कि उपमान और उपमेय ये दोनों सम्बन्धि-शब्द हैं, उन दोनों में से किसी एक के उपादान से ही दूसरे की भी सिद्धि हो जाती है । जैसे 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रनोगे' इस सूत्र में 'उपमित' (उपमेय) का प्रयोग किया गया है 'उपमान' का नहीं । उसी तरह यहाँ दोनों ('उपमान' और 'उपमेय') पदों का ग्रहण नहीं करना चाहिए ।

उत्तर है कि यह कहना ठीक है किन्तु लोकप्रसिद्धि के परिग्रह के लिए दोनों ('उपमान' तथा 'उपमेय') का ग्रहण किया गया है। जो ही उपमेय और उपमान प्रसिद्ध हों उन्हीं का परिग्रहण किया जाना चाहिए दूसरे का नहीं। 'कमल के सदृश मुख' यह लोक-प्रसिद्धि के अनुसार उपमा है किन्तु इसी तरह 'कुमुद के सदृश मुख' यह लोक-प्रसिद्ध न होने से उपमा नहीं है ॥ १ ॥

सम्प्रतीति। व्याख्यातुं सूत्रमुपादत्ते। उपमानेनेति। उपमानोपमेयपदव्युत्पत्ति प्रदर्शयति—उपमीयत इति। उत्कृष्टगुणेन येन चन्द्रादिना सादृश्यमानीयतेऽन्यन्मुखादिकं तदुपमानम्। यत्तु न्यूनगुणमुत्कृष्टगुणेनान्येनोपमीयते तदुपमेयम्। उपमानेन सादृश्यं प्रापयितुमर्हमित्यर्थः। गुणलेशत इति। गुणा उपमानोपमेययोरुत्कृष्टधर्माः। तेषां लेशत एकदेशतः। क्वचिदपि सर्वाकारसादृश्यासम्भवादिति भावः। ननु सम्बन्धिशब्दयोरेकतरग्रहणेऽन्यतरस्यानुक्तसिद्धत्वमिति शङ्कते—नन्विति। अमुमर्थमभियुक्तोक्तिसंवादेन समर्थयते—यथेति। 'उपमितं व्याघ्रादिभिरिति पाणिनीयसूत्रे यथोपमितपदग्रहणेनैव व्याघ्रादीनामुपमानत्वमवगम्यते, तद्वत्राप्युपमानग्रहणं न कर्तव्यमिति भावः। परिहरति—तत्कृतमिति। यदुभयग्रहणं कृतम्। किमर्थम्? लोकप्रसिद्धस्योपमानस्य परिग्रहार्थम्। न ह्यत्र व्युत्पत्तिबलादागतमुपमानं विवक्षितं, किन्तु लोकप्रसिद्धमेवेत्यवगमयितुमुभयग्रहणं कृतमित्यर्थः। तत्प्रसिद्ध्यप्रसिद्धी दर्शयति—यथेति। यथा मुखं पद्ममिवेत्यत्र पद्मं मुखोपमानत्वेन प्रसिद्धं, तथा कुमुदमिवेत्यपि ॥ १ ॥

लौकिकी कल्पिता चेत्यमुपमा द्विविधा। कल्पितां प्रकटयितुमाह—

गुणबाहुल्यतश्च कल्पिता ॥ २ ॥

गुणानां बाहुल्यं गुणबाहुल्यं, तत उपमानोपमेययोः साम्यात् कल्पितोपमा। कविभिः कल्पितत्वात् कल्पिता। पूर्वा तु लौकिकी। ननु कल्पिताया लोकप्रसिद्ध्यभावात् कथमुपमानोपमेयनियमः। गुणबाहुल्यस्योत्कर्षापकर्षकल्पनाभ्याम्। तद्यथा—

उद्गर्भहूणतरुणीरमणोपमर्दभुग्नोन्नतिस्तननिवेशनिभं हिमांशोः।
बिम्बं कठोरबिसकाण्डकडारगौरैर्विष्णोः पदं प्रथममग्रकरैर्व्यनक्ति ॥

सद्यो मुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्पर्द्धि नारङ्गकम्।
अभिनवकुशसूचिस्पर्धि कर्णे शिरीषम् ॥ इति

इदानीं प्लक्षाणां जरठदलविश्लेषचतुर-
स्तिभीनामाबद्धस्फुरितशुकचञ्चूपुटनिभम् ।
ततः स्त्रीणां हंत क्षममधरकान्ति तुलयितुं
समन्तान्निर्याति स्फुटसुभगरागं किसलयम् ॥ २ ॥

हिन्दी—गुणों के बाहुल्य से 'कल्पिता' उपमा होती है ।

गुणों का बाहुल्य गुणबाहुल्य है उससे उपमान और उपमेय दोनों में साम्य होने से कल्पिता उपमा होती है । गुणबाहुल्य के कारण कविकल्पित उपमान से उपमित होने से यह कल्पिता उपमा है । पूर्वप्रदर्शित उपमा लौकिकी है ।

प्रश्न है कि कल्पिता उपमा के कल्पित होने के कारण लोकप्रसिद्धि के अभाव से वहाँ उपमान और उपमेय का नियम कैसे हो सकता है ?

उत्तर है कि गुणबाहुल्य के उक्त उत्कर्ष और अपकर्ष की कल्पना से उपमान और उपमेय का नियम हो सकता है । उपमान में गुणबाहुल्यमूलक उत्कर्ष रहता है और उपमेय में अपेक्षाकृत अपकर्ष । वह जैसे—

व्यक्तगर्भा हूण-तरुणी के रमण (पति) द्वारा किये उपमर्दन (गाढालिङ्गन) से पिचके हुए स्तन के सन्निवेश के समान चन्द्र-बिम्ब कठोर मृणालदण्ड (बिस-काण्ड) सदृश पीली और उदयकालीन किरणों से आकाश को प्रकाशित करता है ।

(यहाँ गुणबाहुल्य के कारण 'उद्गर्भहूणतरुणीरमणोपमर्दभुग्नोन्नतिस्तन' उपमान है और 'चन्द्र-बिम्ब' उपमेय है । लोक-प्रसिद्धि के अभाव में कविकल्पित होने के कारण यहाँ कल्पिता उपमा है ।)

मदमत्त हूण की तुरन्त बनवायी गई दाढ़ी के समान नारंगी का फल ।

(यहाँ 'सद्योमुण्डितमत्तहूणचिबुक' उपमान है और 'नारङ्गक' उपमेय है । लोकप्रसिद्धि के अभाव में कविकल्पित होने से यह यह 'कल्पिता उपमा' है ।)

अभिनव कुशसूचि के समान नोकवाला शिरीषपुष्प कान में है ।

अभी पुराने पत्तों के गिर जाने से सुन्दर नवाङ्कुरो से युक्त बरगद के अर्धस्फुटित शुकचञ्चु के समान सुन्दर एवं लालिमायुक्त नव पल्लव चारो ओर निकल रहे हैं । उस किसलय से स्त्रियों के अधरों की कान्ति की तुलना करने में वह समर्थ है ॥ २ ॥

गुणबाहुल्यत इति । उपमायाः कल्पितत्वव्यपदेशे कारणमाह—कविभिरित । या पुनरुपमा गुणलेशतः साम्यलक्षणा सा लौकिकी प्रागुक्तवत्याह—पूर्वा तु लौकिकीति । प्रसिद्ध्यभावात् कल्पितायामिदमुपमानमिदमुपमेयमिति व्यवस्था न घटत इति शङ्कते—नन्वित । इह खलूपमानोपमेययोर्मुखचन्द्रयोर्गुणोत्कर्षापकर्षौ व्यवस्थापकौ । तत्तत्कल्पनया कल्पितायामुपमानोपमेयनियमो

घटते। अतो न लोकविरोध इति परिहरति—गुणबाहुल्यस्येति। उदाहरति—तद्यथेति। उद्गर्भा व्यक्तगर्भा या हूणाख्यजनपदतरुणी तस्या रमणेन भर्त्रा, उपमर्दो गाढालिङ्गनं, तेन भुग्नः। स चाऽसावुन्नतः स्तनश्च भुग्नोन्नतस्तनस्तस्य निवेशः=सन्निवेशो मण्डलाकार इति यावत्। तन्निभं हिमांशोर्बिम्बम्। कठोरबिसकाण्डा इव कडारगौराः कपिशावदातास्तैरग्रकरैः प्रथममग्रे, विष्णोः पदमाकाशं व्यनक्ति। विषयव्याप्त्यर्थमुदाहरणान्तराण्याह—सद्य इति। मुण्डितेन मत्तस्य हूणजनपदपुरुषस्य चिबुकेन प्रस्पर्द्धितुं शीलमस्याऽस्तीति तत्सन्निभं भवति नारङ्गकमिति। इदानीमिति। जरठदलानां जीर्णपर्णानां विश्लेषेण चतुरा मनोज्ञाः स्तिभयोऽङ्कुरा येषाम्। 'स्तिभिश्च स्तिभिगः शुङ्गोऽप्यङ्कुरोऽङ्कुर एव च' इति हलायुधः। तेषां प्लाक्षाणां किसलयम्। आबद्धो घटितः स्फुरित ईषद्विवृत्तः शुकस्य यश्चञ्चूपुटस्तत्सन्निभं भवति। ततोऽनन्तरम् स्फुटसुभगरागं व्यक्तमनोज्ञारुण्यं, स्त्रीणामधरकान्ति तुलयितुं क्षमं योग्यं सन्निर्याति ॥ २ ॥

उपमाविभागमुदीरयितुमाह—

तद्द्वैविध्यं पदवाक्यार्थवृत्तिभेदात् ॥ ३ ॥

तस्या उपमाया द्वैविध्यम्। पदवाक्यार्थवृत्तिभेदात्। एका पदार्थवृत्तिः, अन्या वाक्यार्थवृत्तिरिति। पदार्थवृत्तिर्यथा—

हरिततनुषु बभ्रुत्वग्विमुक्तासु यासां
कनककणसधर्मा मान्मथो रोमभेदः।

वाक्यार्थवृत्तिर्यथा—

पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ॥ ३ ॥

हिन्दी—पदार्थवृत्ति और वाक्यार्थवृत्ति के भेद से उस उपमा के दो भेद हैं।

उस उपमा के दो प्रकार हैं पदार्थ में रहने वाली और वाक्यार्थ में रहने वाली उपमाओं के भेद से। एक उपमा पद के अर्थ में रहती है और दूसरी उपमा वाक्य के अर्थ में।

पदार्थवृत्ति उपमा का उदाहरण, यथा—

जिनकी मटैली खाल से रहित तथा हरित देहों पर स्वर्णकण के समान कामाभिभूत रोमांच हो रहा है।

वाक्यार्थवृत्ति उपमा का उदाहरण, यथा—

पाण्ड्य देश का वह राजा कन्धे पर लम्बा हार धारण किये हुए है एवं शरीर पर लाल चन्दन का अङ्गराग लगाये हुए हैं। यह पाड्यराज प्रातःकालीन बालातप से रक्तशिखरयुक्त और झरने के प्रवाह से युक्त पर्वतराज (हिमालय) के समान सुशोभित हो रहा है ॥ ३ ॥

तद्द्वैविध्यमिति। व्याचष्टे-तस्या इति। पदार्थवृत्तिमुपमां प्रतिपादयति-पदार्थेति। हरिततनुष्विति। कनककणसधर्मेत्यत्र पदार्थवृत्तिरुपमा। वाक्यार्थ-वृत्तिमुपमामुदाहरति—पाण्ड्योऽयमिति ॥ ३ ॥

सा पूर्णा लुप्ता च ॥ ४ ॥

सा उपमा पूर्णा लुप्ता च भवति ॥ ४ ॥

हिन्दी—वह उपमा दो प्रकार की है पूर्णा और लुप्ता।

(सर्वप्रथम उपमा के दो भेद किये गए हैं, लौकिक और कल्पिता। पुनः प्रकारान्तर से दो भेद किये गये हैं पदार्थवृत्ति और वाक्यार्थवृत्ति। अभी पुनः प्रकारान्तर से दो भेद किये जाते हैं पूर्णा और लुप्ता।)

वह उपमा दो प्रकार की होती है—पूर्णा एवं लुप्ता ॥ ४ ॥

पुनर्भेदं प्रादुर्भावयितुमाह—सा पूर्णा लुप्ता चेति ॥ ४ ॥

पूर्णां वर्णयितुमाह—

गुणद्योतकोपमानोपमेयशब्दानां सामग्र्ये पूर्णा ॥ ५ ॥

गुणादिशब्दानां सामग्र्ये साकल्ये पूर्णा। यथा—'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्' इति ॥ ५ ॥

हिन्दी—गुण, द्योतक, उपमान और उपमेय इन चारों के वाचक शब्दों के पूर्ण रूप से उपस्थित रहने पर पूर्णा उपमा होती है।

(गुण का अर्थ है—उपमान और उपमेय का साधारण धर्म, द्योतक का तात्पर्य है—उपमा का द्योतक इव आदि शब्द, उपमान का अर्थ है—चन्द्र आदि और उपमेय का अर्थ है—मुख आदि।)

गुण, द्योतक, उपमान एवं उपमेय, इन चारों के वाचक शब्दों के समग्र रूप से उपस्थित होने पर पूर्णा उपमा समझी जाती है। यथा—

कमल के समान यह सुन्दर मुख।

(यहाँ उपमानवाचक 'कमल', उपमेयवाचक 'मुख', गुणवाचक 'सुन्दर' तथा द्योतक 'समान' चारों की पूर्ण उमस्थिति में पूर्णा उपमा सिद्ध होती है ।) ॥ ५ ॥

गुणद्योतकेति । व्याचष्टे । गुणादीति । उपमानोपमेयसमानधर्मसादृश्य-प्रतिपादकानामन्यूनत्वेन प्रयोगे पूर्णा । कमलमिवेति । अत्र कमलमुपमानम् । मुखमुपमेयम् । इवशब्दः सादृश्यद्योतकः । मनोज्ञशब्दः समानधर्मवचनः । एतेषामन्यूनतया प्रयोगादियमुपमा पूर्णा ॥ ५ ॥

लुप्तां लक्षयति—

लोपे लुप्ता ॥ ६ ॥

गुणादिशब्दानां वैकल्ये लोपे लुप्ता । गुणशब्दलोपे यथा 'शशीव राजा' इति । द्योतकशब्दलोपे यथा 'दूर्वाश्यामेयम्' । उभयलोपे यथा 'शशिमुखी'ति । उपमानोपमेयलोपस्तूपमाप्रपञ्चे द्रष्टव्यः ॥ ६ ॥

हिन्दी—(गुण, द्योतक, उपमान और उपमेय, इन चारों में से किसी अथवा किन्हीं के) लोप होने पर लुप्ता उपमा होती है ।

गुण आदि शब्दों के अभाव अर्थात् लोप होने पर लुप्ता उपमा होती है । गुण अर्थात् साधारण धर्म-बोधक शब्द के लोप होने पर लुप्ता का उदाहरण, यथा—चन्द्र सदृश राजा । द्योतक (उपमा-बोधक इवादि) शब्द के लोप होने पर लुप्ता उपमा का उदाहरण, यथा—यह दूर्वाश्यामा (स्त्री) दोनों (गुणवाचक तथा द्योतक शब्दों) के लोप होने पर लुप्ता उपमा का उदाहरण, यथा—शशिमुखी । उपमान और उपमेय, दोनों के लोप होने पर लुप्ता उपमा के उदाहरण आगे उपमा-विचार के प्रसङ्ग में देखना चाहिये ॥ ३ ॥

लोप इति । गुणादिशब्दानामिति । उपमानोपमेयगुणसादृश्यप्रतिपादकानां मध्ये, एकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा लोपे लुप्ता । शशीव राजेत्यत्र साधारणधर्मस्या-प्रयोगादेकस्य लोपः । श्यामाशब्देनैव धर्मधर्मिणोरुक्तत्वात् ।

दूर्वामरकतश्यामं दुष्टराक्षसहारि यत् ।
अचलं लोचनाग्रान्मे मा चलत्वनिशं महः ॥

इत्युदाहरणान्तरमपि द्रष्टव्यम्–शशिमुखीत्यत्र सादृश्यधर्मवचनयोर्लोपः । उपमानस्योपमेयस्य वा लोपः समासोक्त्यादावुदाहरिष्यत इत्याह–उपमानेति । समासोक्त्यादावुपमेयस्याक्षेपादुपमानस्य लोप इति द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

उपमामात्रस्य विषयं दर्शयितुमाह—

स्तुतिनिन्दातत्त्वाख्यानेषु ॥ ७ ॥

स्तुतौ निन्दायां तत्त्वाख्याने चाऽस्याः प्रयोगः । स्तुतिनिन्दयोर्यथा 'स्निग्धं भवत्यमृतकल्पमहो कलत्रं, हालाहलं विषमिवापगुणं तदेव' तत्त्वाख्याने यथा—

तां रोहिणीं विजानीहि ज्योतिषामत्र मण्डले ।
यस्तन्वि तारकान्यासः शकटाकारमाश्रितः ॥ ७ ॥

हिन्दी—स्तुति, निन्दा तथा वास्तविकता के बोध कराने में उपमा का प्रयोग होता है ।

प्रशंसा, निन्दा और यथार्थता के कथन में उपमा का प्रयोग किया जाता है । स्तुति तथा निन्दा के कथन में उपमा का उदाहरण, यथा—

स्नेहशील पत्नी अमृततुल्य होती है किन्तु वहीं स्नेह आदि गुणों से रहित होने पर हालाहल विष के समान होती है ।

तत्त्वाख्यान (वास्तविकता के बोध कराने) में उपमा का उदाहरण, यथा—

हे तन्वि, यहाँ (आकाश में) नक्षत्रों के मण्डल में जो तारों की रचना गाड़ी के आकार के समान है उसे रोहिणी समझो ॥ ७ ॥

स्तुति । स्निग्धमित्यादौ स्तुतिः । हालाहलमित्यादौ निन्दा । तां रोहिणीमित्यत्र तत्त्वाख्यानम् ॥ ७ ॥

उपमादोषानुद्धाटयितुमाह—

हीनत्वाधिकत्वलिङ्गवचनभेदासादृश्याऽसम्भवास्तद्दोषाः ॥८॥

तस्या उपमायाः दोषा भवन्ति । हीनत्वमधिकत्वं लिङ्गभेदो वचनभेदोऽसादृश्यमसम्भव इति ॥ ८ ॥

हिन्दी—हीनत्व, अधिकत्व, लिङ्गभेद, वचनभेद, असादृश्य और असम्भव, (ये छह) उस (उपमा) के दोष हैं ।

उस उपमा के दोष होते हैं—हीनत्व, अधिकत्व, लिङ्गभेद, वचनभेद, असादृश्य और असम्भवता ।

क्रमशः उनकी व्याख्या करने के लिए कहा है—

उपमान की जातिमूलक न्यूनता, प्रमाणमूलक न्यूनता तथा धर्ममूलक न्यूनता हीनत्व है ॥ ८ ॥

हीनत्वेति । समासार्थं विविच्य दर्शयति—तस्या इति ॥ ८ ॥

तत्र प्रथमोद्दिष्टं हीनत्वं प्रथयितुमाह—

तान् क्रमेण व्याख्यातुमाह—

जातिप्रमाणधर्मन्यूनतोपमानस्य हीनत्वम् ॥ ९ ॥

जात्या प्रमाणेन धर्मेण चोपमानस्य न्यूनता या तद्धीनत्वमिति। जातिन्यूनत्वरूपं हीनत्वं यथा—'चाण्डालैरिव युष्माभिः साहसं परमं कृतम्'। प्रमाणन्यूनत्वरूपं हीनत्वं यथा 'वह्निस्फुलिङ्ग इव भानुरयं चकास्ति'। उपमेयादुपमानस्य धर्मतो न्यूनत्वं यत् तद्धर्मन्यूनत्वम्। तद्रूपं हीनत्वं यथा—

स मुनिर्लाञ्छितो मौञ्ज्या कृष्णाजिनपटं वहन्।
व्यराजन्नीलजीमूतभागाश्लिष्ट इवांशुमान् ॥

अत्र मौञ्जीप्रतिवस्तु तडिन्नास्त्युपमान इति हीनत्वम्। नच कृष्णाजिनपटमात्रस्योपमेयत्वं युक्तम्। मौञ्ज्या व्यर्थत्वप्रसङ्गात्। ननु नीलजीमूतग्रहणेनैव तडित्प्रतिपाद्यते। तन्न। व्यभिचारात् ॥९॥

हिन्दी—जाति से, प्रमाण से और धर्म से जो उपमान की न्यूनता है वह हीनत्व (दोष) है।

जातिन्यूनत्व रूप हीनत्व का उदाहरण यथा—

चण्डालों की तरह तुम लोगों ने बड़ा साहस किया। प्रमाणन्यूनत्व रूप हीनत्व का उदाहरण, यथा—

आग की चिनगारी की तरह यह सूर्य चमक रहा है।

(यहाँ चिनगारी रूप उपमान का प्रमाण सूर्य रूप उपमेय की तुलना में अत्यन्त तुच्छ है। अतः यहाँ प्रमाणन्यूनत्वमूलक हीनत्व दोष है।)

उपमेय से उपमान का जो धर्ममूलक न्यूनत्व है वह धर्मन्यूनत्व रूप हीनत्व (दोष) है। उदाहरण, यथा—

मूंज की बनी मेखला (मौञ्जी) से युक्त और काले मृग के चर्म को धारण किये हुए वह मुनि नीले मेघ से घिरे सूर्य के समान विराजते थे।

यहाँ मौञ्जी (मेखला) के समान प्रतिवस्तु तडित उपमान रूप सूर्य में नहीं है (क्योंकि नीलजीमूत के साथ तडित् का सम्बन्ध नहीं दिखाया गया है)। अतः उपमान में उपमेय की अपेक्षा न्यूनता रहने के कारण यहाँ धर्मन्यूनत्व रूप हीनत्व दोष

है। कृष्णाजिन पटमात्र युक्त मुनि का उपमेयत्व मानना उचित नहीं है 'मौञ्ज्य लाञ्छितः' इस विशेषण के व्यर्थ हो जाने के कारण। 'नीलजीमूत' के ग्रहण से ही 'तडित्' का बोध हो जायगा यह नहीं कह सकते हैं, अव्याप्ति रूप दोष के कारण। तडित् से रहित भी नील मेघ देखा जाता है ॥ ९ ॥

जातीति। व्याचष्टे—जात्येति। जातिर्ब्राह्मणत्वादिः। प्रमाणं परिमाणम्। धर्मः समानगुणः। एतेषामन्यतमेन न्यूनत्वमुपमानस्य हीनत्वम्। तत्राद्यमुदाहरति—जातिन्यूनत्वरूपमिति। चाण्डालैरित्यत्र साहसकारित्वं साधर्म्यम्। जातिन्यूनत्वं स्फुटम्। वह्निस्फुलिङ्ग इत्यत्र परिमाणन्यूनत्वमतिरोहितमेव। स मुनिरिति। नीलजीमूतेन कृष्णमेघेन, भागे एकत्र प्रदेशे, आश्लिष्टः। धर्मतो न्यूनत्वमुपमानस्य दर्शयति—अत्रेति। मौञ्ज्याः समानं वस्तु प्रतिवस्तु तडित् साऽत्र नास्ति। उपमानविशेषणतयाऽनुपादानादित्यर्थः। ननु, उपमाने यावद् दृष्टं तावदेव साधर्म्यमुपमेये विवक्षितम्। मौञ्जीलाञ्छनं तु स्वरूपकथनार्थमिति शङ्कां शकलयति—नचेति। नीलजीमूतस्य तडित्साहचर्य्यात् तद्ग्रहणेनैव तडित्संवित्तिरप्युपलभ्यते। ततो न काचिन्न्यूनतेति शङ्कते—नन्विति। तडितमन्तरेणापि नीलजीमूतस्य सद्भावान्नैवमिति परिहरति-तन्न, व्यभिचारादिति ॥ ९ ॥

व्यभिचाराभावे तु सहचरितधर्मप्रतीतिरस्त्येवेति प्रदर्शयितुमनन्तरसूत्रमवतारयति—

अव्यभिचारे तु भवन्ती प्रतिपत्तिः केन वार्यते तदाह—

धर्मयोरेकनिर्देशोऽन्यस्य संवित् साहचर्यात् ॥ १० ॥

धर्मयोरेकस्यापि धर्मस्य निर्देशेऽन्यस्य संवित् प्रतिपत्तिर्भवति। कुतः। साहचर्यात्। सहचरितत्वेन प्रसिद्धयोरवश्यमेकस्य निर्देशेऽन्यस्य प्रतिपत्तिर्भवति। तद्यथा—

निर्वृष्टेऽपि बहिर्घनेन विरमन्त्यन्तर्जरद्वेश्मनो
लूतातन्तुततिच्छिदो मधुपृषत्पिङ्गाः पयोबिन्दवः।
चूडावर्बरके निपत्य कणिकाभावेन जाताः शिशो-
रङ्गास्फालनभग्ननिद्रगृहिणीचित्तव्यथादायिनः ॥

अत्र मधुपृषतां वृत्तत्वपिङ्गत्वे सहचरिते। तत्र पिङ्गशब्देन

पिङ्गत्वे प्रतिपन्ने वृत्तत्वप्रतीतिर्भवति। एतेन 'कनकफलकचतुरस्रं श्रोणिबिम्बम्' इति व्याख्यातम्। कनकफलकस्य गौरत्वचतुरस्रत्वयोः साहचर्याच्चतुरस्रत्वश्रुत्यैव गौरत्वप्रतिपत्तिरिति। ननु च यदि धर्मन्यूनत्वमुपमानस्य दोषः, कथमयं प्रयोगः—

सूर्यांशुसम्मीलितलोचनेषु दीनेषु पद्मानिलनिमदेषु।
साध्व्यः स्वगेहेष्विव भर्तृहीनाः केका विनेशुः शिखिनां मुखेषु॥

अत्र बहुत्वमुपमेयधर्माणामुपमानात्। न, विशिष्टानामेव मुखाना-मुपमेयत्वात्। तादृशेष्वेव केकाविनाशस्य सम्भवात्॥ १०॥

हिन्दी—व्यभिचार न होने पर होती हुई अशाब्द प्रतीति का निषेध कौन करता है, आगे यह कहा है—

दो धर्मों में से एक का भी निर्देश होने पर दूसरे (अनिर्दिष्ट) धर्म की प्रतीति साहचर्य से होती है।

दो (अबिनाभूत) धर्मों में से एक भी धर्म का निर्देश होने पर अन्य (अनि-र्दिष्ट) धर्म का बोध होता है। कैसे? साहचर्य से। सहचरित (नित्यसम्बद्ध) रूप से प्रसिद्ध दो धर्मों में से एक का निर्देश होने पर दूसरे का बोध अवश्य होता है। वह जैसे—

बाहर मेघ के निर्वृष्ट हो जाने पर अर्थात् वर्षा बन्द हो जाने पर भी, पुरानी झोपड़ी के भीतर, मकड़ियों के जालों पर गिर कर उन्हें तोड़ते हुए मधुबिन्दु समान रक्तपीत एवं गोलाकार जल-बिन्दु का गिरना बन्द नहीं हुआ है। उस झोपड़ी में रात में अपनी माता के साथ सोये हुए बालक के बालों में कणिका रूप में गिर कर वे जल-बिन्दु बालक के हाथ-पैर के सञ्चार से भग्ननिद्र उस माता (गृहिणी) के चित्त को दुःखदायी हैं।

यहाँ मधु-बिन्दुओं के वृत्तत्व और पिङ्गत्व (गोलाई और पीलापन) सहचरित (नित्यसम्बद्ध) धर्म हैं। अतः वहाँ पिङ्ग शब्द से पीतत्व के ग्रहण होने पर नित्य-सम्बद्ध वृत्तत्व (गोलाकारत्व) का भी बोध होता है। इसी उदाहरण से—"(नायिका का नितम्ब देश स्वर्ण-फलक (तख्ता) के समान चौरस है।" इस उदाहरण की भी व्याख्या हो गई। स्वर्ण-फलक में गौरत्व और चतुरस्रत्व दोनों के साहचर्य के कारण 'चतुरस्रत्व' मात्र के शब्दतः प्रयोग से ही शब्दतः अप्रयुक्त 'गौरत्व' का भी बोध हो जाता है।

प्रश्न है कि यदि धर्म का न्यूनत्व उपमान का दोष है तो यह प्रयोग कैसा हुआ—

सूर्य की प्रखर किरणों से मुंदे नेत्रों वाले, पद्मस्पर्शी वायु के संस्पर्श से मदहीन एवं दीन मयूरों के मुखों में उनकी केका बोली (आवाज) इस तरह लुप्त हो गई जैसे साध्वी विधवाएं अपने घरों में लीन होकर रहती हैं।

प्रश्न है कि यहाँ उपमान की अपेक्षा बहुविशेषणयुक्त मुखरूप धर्मन्यूनता होने से यहाँ हीनत्व दोष क्यों नहीं माना जाए। उत्तर है कि यह कहना ठीक नहीं है, उतने (तीनों) विशेषणों से विशिष्ट मुखों का ही यहाँ उपमेयत्व है। उसी तरह के बहु-विशेषणयुक्त मुखों में केका ध्वनि का विनाश सम्भव है। अतः यहाँ धर्मन्यूनतामूलक हीनत्व दोष नहीं है ॥ १० ॥

अव्यभिचारे त्विति। व्याचष्टे—धर्मयोरिति। कार्यत्वानित्यत्व-वदविनाभूतयोर्धर्मयोरेकस्य ग्रहणेन अशाब्दस्याऽप्यन्यस्य प्रतिपत्तिर्भवति। तयोरव्यभिचारादिति वाक्यार्थः। उदाहरति—तद्यथेति। निर्वृष्ट इति। बहिर्घने निर्वृष्टे। निर्गतं वृष्टं वर्षणं यस्मात्। तादृशे सत्यपि, जरद्वेश्मनः शिथिलगृहस्य, लूतास्तन्तुजालकराः कृमयः। 'लूता स्त्री तन्तुवायोर्णनाभम-र्कटकाः समाः' इत्यमरः। तत्तन्तूनां ततीश्छिन्दन्तीति तथोक्ताः। मधुपृष-तिपङ्गा मधुबिन्दुपिङ्गलाः, पयोबिन्दवो न विरमन्ति। विरतेऽपि वर्षे वेश्म-बिन्दवो न विरमन्तीत्यर्थः। अत्रेति। मधुपृषतां वृत्तत्वपिङ्गत्वे सहचरिते = अविनाभूते। तत्र पिङ्गशब्देनैव पिङ्गत्वप्रतिपत्तौ, अशाब्दस्यपि वृत्तत्वप्रतीति-र्भवति। उदाहरणान्तरमाह—कनकफलकेति। उक्तं सूत्रार्थमुदाहरणे योज-यति—अत्रेति। कनकफलकस्य चतुरस्रत्वश्रुत्या तत्सहचरितं गौरत्वमपि प्रतीयते। अव्यभिचारादित्यर्थः। धर्मन्यूनत्वस्योपमादोषत्वे प्रयोगविरोध-माशङ्कते—ननु चेति। प्रयोगविरोधं दर्शयति—सूर्येति। मुखेष्वित्युपमेयस्य लोचनसंमीलनदैन्यनिर्मदत्वानां धर्माणां बाहुल्यं प्रतीयत इति विरोधः। परिहरति—नेति। भर्तृहीनजनाश्रयत्वेन गृहेष्वपि दैन्यमवगम्यते। तादृशेषु गृहेषु साध्वीनामिव दैन्यविशिष्टेषु शिखिमुखेषु केकानां विलयो वक्तव्यः। अन्यथा तदसम्भवात्। दैन्यं च नेत्रनिमीलननिर्मदत्वाभ्यां तदनुभावाभ्यामु-पपादितमिति नास्ति धर्मन्यूनतेत्याह—विशिष्टानामिति।

घर्मागमे दुर्मदतिग्मरश्मिसन्तापसम्मीलितलोचनेषु।
साध्व्यः स्वगेहेष्विव भर्तृहीनाः केकाविलीनाः शिखिनां मुखेषु ॥

इति विधाऽन्तरं विधातुं न प्रबन्धकर्ता न प्रगल्भते। किन्तु भर्तृहीन-त्वस्य निर्मदत्वादेश्चोपपादकस्य भेदेऽप्युभयत्र दैन्यमेव साधर्म्यमिति विव-क्षितमिति न कश्चिद्विरोधः ॥ १० ॥

अधिकत्वं व्याख्यातुं सूत्रं व्याहरति—

तेनाधिकत्वं व्याख्यातम् ॥ ११ ॥

तेन हीनत्वेनाधिकत्वं व्याख्यातम्। जातिप्रमाणधर्माधिक्यमधिकत्वमिति। जात्याधिक्यरूपमधिकत्वं यथा 'विशन्तु विष्टयः शीघ्रं रुद्रा इव महौजसः'। प्रमाणाधिक्यरूपं यथा—

पातालमिव नाभिस्ते स्तनौ क्षितिधरोपमौ।
वेणीदण्डः पुनरयं कालिन्दीपातसंनिभः॥

धर्माधिक्यरूपं यथा—

सरश्मि चञ्चलं चक्रं दधद्देवो व्यराजत।
सवाडवाग्निः सावर्तः स्रोतसामिव नायकः॥

सवाडवाग्निरित्यस्योपमेयेऽभावाद् धर्माधिक्यमिति। अनयोर्दोषयोर्विपर्ययाख्यस्य दोषस्यान्तर्भावान्न पृथगुपादानम्। अत एवास्माकं मते षड् दोषा इति ॥ ११ ॥

हिन्दी—इस (हीनत्व-व्याख्या) से अधिकत्व की व्याख्या हो गई।

उस हीनत्व से अधिकत्व की व्याख्या हो गई। (जैसे हीनत्व दोष के तीन प्रकार हैं उसी तरह अधिकत्व दोष के भी तीन प्रकार हैं।) उपमेय की अपेक्षा उपमान में जातिमूलक, प्रमाणमूलक तथा धर्ममूलक आधिक्य होना ही अधिकत्व दोष है। जात्याधिक्य रूप अधिकत्व दोष का उदाहरण यथा—

रुद्र सदृश महापराक्रमी कहार शीघ्र अन्दर प्रवेश करें।

(यहाँ रुद्र रूप उपमान में कहार रूप उपमेय की अपेक्षा जातिमूलक आधिक्य है जो मर्यादा का अतिक्रमण करता है।)

प्रमाणाधिक्य रूप अधिकत्व दोष का उदाहरण, यथा—

तेरी नाभि पाताल की तरह (गहरी) है, दोनों स्तन पर्वत के समान ऊँचे हैं और यह वेणीदण्ड (केशपाश) यमुना नदी के सदृश काला है।

(यहाँ उपमान में मर्यादा का अतिक्रमण करने वाला प्रमाणाधिक्य होने से अधिकत्व दोष है)।

धर्माधिक्यरूप अधिकत्व दोष का उदाहरण, यथा—

प्रकाश–किरणों से युक्त एवं चञ्चल चक्र को धारण किये हुए विष्णु वडवानल एवं भँवर से युक्त नदी नायक समुद्र के सदृश विराजते थे।

(यहाँ उपमानगत 'सवाडवाग्नि' धर्म के सदृश उपमेय रूप देव में न होने से धर्माधिक्य रूप अधिकत्व दोष है)।

इन दोनों दोषों के विपर्यय नामक दोषों (उपमेयगत हीनत्व और उपमेयगत अधिकत्व) का अन्तर्भाव इन्हीं (उपमानगत हीनत्व और उपमानगत अधिकत्व) में हो जाने से उनका पृथक् उपादान नहीं किया गया है। अतः हमारे मत में उपमा के छः दोष हैं ॥ ११ ॥

तेनेति। हीनत्वमिवाधिकत्वमपि जात्यादिभिस्त्रिविधम्। तस्य क्रमेणोदाहरणानि दर्शयति—जात्येति। विष्टयः कारवो भृत्या वा। 'विष्टिः कारौ कर्मकरे' इति वैजयन्ती। पातालमित्यादि स्पष्टम्। 'सवाडवाग्निः सावर्त' इत्यत्राधिक्यमप्युपमाने दर्शयति—सवाडवेति। अत्र सरश्मीति चक्रविशेषणवदावर्तविशेषणानुपादानान्न्यूनत्वमपि द्रष्टव्यम्। जातिप्रमाणहीनत्वाधिकत्वे पदार्थोपमायां दोषो, धर्मन्यूनत्वाधिकत्वे तु वाक्यार्थोपमायाः। पदार्थोपमायां न धर्मन्यूनाधिकभावः सम्भवति। समानधर्मस्यैकत्वेन वाक्यार्थोपमायामिवानेकविशेषवैशिष्ट्यासम्भवादिति द्रष्टव्यम्। विपर्ययाख्यस्येति। उपमेयधर्मस्य हीनत्वमधिकत्वं च विपर्ययः। तदात्मकस्य दोषस्य हीनत्वाधिकत्वानतिरेकात्। तत्रैवान्तर्भाव इति तन्निरूपणेनैव निरूपितप्रायत्वान्न पृथगभिधानं कृतमित्यर्थः। अस्माकमिति ॥ ११ ॥

लिङ्गभेदमुल्लिङ्गयितुमाह—

उपमानोपमेययोर्लिङ्गव्यत्यासो लिङ्गभेदः ॥ १२ ॥

उपमानस्योपमेयस्य च लिङ्गयोर्व्यत्यासो विपर्ययो लिङ्गभेदः। यथा 'सैन्यानि नद्य इव जग्मुरनर्गलानि' ॥ १२ ॥

हिन्दी—उपमान और उपमेय के लिङ्गों में परिवर्तन होना लिङ्गभेद दोष है। यथा—

सेनाएँ नदियों की तरह अबाध गति से चलने लगीं। (यहाँ उपमेय रूप 'सैन्यानि' नपुंसक लिङ्ग है और उपमान रूप 'नद्यः' स्त्री लिङ्ग हैं। अतः लिङ्गभेद दोष है।) ॥ १२ ॥

उपमानोपमेययोरिति। सूत्रार्थविवरणोदाहरणे सुगमे एव। 'गङ्गाप्रवाह इव तस्य निरर्गला वाक्' इत्यादिषु स्त्रीपुंसयोरपि द्रष्टव्यः ॥ १२ ॥

उक्तयुक्त्या पुन्नपुंसकयोर्दोषत्वप्रसङ्गे लिङ्गभेदस्य क्वचिदपवादं दर्शयितुमाह—

इष्टः पुन्नपुंसकयोः प्रायेण ॥ १३ ॥

पुन्नपुंसकयोरुपमानोपमेययोर्लिंङ्गभेदः प्रायेण बाहुल्येनेष्टः। यथा "चन्द्रमिव मुखं पश्यति" इति। 'इन्दुरिव मुखं भाति' एवम्प्रायं तु नेच्छन्ति ॥ १३ ॥

हिन्दी—पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग का विपर्यय प्रायः इष्ट है।

पुँलिङ्ग और नपुंसक लिङ्गवाले उपमान और उपमेय का लिङ्गभेद बहुधा इष्ट होता है यथा—चन्द्रमिव मुखं पश्यति—चन्द्र के समान मुख को देखता है। यहाँ उपमान 'चन्द्र' पुँलिङ्ग है और उपमेय 'मुख' नपुंसक लिङ्ग है। किन्तु इसी तरह 'इन्दुरिव मुखं भाति'—इन्दु के समान मुख सुशोभित होता है—ऐसा प्रयोग कवि लोग नहीं चाहते हैं ॥ १३ ॥

इष्ट इति। एवम्प्रायमिति। एवम्प्रायं तु नेच्छन्तीत्यात्मनस्तत्रौदासीन्यमवगमयति। यत्र हि लिङ्गभेदेऽपि विशेषणमुभयान्वयक्षमं तत्र न दोषः। यत्र तु विशेषणमेकत्रान्वितं सदितरत्र नान्वयक्षमं तत्र दोष इति तात्पर्यम् ॥ १३ ॥

लिङ्गान्तरेऽप्यपवादं दर्शयितुमाह—

लौकिक्यां समासाभिहितायामुपमाप्रपञ्चे च ॥ १४ ॥

लौकिक्यामुपमायां समासाभिहितायामुपमायामुपमाप्रपञ्चे चेष्टो लिङ्गभेदः प्रायेणेति। लौकिक्यां यथा 'छायेव स तस्याः, पुरुष इव स्त्री' इति। समासाभिहितायां यथा 'भुजलता नीलोत्पलसदृशी' इति। उपमाप्रपञ्चे यथा—

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ॥

एवमन्यदपि प्रयोगजातं द्रष्टव्यम् ॥ १४ ॥

हिन्दी—लौकिकी उवमा, समासाभिहिता उपमा तथा उपमा के अन्य भेदों में लिङ्गभेद इष्ट होता है।

लौकिकी उपमा, समासाभिहिता उपमा तथा प्रतिवस्तूपमा आदि उपमा भेदो में

लिङ्गभेद प्रायः इष्ट है। लौकिकी उपमा में यथा—'छायेव स तस्याः' (वह पुरुष उस स्त्री की छाया के सदृश है।) 'पुरुष इव स्त्री' (पुरुष के समान स्त्री)।

समासाभिहिता उपमा में, यथा—'भुजलता नीलोत्पलसदृशी' (नील कमल के समान भुजा)। यहाँ 'नीलोत्पल' का नपुंसक लिङ्ग छिप जाने से लिङ्गभेद दोष नहीं है।

उपमाभेद प्रतिवस्तूपमा में, यथा—

राजभवन में दुर्लभ यह शरीर यदि आश्रमनिवासी जन (शकुन्तला) का है तब तो अलौकिक सौन्दर्य गुणों से उद्यान की लताएँ बन की लताओं द्वारा निश्चय ही तिरस्कृत हो गई।

इस तरह अन्य प्रयोग भी द्रष्टव्य हैं ॥ १४ ॥

लौकिक्यामिति। लोकतः प्रसिद्धोपमा लौकिकी। समासेनाऽभिहिता लुप्ता। उपमाप्रपञ्चः प्रतिवस्तुप्रभृतिः। तत्र लिङ्गभेदः प्रायेणेष्टः। उदाहरणानि दर्शयति—लौकिक्यामिति। उदाहरणानि स्पष्टार्थानि। शुद्धान्तदुर्लभमित्यत्र प्रतिवस्तूपमा। एवमिति। 'नेदं नभोमण्डलमम्बुराशिः' इत्याद्यपह्नुत्यादौ द्रष्टव्यम् ॥ १४ ॥

वचनभेदं विवेचयितुमाह—

तेन वचनभेदो व्याख्यातः ॥ १५ ॥

तेन लिङ्गभेदेन वचनभेदो व्याख्यातः। यथा 'पास्यामि लोचनं तस्याः पुष्पं मधुलिहो यथा' ॥ १५ ॥

हिन्दी—उस (लिङ्गभेद दोष के व्याख्यान) से वचनभेद रूप दोष का व्याख्यान हो गया।

उस लिङ्गभेद के निरूपण से वचनभेद का निरूपण हो गया। (जिस प्रकार उपमान और उपमेय में लिङ्गभेद से लिङ्गभेद रूप उपमा-दोष होता है उसी प्रकार उपमान और उपमेय में वचन-भिन्नता से वचन भेद रूप उपमादोष होता है)। यथा—

जैसे भ्रमर पुष्प का चुम्बन करते हैं उसी तरह मैं उस नायिका के नेत्रों का चुम्बन करूँगा ॥ १५ ॥

तेनेति। पास्यामीति। पास्याम इति वक्तव्ये पास्यामीति प्रयुक्तत्वाद् वचनभेदः ॥ १५ ॥

असादृश्यं प्रकाशयितुमाह—

अप्रतीतगुणसादृश्यमसादृश्यम् ॥ १९ ॥

अप्रतीतैरेव गुणैर्यत् सादृश्यं तदप्रतीतगुणासादृश्यमसादृश्यम्। यथा 'ग्रथ्नामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम्'। काव्यस्य शशिना सह यत् सादृश्यं तदप्रतीतै रेव गुणैरिति। ननु च अर्थानां रश्मितुल्यत्वे सति काव्यस्य शशितुल्यत्वं भविष्यति। नैवम्। काव्यस्य शशितुल्यत्वे सिद्धेऽर्थानां रश्मितुल्यत्वं सिद्धयति। न ह्यर्थानां रश्मीनां च कश्चित् सादृश्यहेतुः प्रतीतो गुणोऽस्ति। तदेवमितरेतराश्रयदोषो दुरुत्तर इति ॥ १९ ॥

हिन्दी—प्रतीत न होनेवाले गुणों से सादृश्य दिखलाना असादृश्य नामक उपमा-दोष है।

प्रतीत न होनेवाले गुणों से ही जो सादृश्य दिखलाया जाता है उसे अप्रतीत गुण सादृश्य नामक उपमा-दोष कहते हैं। यथा—

विस्तृत अर्थ-रश्मियों से युक्त काव्यचन्द्र को प्रथित अर्थात् निर्मित करता हूँ।

यहाँ काव्य का चन्द्रमा के साथ जो सादृश्य है वह प्रतीत न होनेवाले गुणों के द्वारा ही दिखलाया गया है।

प्रश्न है कि अर्थों का रश्मितुल्यत्व मान लेने पर काव्य का चन्द्रतुल्यत्व क्यों नहीं हो सकता है।

उत्तर है कि यह कहना ठीक नहीं है। काव्य की शशितुल्यता सिद्ध होने पर अर्थों की रश्मितुल्यता सिद्ध होती है और अर्थों की रश्मितुल्यता सिद्ध होने पर काव्य की शशितुल्यता सिद्ध होती है, इस स्थिति में अन्योन्याश्रय दोष असमाधेय हो जाएगा। क्योंकि अर्थों और रश्मियों के सादृश्य का कोई हेतु रूप गुण प्रतीत नहीं होता है ॥ १९ ॥

अप्रतीतैरिति। अप्रतीतैः सहृदयसंवादिप्रतिपत्त्यविषयैरित्यर्थः। ग्रथ्नामीति। काव्यशशिनोः सादृश्यमप्रतीतगुणमित्यसादृश्यम्। नन्वर्थानां रश्मिसादृश्यप्रतीत्या काव्यशशिनोरपि सादृश्यवत्त्वं सम्भवतीति शङ्कते नन्विति परस्पराश्रयपराहतमिदं चोद्यमिति परिहरति—नैवमिति। अर्थानां रश्मिसादृश्ये सिद्धे शशिसादृश्यं काव्यस्य सिद्धयति। सिद्धे च काव्यस्य शशिसादृश्येऽर्थानां रश्मिसादृश्यमिति परस्पराश्रय इत्यर्थः। ननु काव्यसादृश्यनिरपेक्ष-

मेवाऽर्थरश्मिसादृश्यं सम्भवति। कुतः परस्पराश्रयप्रसङ्गः? इत्यत आह—न ह्यर्थानामिति। दुरुत्तरो दुष्परिहारः॥ १६॥

सादृश्यैकसारायामुपमायां परां काष्ठामातिष्ठमानैः कविभिरसादृश्यमवश्य-मपोहनीयमिति शिक्षयितुं सूत्रमुपक्षिपति—

असादृश्यहता ह्युपमा, तन्निष्ठाश्च कवयः॥ १७॥

असादृश्येन हता असादृश्यहता उपमा। तन्निष्ठा उपमाननिष्ठाश्च कवय इति॥ १७॥

हिन्दी—असादृश्य से उपमा नष्ट हो जाती है और तन्निष्ठ कवि भी नष्ट हो जाते हैं।

असादृश्य से उपमा नष्ट हो जाती है और सादृश्यविहीन उपमा के प्रयोग में संलग्न कवि भी (अप्रतिष्ठ) हो जाते हैं॥ १७॥

असादृश्येति। उपमानिष्ठा उपमापरायणा इत्यर्थः॥ १७॥

परपक्षं प्रतिक्षेप्तुं पूर्वपक्षसूत्रमुपक्षिपति—

उपमानाधिक्यात् तदपोह इत्येके॥ १८॥

उपमानाधिक्यात् तस्यासादृश्यस्याऽपोह इत्येके मन्यन्ते। यथा 'कर्पूरहारहरहाससितं यशस्ते'। कर्पूरादिभिरुपमानैर्बहुभिः सादृश्यं सुस्थापितं भवति। तेषां शुक्लगुणातिरेकात्॥ १८॥

हिन्दी—उपमानों के आधिक्य से उस अप्रतीत सादृश्यमूलक उपमादोष का निवारण हो सकता है, यह कुछ लोग कहते हैं।

उपमान की संख्याधिकता से उस असादृश्य रूप उपमादोष का निवारण हो सकता है यह कुछ लोग मानते हैं। यथा—

तेरा यश कर्पूर, मुक्ताहार और शिवहास के सदृश उज्ज्वल है।

यहाँ कर्पूर आदि अनेक उपमानों से यश का शुभ्रातिशय रूप सादृश्य सुस्थापित होता है, क्योंकि उन (उपमानों) की शुक्लगुणातिशयता है॥ १८॥

उपमानेति। तदपोहः=तस्यासादृश्यस्यापोहः परिहारः। उदाहरति—कर्पूरेति। श्वेतिमातिशयविशिष्टतया वर्णनीये यशसि सितिमगुणाप्रतीतौ वैसादृश्यशङ्कायां सितगुणातिशयविशिष्टैर्बहुभिरुपमानैः सादृश्यदृढीकरणे उपमेये शौक्ल्यगुणातिरेकावगमाद्। वैसादृश्यमपोह्यत इत्यभिसन्धाय व्याचष्टे। अत्रेति। अत्र हेतुमाह—तेषामिति॥ १८॥

बाहुल्येऽप्युपमानानामर्थप्रकर्षाधायकत्वाभावान्नायं पक्षो युज्यत इति दूषयितुं सूत्रमनुभाषते—

नापुष्टार्थत्वात् ॥ १९ ॥

उपमानाधिक्यात् तदपोह इति यदुक्तं, तन्न। अपुष्टार्थत्वात्। एकस्मिन्नुपमाने प्रयुक्ते उपमानान्तरप्रयोगो न कश्चिदर्थविशेषं पुष्णाति। तेन 'बलसिन्धुः सिन्धुरिव क्षुभितः' इति प्रयुक्तम्। ननु सिन्धुशब्दस्य द्विःप्रयोगात्पौनरुक्त्यम्। न। अर्थविशेषात् बलं सिन्धुरिव वैपुल्याद् बलसिन्धुः सिन्धुरिव क्षुभित इति क्षोभसारूप्यात्। तस्मादर्थभेदान्न पौनरुक्त्यम्। अर्थपुष्टिस्तु नास्ति। सिन्धुरिव क्षुभित इत्यनेनैव वैपुल्यं प्रतिपत्स्यते। उक्तं हि 'धर्मयोरेकनिर्देशेऽन्यस्य संवित्साहचर्यात्' ॥ १९ ॥

हिन्दी—नहीं उपमान की संख्या को बढ़ाने से ही अर्थ की पुष्टि नहीं होती है।

उपमानों के संख्याकृत आधिक्य से असादृश्यमूलक उपमादोष का परिमार्जन हो जाएगा, यह जो कहा गया है वह ठीक नहीं है, अर्थ के पुष्ट न होने से। एक उपमान के प्रयुक्त होने पर यदि सादृश्य की स्पष्ट प्रतीति नहीं होती है तो तत्सदृश उपमानान्तर के प्रयोग से भी अर्थविशेष की पुष्टि नहीं होती है। इसलिए—'सैन्यसिन्धु सिन्धु के समान क्षुब्ध हो गया' (यहाँ उपमान रूप 'सिन्धु' दो बार प्रयुक्त होने पर भी किसी अर्थ विशेष का पोषण नहीं करता है। अतः दोषग्रस्त होने से) यह उदाहरण खण्डित है।

प्रश्न है कि उपर्युक्त उदाहरण में सिन्धु शब्द का दो बार प्रयोग होने से पुनरुक्ति दोष है। उत्तर है कि यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ अर्थविशेष के कारण पुनरुक्ति दोष सम्भव नहीं है। 'बल सिन्धुरिव' इस विग्रह में सैन्य (बल) की विशालता (विपुलता) का बोध होता है। 'सिन्धुरिव क्षुभितः' यहाँ सिन्धु शब्द क्षोभरूप का प्रतिपादक है। अतः यहाँ सिन्धु शब्द के अर्थों में भेद होने से पुनरुक्ति दोष नहीं हो सकता है। सिन्धु शब्द के दो बार प्रयोग से अर्थपुष्टि भी नहीं होती। 'सिन्धुरिव क्षुभितः' केवल इसी से सैन्य की विशालता और क्षुब्धता की प्रतीति हो जाती है, सिन्धु शब्द का पहला प्रयोग निरर्थक होने से यहाँ अपुष्टार्थत्व दोष माना जा सकता है। कहा भी है कि दो अविनाभूत धर्मों में से एक के निर्देश होने पर दूसरे (अनिर्दिष्ट) का बोध साहचर्य से हो जाता है॥ १९ ॥

नापुष्टार्थत्वादिति । परपक्षमनूद्य प्रतिक्षिपति—उपमानेति । अत्र हेतुमुपन्यस्यति—अपुष्टार्थत्वादिति । हेतुं विवृणोति—एकस्मिन्निति । एकेनैवोपमानेन सितिमगुणावगमे सिद्धे पुनः सहस्रमप्युपमानानि यशसि सितिम्नः परप्रकर्षमाधातुं न पारयन्तीत्यर्थः । ननु कर्पूरादयः शब्दाः यशसि सितिमानं प्रतिपादयन्तः सहृदयचर्वणीयत्वं परिष्कारत्वं व्यापकत्वं च गुणान्तरमवगमयन्ति । अतोऽस्त्येवार्थपरिपोष इति चेन्मैवम् । कर्पूरादयः शब्दाः सितपदसमभिव्याहारेण सितिमनि शृङ्खलितशक्तयो न किमपि गुणान्तरमुदीरयितुमुत्सहन्ते । यदि कनकफलकचतुरस्रत्वं तद्गौरत्वमिव कर्पूरादिपदैः सितिमगुणोऽवगम्यमानः स्वसहचरितमपि चर्वणीयत्वं परिष्कारत्वं व्यापनशीलत्वं च गुणान्तरमवगमयेत, तदा भवत्वपुष्टार्थत्वम् । उक्तं दूषणमन्यत्राप्यतिदिशति—तेनेति । नन्वसत्यर्थभेदे सिन्धुशब्दस्य द्विरुक्तौ पौनरुक्त्यमिति वक्तव्यमिति शङ्कामनुभाषते नन्विति । दूषयति—नेति । हेतुमाह—अर्थेति । अर्थभेदादित्यर्थः । अर्थभेदमेव समर्थयते । बलं सिन्धुरिवेति । बलसिन्धुरित्यत्र वैपुल्यं प्रतिपाद्यम् । अन्यत्र तु क्षोभसारूप्यमिति भेदः । निगमयति—तस्मादिति । अपुष्टार्थत्वं स्पष्टयति—अर्थपुष्टिस्त्विति । सिन्धुक्षोभोऽत्र गम्यमानः स्वसहचरितं वैपुल्यमप्यवगमयतीति । अत्र सूक्तं संवादयति—उक्तं हीति । 'इह राजति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव' इत्यत्र द्वयोरिन्दुशब्दयोः श्रेष्ठचन्द्रवाचकत्वेनैकार्थ्याभावान्नाऽपुष्टार्थत्वमित्यवगन्तव्यम् ॥ १६ ॥

असम्भवं व्याख्यातुमाह—

अनुपपत्तिरसम्भवः ॥ २० ॥

अनुपपत्तिरनुपपन्नत्वमुपमानस्यासम्भवः । यथा—

चकास्ति वदनस्यान्तः स्मितच्छायाविकासिनः ।
उन्निद्रस्यारविन्दस्य मध्ये मुग्धेव चन्द्रिका ॥

चन्द्रिकायामुन्निद्रत्वमरविन्दस्येत्यनुपपत्ति । नन्वर्थविरोधोऽयमस्तु । किमुपमादोषकल्पनया । न । उपमायाम् अतिशयस्येष्टत्वात् । २० ।

अनुपपत्तिरिति । अनुपपन्नत्वमिति । उपपत्तिशून्यत्वमनुपपत्तिरित्यर्थः । उदाहरति—चकास्तीति । विकासिनो वदनस्यान्तर्मध्ये स्मितच्छायां उन्निद्रस्यारविन्दस्य मध्ये मुग्धा मनोज्ञा चन्द्रिकेव चकास्ति । अत्रासम्भवमवगमयति—चन्द्रिकायामिति । असम्भवस्यार्थदोषत्वमपाकर्तुमनुभाषते—नन्विति । उन्निद्रारविन्दतन्मध्यवर्तिचन्द्रिकार्थयोविरोधित्वादयमसम्भवोऽर्थदोषोऽस्तु,

नोपमादोषत्वं कल्पनीयमित्यर्थः । परिहरति—नेति । विकासिनो मुखस्य स्मितविकासे वर्णनीये तदुपमानभूतयोन्निद्रारविन्दसम्बन्धिन्या चन्द्रिकया सादृश्ये सति कस्यचिदतिशयस्याभिमतत्वादित्यर्थः ॥ २० ॥

कथं तर्हि दोष इत्यत आह—

न विरुद्धोऽतिशयः ॥ २१ ॥

विरुद्धस्यातिशयस्य संग्रहो न कर्तव्य इति अस्य सूत्रस्य तात्पर्यार्थः । तानेतान् षडुपमादोषान् ज्ञात्वा कविः परित्यजेत् ॥ २१ ॥

इति श्रीकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तावालङ्कारिके, चतुर्थेऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः ॥ उपमाविचारः ॥

हिन्दी—उपमान की अनुपपत्ति 'असम्भव' नामक उपमादोष है ।

उपमान की अनुपत्ति अर्थात् अनुपपन्नता असम्भव नामक दोष है । यथा—

खिले हुए कमल के मध्य में चाँदनी की तरह नायिका के खिले हुए मुख के अन्दर मुस्कराहट की छाया चमकती है ।

चाँदनी में (रात के समय में) कमल का खिलना अनुपपन्न है ।

प्रश्न है कि यह अर्थ विरोध माना जाए, असम्भव नामक उपमा दोष की कल्पना से क्या लाभ ।

उत्तर है कि यह कहना ठीक नहीं है । यहाँ उपमा में विशेषता दिखलाना इष्ट है ।

विशेषता दिखलाना इष्ट मान लिया जाए तब दोष कैसे हुआ ? (इसके उत्तर में) कहा है—

विरुद्ध अतिशय इष्ट नहीं है ।

विरुद्ध अतिशय का संग्रहण (प्रयोग) नहीं करना चाहिए । सूत्र का यही तात्पर्यार्थ है । इन छह उपमा-दोषों को जानकर कवि उनको छोड़ दे ॥ २० ॥

आलङ्कारिक नामक चतुर्थ अधिकरण में द्वितीय अध्याय समाप्त ।

कथं तर्हीति । इष्टश्चेदयमतिशयस्तर्हि गुण एवायं, न तु दोष इत्यर्थः । परिहरति—नेति । अतिशयो विरुद्ध इति यतोऽतो दोष एवेत्यर्थः । निर्वृत्तमर्थं सूत्रस्य निगमयति—विरुद्धस्येति । प्रदर्शितानामेषामुपमादोषाणां परित्याग एव फलमित्यत आह—तानेतानिति ॥ २१ ॥

इति श्रीगोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालविरचितायां काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिव्याख्यायां काव्यालंकारकामधेनावालङ्कारिके चतुर्थेऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ।

अथ चतुर्थाधिकरणे तृतीयोऽध्यायः

सुधारसाभे सुषमाप्रवाहे मुक्तायमानैर्मणिभिर्विचित्रैः।
ज्योत्स्नेव ताराभिरलंकृता मे सा शारदा चेतसि सन्निधत्ताम् ॥ १ ॥

मूलं वस्तुनिगुम्फनोदितकनद्वाक्यानि शाखाः परं
दीव्यद्वाचकसंहतिर्दलगणो राजद्गुणाः पल्लवाः।
अर्थाः पुष्पकदम्बकं सुरुचिरा भूषाः फलं रीतयो
जीवो यस्य विभाति सोऽयमतुलो वाग्दिव्यशाखी चिरम् ॥ २ ॥

सर्वालङ्कारप्रकृतिभूतामुपमामुपपाद्य तत्प्रपञ्चं प्रपञ्चयितुमारभते—

सम्प्रत्युपमाप्रपञ्चो विचार्यते। कः पुनरसावित्याह—

प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपञ्चः ॥ १ ॥

प्रतिवस्तु प्रभृतिर्यस्य स प्रतिवस्तुप्रभृतिः। उपमायाः प्रपञ्च उपमाप्रपञ्च इति ॥ १ ॥

हिन्दी—अब उपमा के प्रपञ्च (भेद-विवरण) का विचार किया जाता है। यह प्रपञ्च कौन सा है इसके उत्तर में कहा है—

प्रतिवस्तूपमा आदि उपमा का प्रपञ्च है।

प्रतिवस्तु (प्रतिवस्तूमा) है आदि में जिन (तीस अलङ्कारों के वे प्रतिवस्तुप्रभृति है। उपमा का प्रपञ्च अर्थात् भेद-विस्तार उपमा प्रपञ्च है ॥ १ ॥

सम्प्रतीति। अनुयोगपूर्वकमनन्तरसूत्रमवतारयति—कः पुनरिति। व्याचष्टे—प्रतिवस्त्विति। प्रभृतिशब्द आद्यर्थः। प्रतिवस्तुप्रमुखाणाम् अलङ्काराणामुपमागर्भत्वादुपमाप्रपञ्च इति व्यपदेशः कृतः।

प्रतिवस्तुप्रभृतय उद्दिश्यन्ते यथाक्रमम्।
प्रतिवस्तु समासोक्तिरथाप्रस्तुतशंसनम् ॥
अपह्नुतौ रूपकं च श्लेषो वक्रोक्त्यलंकृतिः।
उत्प्रेक्षातिशयोक्तिश्च सन्देहः सविरोधकः ॥
विभावनाऽनन्वयः स्यादुपमेयोपमा ततः।
परिवृत्तिः क्रमः पश्चाद्दीपकं च निदर्शना ॥
अर्थान्तरस्य न्यसनं व्यतिरेकस्ततः परम्।
विशेषोक्तिरथ व्याजस्तुतिर्व्याजोक्त्यलंकृति ॥

स्यात्तुल्ययोगिताक्षेपः सहोक्तिश्च समासतः ।
अथसंसृष्टिभेदौ द्वावुपमा रूपकं तथा ॥
उत्प्रेक्षाऽवयवश्चेति विज्ञेयोऽलंकृतिक्रमः ॥ १ ॥

ननु प्रतिवस्तुनो वाक्यार्थरूपत्वेन वाक्यार्थोपमानिरूपणेनैव गतार्थत्वमिति न लक्षणान्तरापेक्षेति शङ्कां शकलयन् लक्षणभेदं दर्शयितुमाह—

वाक्यार्थोपमायाः प्रतिवस्तुनो भेदं दर्शयितुमाह—

उपमेयस्योक्तौ समानवस्तुन्यासः प्रतिवस्तु ॥ २ ॥

समानं वस्तु वाक्यार्थः । तस्य न्यासः समानवस्तुन्यासः । उपमेयस्यार्थाद्वाक्यर्थस्योक्तौ सत्यामिति । अत्र द्वौ वाक्यार्थौ । एको वाक्यार्थोपमायामिति भेदः । तद्यथा—

देवीभावं गमिता परिवारपदं कथं भजत्येषा ।
न खलु परिभोगयोग्यं दैवतरूपाङ्कितं रत्नम् ॥ २ ॥

हिन्दी—प्रतिवस्तूमा से वाक्यार्थोपमा का भेद दिखलाने के लिए कहा है—
उपमेय उक्त रहने पर समान वस्तु का वर्णन करना प्रतिवस्तु अर्थात् प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार है । समान वस्तु का अर्थ है वाक्यार्थ, (पदार्थ नहीं) । उसका न्यास (वर्णन) ही समानवस्तुन्यास है । उपमेय अर्थात् वाक्यार्थ रूप उपमेय के उक्त होने पर ही वाक्यार्थ रूप समान वस्तु का न्यास (वर्णन) अपेक्षित है । यहाँ (प्रतिवस्तूपमा) अलङ्कार में उपमानरूप और उपमेयरूप दो वाक्यार्थ हैं और वाक्यार्थोपमा में एक ही वाक्यार्थ होता है । प्रतिवस्तूपमा और वाक्यार्थोपमा में यही भेद है । प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार का उदाहरण यथा—

देवीभाव (राजमहिषी पद) को प्राप्त हुई यह पटरानी सामान्य रानी रूप परिवार-पद को कैसे प्राप्त हो सकती है । जिन रत्नों में देवता का रूप अङ्कित रहता है वह सामान्य उपभोग-योग्य कदापि नहीं होता है ॥ २ ॥

वाक्यार्थेति । सूत्रार्थं विवृणोति—समानं वस्त्विति । किमिदं समानं वस्तु पदार्थरूपमुत वाक्यार्थरूपमिति विशयो माभूदित्याह—वाक्यर्थ इति । समानवस्तुन उपमानस्य वाक्यार्थत्वाभ्युपगमबलादुपमेयस्याऽपि वाक्यार्थत्वसिद्धिरित्याह—उपमेयस्येति । उपमेयस्य वाक्येन प्रतिपादने उपमानस्यापि वाक्यान्तरेण प्रतिपादनं प्रतिवस्त्विति लक्षणार्थः । अत एव वाक्यार्थोपमायाः प्रतिवस्तुनो भेद इत्याह—अत्रेति । देवीभावमिति । अत्र पूर्वोत्तरवाक्याभ्यां वस्तुप्रतिवस्तुनोः प्रतिपादनात् प्रतिवस्त्वलंकारः ॥ २ ॥

समासोक्ति वक्तुमाह—

प्रतिवस्तुनः समासोक्तेर्भेदं दर्शयितुमाह—

अनुक्तौ समासोक्तिः ॥ ३ ॥

उपमेयस्यानुक्तौ समानवस्तुन्यासः समासोक्तिः । संक्षेपवचनात् समासोक्तिरित्याख्या । यथा—

श्लाघ्या ध्वस्ताऽध्वगग्लानेः करीरस्य मरौ स्थितिः ।
धिङ् मेरौ कल्पवृक्षाणामव्युत्पन्नार्थिनां श्रियः ॥ ३ ॥

हिन्दी—प्रतिवस्तूपमा से समासोक्ति का भेद दिखलाने के लिए कहा है—

उपमेय के अनुक्त रहने पर समान वस्तु का वर्णन करना समासोक्ति अलङ्कार है ।

उपमेय का कथन न होने पर समान वस्तु रूप उपमान का वर्णन करना समासोक्ति है । समास अर्थात् संक्षेप में कहने से इसका नाम समासोक्ति है । उदाहरण, यथा—

मरुभूमि में पथिकों की थकावट को दूर करने वाले करीर वृक्ष का रहना श्लाघनीय है किन्तु याचकों की इच्छा को न जाननेवाले सुमेरु पर्वत स्थित कल्पवृक्षों को धिक्कार है ॥ ३ ॥

प्रतिवस्तुन इति । लक्षणवाक्यार्थं विवृणोति—उपमेयस्येति । समानवस्तुन उपमानस्य न्यासः, वाक्येनोपपादनमित्यर्थः । समासोक्तिरिति संज्ञाऽन्वर्थेत्याह—संक्षेपेति । उदाहरति—श्लाघ्येति । करीरो वंशो बर्बूरो वा । 'करीरोऽस्त्री दन्तिदन्तमूले चक्रकरे घटे । सल्लक्यामपि बर्बूरे काचे वंशे तदङ्कुरे' इत्यमरशेषः । अव्युत्पन्नार्थिनाम् = अर्थिपदार्थव्युत्पत्तिरहितानाम् । अत्र करीरस्य मरुस्थितिश्लाघनेन कल्पवृक्षाणां मेरुस्थितिनिन्दनेन च तदुपमेययोः परोपकारप्रवणतद्विमुखयोः श्लाघानिन्दे समस्योक्ते इति समासोक्तिः ॥ ३ ॥

अप्रस्तुतप्रशंसां प्रस्तोतुमाह—

समासोक्तेरप्रस्तुतप्रशंसाया भेदं दर्शयितुमाह—

किञ्चिदुक्तावप्रस्तुतप्रशंसा ॥ ४ ॥

उपमेयस्य किञ्चिल्लिङ्गमात्रेणोक्तौ समानवस्तुन्यासे अप्रस्तुतप्रशंसा । यथा—

लावण्यसिन्धुरपरैव हि काचनेयं
यत्रोत्पलानि शशिना सह संप्लवन्ते ॥

उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र
यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः ॥

अप्रस्तुतस्यार्थस्य प्रशंसनमप्रस्तुतप्रशंसा ॥ ४ ॥

हिन्दी—समासोक्ति से अप्रस्तुतप्रशंसा का भेद दिखलाने के लिए कहा है—

लिङ्गमात्र से उपमेय का थोड़ा सा कथन करने पर समान वस्तु का वर्णन करना अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

उपमेय का लिङ्गमात्र (एक देश मात्र) से थोड़ा सा कथन होने पर यदि समान वस्तु का वर्णन होता है तो उसे अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार कहते हैं। यथा—

नदी के किनारे किसी युवती को देखकर एक युवक की उक्ति है—

यह नयी कौन-सी लावण्य की नदी दृष्टिगोचर हो रही है, जिसमें चन्द्रमा के साथ-साथ कमल तैर रहे हैं, जिसमें हाथी की गण्डस्थली (नायिका का नितम्ब) उभर रही है एवं जहाँ कुछ और ही प्रकार के कदली काण्ड (जंघा) तथा मृणालदण्ड (बाँह) देखे जा रहे हैं।

इस अलङ्कार में अप्रस्तुत अर्थ की प्रशंसा करने से इसे अप्रस्तुतप्रशंसा कहते हैं ॥ ४ ॥

किञ्चिदिति। लिङ्गमात्रेणोक्तावेकदेशेनोपादाने—लावण्येति। अत्र लावण्यपदार्थेनेकदेशेनोपमेयानां नयनादीनामुक्तावुत्पलादीनामप्रस्तुतानां प्रशंसनादप्रस्तुतप्रशंसानामालङ्कारः ॥ ४ ॥

अपह्नुतिमवगमयितुमाह—

अपह्नुतिरपि ततो भिन्नेति दर्शयितुमाह—

समेन वस्तुनाऽन्यापलापोऽपह्नुतिः ॥ ५ ॥

समेन तुल्येन वस्तुना वाक्यार्थेनाऽन्यस्य वाक्यार्थस्यापलापो निह्नवो यस्तत्त्वाध्यारोपणायासावपह्नुतिः। यथा—

न केतकीनां विलसन्ति सूचयः प्रवासिनो हन्त हसत्ययं विधिः।
तडिल्लतेयं न चकास्ति चञ्चला पुरः स्मरज्योतिरिदं विवर्तते ॥

वाक्यार्थयोस्तात्पर्यात् ताद्रूप्यमिति न रूपकम् ॥ ५ ॥

हिन्दी—अपह्नुति भी उससे (प्रतिवस्तूपमा से) भिन्न है, यह दिखलाने के लिए कहा है—

समान वस्तु (उपमान) से अन्य अर्थात् उपमेय का अपलाप होना अपह्नुति है।

तुल्य वस्तु अर्थात् वाक्यार्थ रूप उपमान से अन्य वाक्यार्थ रूप उपमेय का जो निषेध किया जाता है तत्त्व के आरोपण के लिए वह अपह्नुति अलङ्कार है। यथा—

केतकियों की सूचियाँ नहीं दिखाई दे रही हैं यह तो प्रवासियों पर दैव हँस रहा है। यह चञ्चला दिद्युल्लता नहीं चमक रही है अपितु सामने में कामदेव की ज्योति छिटक रही है।

यहाँ 'केतकी-सूचियों का विलास' और 'तडिल्लता का विलास' दोनों उपमेय हैं। उन पर उपमान रूप 'विधि हास' और 'समर-ज्योति' का आरोप कर उन दोनों यथार्थ वस्तुओं का अपलाप अर्थात् निषेध किया गया है।

वाक्यार्थों के तात्पर्य से ताद्रुप्य होता है इसलिए यहाँ रूपक अलंकार नहीं है ॥ ५ ॥

अपह्नुतिरिति। ततः = प्रतिवस्तुनामाऽलङ्काराद्भिन्नेत्यर्थः। समेनेति। वाक्यार्थभूतेनोपमानेनान्यस्य वाक्यार्थभूतस्योपमेयस्यापलापः। अतस्मिंस्तत्त्वाध्यारोपेणापह्नुतिरिति लक्षणार्थः। न केतकीनामिति। सूचयः कुड्मलाः। 'केतकीमुकुले सूचिः सेविन्यां पिशुने तु ना' इति हलायुधः। केतकीसूचिविलासतडिल्लताविलासयोरुपमेययोरुपमानभूतविधिहासस्मरज्योतिर्विवर्तनाध्यारोपेण तयोरपलापादपह्नुतिः। आरोपरूपत्वाविशेषात् कथमपह्नुते रूपकाद् भेद इत्याशङ्क्य भेदं दर्शयति—वाक्यार्थयोरिति। अपह्नुतौ वाक्याऽर्थयोरार्थिकं ताद्रूप्यम्। रूपके तु पदार्थयोः शाब्दं ताद्रूप्यमिति भेदः ॥ ५ ॥

रूपकं रूपयितुमाह—

रूपकं तु कीदृशमित्याह—

उपमानेनोपमेयस्य गुणसाम्यात् तत्त्वारोपो रूपकम् ॥ ६ ॥

उपमानेनोपमेयस्य गुणसाम्यात्तत्त्वस्याभेदस्यारोपणमारोपो रूपकम्।

उपमानोपमेययोरुभयोरपि ग्रहणं लौकिक्याः कल्पितायाश्चोपमायाः प्रकृक्षित्वमत्र यथा विज्ञायेतेति। यथा—

> इयं गेहे लक्ष्मीरियमऽमृतवर्तिर्नयनयो-
> रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः।
> अयं कण्ठे बाहुः शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
> किमस्या न प्रेयो परमसह्यस्तु विरहः ॥

मुखचन्द्रादीनां तूपमा । समासान्न चन्द्रादीनां रूपकत्वं युक्तमिति ॥ ६ ॥

हिन्दी—रूपक कैसा होता है इस सम्बन्ध में कहा है—

उपमान के साथ उपमेय के गुणों का सादृश्य होने से उपमेय में उपमान के अभेदत्व का आरोपण रूपक अलङ्कार है।

उपमान के साथ उपमेय के गुणों का साम्य होने से उपमेय में उपमान के अभेदत्व का आरोप रूपक है। यहाँ लौकिक और कल्पित दोनों उपमाओं का प्रकृतित्व समझना चाहिए। इसी का बोध कराने के लिए रूपकलक्षण में उपमान और उपमेय दोनों का निर्देश किया गया है। उदाहरण, यथा—

रामचन्द्र कहते हैं कि यह सीता घर में लक्ष्मी और नयनों में अमृताञ्जन की वत्ती है। इसका यह शीतल स्पर्श शरीर में प्रचुरचन्दन-लेप है और यह शीतल एवं स्निग्ध बाहु गले में मुक्ताहार है। इसका क्या प्रिय नहीं है ? यदि इसका कुछ असह्य (अप्रिय) है तो केवल विरह ॥ ६ ॥

रूपकमिति। व्याचष्टे—उपमानेमेति। लौकिककल्पितोपमाप्रकृतिकत्वं रूपकस्य निरूपयितुमुपमानोपमेययोर्ग्रहणं कृतमित्याह—उपमानेति। उदाहरति—इयं गेहे लक्ष्मीरिति। अत्रेयमिति सर्वनाम्ना सीता निर्दिश्य तत्र लक्ष्मीत्वममृतवर्तित्वमस्याः स्पर्शे चन्दनरसत्वं, बाहौ मौक्तिकसरत्वं चाध्यारोप्यत इति रूपकम्। इत्थमुपमानोपमेययोर्व्यासेन प्रयोगे रूपकमुदाहृत्य समासेन प्रयोगे तूपमैव न रूपकमित्याह—मुखेति। मुखचन्द्रादीनां पुरुषव्याघ्रादिसादृश्यादुपमात्वमेव, न रूपकत्वं सम्भवति। तत्त्वाध्यारोपासम्भवादिति। इदमत्रानुसन्धेयम्। येषां व्याघ्रादिषु पाठोऽस्ति तेषामुपमैव। ये त्विन्दुप्रभृतयस्तत्र न पठ्यन्ते ते च व्याघ्रादेराकृतिगणत्वात् तत्र द्रष्टव्याः। तथापि मतान्तरानुरोधेन मुखचन्द्रादिषु क्वचिदुपमा, क्वचिद्रूपकमिति द्वैरूप्यं सम्भवति। तथाच यत्र 'ज्योत्स्नेव भाति द्युतिराननेन्दोः' इत्यादावुपमायां साधकं प्रमाणमस्ति, तत्र व्याघ्रादिसमासः। यत्र 'मोहमहाचलदलने भक्तिः कुलिशाग्रकोटिरेव नृणाम्' इत्यादौ रूपके साधकं प्रमाणमस्ति, तत्र मयूरव्यंसकादिसमासः। 'अविहितलक्षणस्तत्पुरुषो मयूरव्यंसकादिषु द्रष्टव्यः' इति वचनात् ॥ ६ ॥

श्लेषं लक्षयितुमाह—

रूपकाच्छ्लेषस्य भेदं दर्शयितुमाह—

स धर्मेषु तन्त्रप्रयोगे श्लेषः ॥ ७ ॥

उपमानेनोपमेयस्य धर्मेषु गुणक्रियाशब्दरूपेषु स तत्त्वारोपः। तन्त्रप्रयोगे तन्त्रेणोच्चारणे सति श्लेषः। यथा—

आकृष्टाऽमलमण्डलाग्ररुचयः सन्नद्धवक्षःस्थलाः
सोष्माणो व्रणिता विपक्षहृदयप्रोन्माथिनः कर्कशाः।
उद्वृत्ता गुरवश्च यस्य शमिनः श्यामायमानानना
योधा वारवधूस्तनाश्च न ददुः क्षोभं स वोऽव्याज्जिनः॥ ७॥

हिन्दी—रूपक से श्लेष का भेद दिखलाने के लिए कहा है—

तन्त्र[1] से प्रयोग होने पर (उपमान और उपमेय के) धर्मों में जो तत्त्व का आरोप होता है वह श्लेष है।

उपमान और उपमेय के गुण, क्रिया और शब्द रूप धर्मों में वह तत्त्वारोप तन्त्र से प्रयोग अर्थात् उच्चारण होने पर श्लेष है। यथा—

जिस 'जिन' (जितेन्द्रिय महावीर) में योद्धाओं ने अथवा वारवधू अर्थात् वेश्याओं के स्तनों ने भय अथवा काम भाव नहीं किया वह तुम लोगों की रक्षा करें।

(इस श्लोक में जितने विशेषण हैं ये सभी द्व्यर्थक होने के कारण विशेष्यभूत 'योद्धा' तथा 'स्तन' दोनों के साथ सङ्गत हैं।)

आकृष्ट अर्थात् म्यान से निकाले गए मण्डल अर्थात् खड्ग के अग्र भाग में रुचि है जिनकी ऐसे योद्धा; जिन्होंने मण्डल (स्तन मण्डल) के अग्रभाग में रुचि (कान्ति) धारण कर ली है ऐसे स्तन। सन्नद्ध अर्थात् कवचयुक्त हैं वक्षःस्थल जिनके ऐसे योद्धा; सन्नद्ध अर्थात् विशाल है आश्रयभूत वक्षःस्थल जिनका ऐसे स्तन। ऊष्मा अर्थात् दर्प से युक्त योद्धा; गर्मी से युक्त स्तन। शस्त्रजन्य व्रणों से युक्त योद्धा; नखक्षतिजन्य व्रणों से युक्त स्तन। विपक्ष अर्थात् शत्रुओं के हृदयों अर्थात् वक्षः स्थलों का उन्मथन करने वाले योद्धा; विपक्ष अर्थात् सपत्नियों के अथवा अपने सम्बद्ध पुरुषों के मन का उन्मथन करने वाले स्तन। कर्कश योद्धा; कर्कश अर्थात् कठोर स्तन। उद्वृत्त अर्थात् मर्यादा का अतिक्रमण करने वाले उद्धत योद्धा; उद्वृत्त अर्थात् गोलाकार और ऊँचे उठे हुए स्तन। गुरु अर्थात् महान् योद्धा; गुरु अर्थात् स्थूल स्तन। मूँछ के अङ्कुरित होने से श्यामतापूर्ण हैं मुख जिनके वे योद्धा; केश के लट के आच्छादित हो जाने से काले प्रतीत होते हैं जिनके अग्रभाग (मुख) वे स्तन। (इन विशेषणों से विशिष्ट योद्धाओं ने अथवा वारवधू के स्तनों ने जिस 'जिन' अर्थात् जैन

---

१. 'अनेकोपकारकारि सकृदुच्चारणं तन्त्रम्', एक बार उच्चारण से अनेक अर्थों के बोध रूप अनेकोपकारकारित्व तन्त्र है।

धर्म प्रवर्त्तक महावीर में भय अथवा कामविकार प्राप्त नहीं किया वह तुम लोगों की रक्षा करें) ॥ ७ ॥

स धर्मेष्विति । सूत्रार्थं विवृणोति—उपमानेनेति । धर्माणां धर्मिसापेक्षत्वाद्धर्मिणमनुषज्ज्य दर्शयति—उपमेयस्येति । गुणसाम्यत इति शेषः । धर्मस्वरूपमाह—गुणेति । तच्छब्दपरामर्श्यं दर्शयति । तत्त्वारोप इति । अनेकोपकारकारिसकृदुच्चारणं तन्त्रम् । उपमानोपमेययोर्गुणसाम्ये तद्धर्मेषु गुणादिषु तन्त्रेण प्रयोगे सति यत्ताद्रूप्यारोपणं स श्लेष इति लक्षणार्थः । आकृष्टेति । आकृष्टे कोशादुद्धृते मण्डलाग्रे खड्गे रुचिः प्रीतिर्येषाम् । आकृष्टा आहृता स्वीकृतेति यावत्, मण्डलस्य बिम्बस्य अग्रे उपरिभागे रुचिः कान्तिर्यैः । सन्नद्धं कवचितं परिणद्धं च वक्षःस्थलं येषाम् । ऊष्मणा दर्पेण उष्णगुणेन च सह वर्तन्त इति सोष्माणः व्रणाः शस्त्रक्षतानि नखक्षतानि च येषां सन्तीति व्रणिनः । विपक्षाणां शत्रूणां सपत्नीनां च हृदयं वक्षश्चेतश्च प्रकर्षेण उन्मथ्नन्तीति तथोक्ताः । कर्कशाः क्रूराः कठिनाश्च । उद्वृत्ता उद्धता उन्नताश्च । गुरवो महान्तः स्थूलाश्च । श्यामायमानानि अङ्कुरितश्मश्रुतया कचासङ्गेन वा, स्वभावेन च श्यामलायमानानि आननानि मुखानि चूचुकानि च येषां ते तथोक्ताः । वशिनो यस्येति सम्बन्धः । अत्र यथासम्भवं गुणक्रिया द्रष्टव्याः । यद्यपि समुच्चयोऽत्र स्फुरति तथाऽपि साधारणविशेषमहिम्नाऽऽरोपः प्रतिपाद्यत इति श्लेषः ॥ ७ ॥

वक्रोक्तिं वक्तु सङ्गतिमुल्लिङ्गयति—

यथा च गौणस्याऽर्थस्यालंकारत्वं तथा लाक्षणिकस्यापीति दर्शयितुमाह—

साहश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः ॥ ८ ॥

बहुनि हि निबन्धनानि लक्षणायाम् । तत्र साहश्याल्लक्षणावक्रोक्तिरसाविति । यथा—

'उन्मिमील कमलं सरसीनां कैरवं च न मिमील मुहूर्तात्' । अत्र नेत्रधर्मावुन्मीलननिमीलने सादृश्याद्विकाससङ्कोचौ लक्षयतः । 'इह च निरन्तरनवमुकुलपुलकिता हरति माधवी हृदयम् । मदयति च केसराणां परिणतमधुगन्धिनिःश्वसितम्' । अत्र च निःश्वसितमिति परिमलनिर्गमं लक्षयति । 'संस्थानेन स्फुरतु सुभगः स्वार्चिषा चुम्बतु द्याम् । आलस्यमालिङ्गति गात्रमस्याः । परिम्लानच्छायामनुवदति दृष्टिः कमलिनीम् ।

प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलाऽऽमोदमैत्रीकषायः। ऊरुद्वन्द्वं तरुणकदलीकाण्ड-सब्रह्मचारि' इत्येवमादिषु लक्षणार्थो निरूप्यत इति लक्षणायां च झटि-त्यर्थप्रतिपत्तिक्षमत्वं रहस्यमाचक्षत इति।

असादृश्यनिबन्धना तु लक्षणा न वक्रोक्तिः। यथा 'जरठकमल-कन्दच्छेदगौरैर्मयूखैः'। अत्र च्छेदः सामीप्याद् द्रव्यं लक्षयति। तस्यैव गौरत्वोपपत्तेः॥ ८॥

हिन्दी—जैसे गौण अर्थ ('मुखचन्द्र' रूपक में मुख में चन्द्रत्व रूप गौणार्थ) का अलङ्कारत्व है उसी तरह लाक्षणिक अर्थ का भी अलङ्कारत्व हो सकता है, यह दिखलाने के लिए कहा है—

सादृश्य से लक्षणा वक्रोक्ति है।

लक्षणा में (सिद्ध करने में) बहुत कारण हैं। 'अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायतः। वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पंचधा मताः॥' इसके अनुसार लक्षणा के पांच कारण हैं। उनमें सादृश्य से की गई लक्षणा यह वक्रोक्ति है। यथा—

क्षण भर में तालाबों के कमल खिल गए और कैरव सम्पुटित हो गए। यहां नेत्र के धर्म उन्मीलन तथा निमीलन सादृश्यमूलक लक्षणों से कमलों के विकास तथा सङ्कोच लक्षित करते हैं।

यहां निरन्तर नवीन कलियों से सुसज्जित माधवी लता लोगों के हृदय हर रही है और केसर वृक्षों का पके मधु की गन्ध से युक्त निःश्वास मत्त सा कर रहा है।

यहाँ 'निःश्वसित' शब्द सुगन्धि के निकलने को लक्षित करता है। (वस्तुतः निश्वास छोड़ना प्राणी का धर्म है किन्तु वह सादृश्यनिमित्तक लक्षणा से यहाँ लक्षित किया गया है)।

अपने शरीर से सुन्दर मालूम होओ और अपनी कान्ति से आकाश का चुम्बन करो। (यहाँ 'चुम्बतु' पद से सादृश्य निमित्तक लक्षणा के द्वारा 'स्पर्श' लक्षित होता है)।

आलस्य इस नायिका के शरीर का आलिङ्गन कर रहा है। (यहाँ सादृश्य लक्षणा द्वारा 'आलिङ्गति' पद से 'शरीर को सम्पूर्णतः व्याप्त कर लेना लक्षित होता है।

उदस्त नायिका की दृष्टि मुरझाई हुई कमलिनी का अनुकरण कर रही है। (यहाँ 'अनुवदति' पद से कमलिनी-सादृश्य लक्षित होता है)।

प्रातः काल में खिले हुए कमलों की सुगन्धि के साथ मैत्री के कारण कषाय वायु चल रही है। (यहाँ 'मैत्री' पद से संसर्गार्थ लक्षित होता है)।

नायिका की दोनों जंघाएँ तरुण कदलीस्तम्भ की सहाध्यायिनी हैं। यहाँ सब्रह्म-चारि' शब्द से जंघा की कदलीकाण्डसदृशता लक्षित होती है)।

इत्यादि उदाहरणों में लक्षणा के अर्थ का निरूपण किया जाता है। लक्षणा होने पर तुरन्त अर्थ की प्रतिपत्ति की क्षमता आ जाती है। लोग इसे लक्षणा का रहस्य कहते हैं।

सादृश्याभाव निमित्तक लक्षणा वक्रोक्ति नहीं कहलाती है। यथा—

सूखे मृणालदण्ड के टुकड़े के समान श्वेत किरणों से।

यहाँ ' 'छेद' पद सामीप्य सम्बन्ध से द्रव्य को लक्षित करता है, क्योंकि गौरवर्णत्व द्रव्य में ही सम्भव है ॥ ८ ॥

यथा चेति। यथा मुखचन्द्रादौ गुणयोगादागतस्य गौणार्थस्य रूपकाद्यलङ्कारता। तथा लक्षणातः प्रतिपन्नस्य लाक्षणिकार्थस्य वक्रोक्त्यलङ्कारता भवतीति लक्षणार्थः। बहूनीति। 'अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायतः। वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता' इति लक्षणाया निमित्तानि द्रष्टव्यानि। द्विरेफशब्दस्याभिधेयो भ्रमरशब्द इति। तेन स्वाभिधेय सम्बन्धार्थो लक्ष्यते। 'सिंहो माणवकः, गङ्गायां घोषः, बृहस्पतिरयं मूर्खो, महति समरे शत्रुघ्नस्त्वम्' इति यथाक्रममुदाहरणानि द्रष्टव्यानि। उन्मिमीलेति। कमलं विचकास कैरवं सञ्चुकोचेति ऋजुवृत्त्या वक्तव्ये तत्सादृश्यादुन्मिमीलनिमिमीलेति नेत्रक्रियाध्यावसायवक्रिम्णोक्तिरिति वक्रोक्तिः। लक्ष्यलक्षणयोर्मैत्रीमासूत्रयति—अत्र नेत्रेति। अतस्मिंस्तत्त्वाध्यारोपो रूपकम्। विषयनिगरणेन साध्यवसानलक्षणाया वक्रोक्तिरिति विवेकः उदाहरणान्तराण्युपदर्शयति—इह चेति। वक्रोक्तिं दर्शयति—अत्र चेति। मुकुलपुलकितेत्यत्र पुलकितत्वं माधव्या मुकुलैरावृतत्वं लक्षयतीति द्रष्टव्यम्। चुम्बतु द्यामिति। चुम्बनं द्युसम्बन्धम्। गात्रमालिङ्गतीति। आलिङ्गनमालस्यवैशिष्ट्यं गात्रस्य। अनुवदतीत्यत्रानुवादः कमलिनीसादृश्यं, मैत्री चामोदसंक्रान्ति, सब्रह्मचारीति कदलीकाण्डसमानतां च लक्षयतीत्येवमादिषु प्रयोगेषु लक्षणार्थो निरूप्यते। यत्र सादृश्यलक्षणा सहृदयहृदयेष्वविलम्बेन लक्ष्यार्थप्रतिपत्तिमुद्भावयितुं प्रगल्भते तत्र वक्रोक्तिरलङ्कार इति रहस्यमिति लक्षणाविद आचक्षत इत्यर्थ। सादृश्यपदव्यावर्त्यं कीर्तयति। असादृश्येति। सम्बन्धान्तरनिबन्धना तु लक्षणा वक्रोक्तिर्न भवतीत्यर्थः। तदेव दर्शयति। यथा जरठेति। सामीप्यमत्र धर्मधर्मिभावसम्बन्धः ॥ ८ ॥

स्वरूपान्यथाभावकल्पनास्वभावत्वाविशेषेण रूपकवक्रोक्तिभ्यामुत्प्रेक्षाया अभेदशङ्कायां लक्षणतो भेदं दर्शयितुमनन्तरसूत्रमवतारयति—

रूपकवक्रोक्तिभ्यामुत्प्रेक्षाया भेदं दर्शयितुमाह—

अतद्रूपस्यान्यथाध्यवसानमतिशयार्थमुत्प्रेक्षा ॥ ९ ॥

अतद्रूपस्यातत्स्वभावस्य। अन्यथा अतत्स्वभावतया। अध्यवसानमध्यवसायः। न पुनरध्यारोपो लक्षणा वा। अतिशयार्थमिति भ्रान्तिज्ञाननिवृत्त्यर्थम्। सादृश्यादियमुत्प्रेक्षेति। एनां चेवादिशब्दा द्योतयन्ति। यथा—

स वः पायादिन्दुर्नवबिसलताकोटिकुटिलः
स्मरारेर्यो मूर्ध्नि ज्वलनकपिशे भाति निहितः।
स्रवन्मन्दाकिन्याः प्रतिदिवससिक्तेन पयसा
कपालेनोन्मुक्तः स्फटिकधवलेनाङ्कुर इव॥ ९॥

हिन्दी—रूपक तथा वक्रोक्ति से उत्प्रेक्षा का भेद दिखलाने के लिए कहा है—जो पदार्थ जैसा नहीं है उसका अतिशय रूप दिखलाने के लिए अन्यथा (अवास्तविक) सम्भावना करना उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

जो पदार्थ वैसा अर्थात् कल्पित रूप सदृश नहीं है उसको अपने स्वभाव से भिन्न रूप में अध्यवसान करना (सम्भव दिखलाना) उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। रूपक के समान अध्यारोप अथवा वक्रोक्ति के समान लक्षणा उत्प्रेक्षा अलङ्कार नहीं है। लक्षणसूत्रगत 'अतिशयार्थम्' यह पद भ्रान्ति-ज्ञान की निवृत्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है। सादृश्य दिखलाने से यह उत्प्रेक्षा है। इव आदि शब्द इसको (उत्प्रेक्षा को) द्योतित करते हैं। यथा—

वह चन्द्रमा तुम्हारी रक्षा करे जो नवीन मृणालदण्ड के अग्रभाग के समान वक्राकार, कामदेव के शत्रु (शिव) के तृतीय नेत्र की अग्निज्वाला से पीले प्रतीत होने वाले मस्तक पर स्थित, शिव मस्तक से निरन्तर बहती हुई गङ्गा के जल से प्रतिदिन सिक्त तथा कपाल से निकले हुए (स्फटिकवत् धवल) सङ्गमरमर के सदृश उज्ज्वल अङ्कुर के समान है॥ ९॥

रूपकेति। सूत्रार्थमाविष्करोति—अतद्रुपस्येति। अतद्रूपप्राकरणिकं वस्तु। तदात्मना प्राकरणिकवस्तुरूपस्वेनातिशयमाधातुमध्यवसीयते प्रतिभामात्रेण कविना सम्भाव्यते, न पुनरिन्द्रियदोषेण। तथाविधं सम्भावनापरपर्यायमध्यवसानमुत्प्रेक्षेति लक्षणार्थः। न पुनरिति। अतत्स्वभावस्य वस्तुनस्तत्तद्गुणयोगात्तद्भावकल्पनमध्यारोपः। यत्र रूपकादिस्वरूपलाभः। यत्तु सादृश्येन सत्येकेन वस्तुना वस्त्वन्तरस्य प्रतिपादनमध्यवसायरूपं सा सादृश्यमूला लक्षणा। यत्र वक्रोक्तिव्यपदेशः। यत्पुनरतद्रूपे वस्तुन्यतिशयमाधातुं तद्रूपतयाध्यवसानं सोऽयमध्यवसायः सम्भावनालक्षण उत्प्रेक्षेति विवेकः। अतो न रूपकं, नापि

वक्रोक्तिरिति ततो भेदो दर्शितः। अतिशयार्थमिति। भ्रान्तिः=विपर्ययज्ञानम्। अन्यथाऽध्यवसायत्वाविशेषेऽपि बुद्धिपूर्वकत्वादुत्प्रेक्षायास्तद्विलक्षणाया भ्रान्तेर्व्यावृत्तिरित्यतिशयः। उत्प्रेक्षोदाहरणेषु केषुचिदिवशब्दश्रवणात् कस्यचिदुपमाशङ्का जायते। तामाशङ्क्य, परिहरति—सादृश्यादियमुत्प्रेक्षेति। प्रयुक्तोऽपि क्वचिदिवशब्दः सादृश्यनिबन्धनत्वसूचनद्वारेणोत्प्रेक्षामपि द्योतयतीत्यर्थः। तदुक्तं दण्डिना—'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः। उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः' इति। स वः पायादिति। अत्र नवबिसलताकोटिकुटिल इति विशेषणसामर्थ्यादिन्दुपदेनेन्दुकलावगम्यते। इन्दुर्मन्दाकिनीसलिलसेकेव कपालादुद्भिन्नोऽङ्कुर इवेत्युत्प्रेक्षित इत्युत्प्रेक्षालङ्कारः॥ ९॥

सम्भावनारूपकत्वाविशेषादुत्प्रेक्षातिशयोक्त्योरभेदं केचिन्मन्यन्ते। तन्मतं निरसितुं लक्षणभेदं दर्शयतीत्याह—

उत्प्रेक्षेवातिशयोक्तिरिति केचित्। तन्निरासार्थमाह—

सम्भाव्यधर्मतदुत्कर्षकल्पनाऽतिशयोक्तिः॥ १०॥

संभाव्यस्य धर्मस्य तदुत्कर्षस्य च कल्पनाऽतिशयोक्तिः। यथा

उभौ यदि व्योम्नि पृथक् पतेतामाकाशगङ्गापयसः प्रवाहौ।
तेनोपमीयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः। यथा वा—

मलयजरसविलिप्ततरतनुनवहारलताविभूषिताः।
सिततरदन्तपत्रकृतवक्त्ररुचो रुचिराऽमलांऽशुकाः।
शशभृति विततधाम्नि धवलयति धरामविभाव्यतां गताः
प्रियवसतिं प्रयान्ति सुखमेव निरस्तभियोऽभिसारिकाः॥ १०॥

हिन्दी—उत्प्रेक्षा ही अतिशयोक्ति है, यह कुछ लोग कहते हैं। उनके खण्डन के लिए कहा है—

सम्भाव्य धर्म तथा उसके उत्कर्ष की कल्पना करना अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

सम्भाव्य धर्म की तथा उसके उत्कर्ष की कल्पना अतिशयोक्ति है। यथा—

नीलाकाश में यदि आकाश-गङ्गा की पृथक्-पृथक् दो धाराएँ गिरें तो मुक्ताहार पहने हुए तमाल के समान नीलवर्ण उसके वक्षःस्थल की उपमा उस आकाश-गङ्गा की दोनों धाराओं से युक्त नील आकाश से दी जा सकती है।

अथवा यथा—

मलयज (चन्दन) के रस से सर्वाङ्गलिप्त, नवीन मुक्ताहार से विभूषित,

'अत्यन्त उज्ज्वल हाथी-दांत के दन्तपत्र आभूषण मुख में पहनी हुई, सुन्दर तथा स्वच्छ वस्त्र पहनी हुई अभिसारिकाएँ शुभ्र चन्द्र-ज्योत्स्ना से पृथ्वी के धवलित हो जाने पर देखी पहचानी नहीं जा रही हैं। इस लिए निर्भय होकर तथा सुखपूर्वक वे (अभिसारिकाएँ) अपने प्रिय के निवास पर जा रही हैं ॥ १० ॥

उत्प्रेक्षैवेति। सम्भाव्यस्येति। सम्भाव्यस्योत्प्रेक्ष्यस्य धर्मस्य यद्यर्थानुबन्धेन कल्पना तदुत्कर्षस्य तस्य सम्भाव्यधर्मस्य य उत्कर्षस्तस्य कल्पना चातिशयोक्तिः। उदाहरति—उभाविति। यदि तथाविधं व्योम सम्भाव्येत तदेवामुक्तमुक्ताफलस्य वक्षस उपमानं भवेत् न पुरन्यत् किञ्चिदित्यतिशयस्योक्तेरतिशयोक्तिः। एवं सम्भाव्यधर्मकल्पनामुदाहृत्य तदुत्कर्षकल्पनामुदाहरति। मलयजेति। मलजरसनवहारलतादीनां धावल्यस्योत्कर्षोऽतिशयः कल्प्यते। यावता चन्द्रिकायां तद्विवेचनाक्षमत्वं चक्षुषोरिति ॥ १० ॥

यथा लौकिकभ्रमसजातीयामुत्प्रेक्षामतिशयार्थकल्पनात्ववैधर्म्येण लौकिकभ्रान्तितः पृथक्कृत्य प्रदर्शितवाँस्तथा संशयमपि लौकिकसजातीयं तथाविधेन वैधर्म्येण ततः पृथक्कृत्य दर्शयतीत्याह—

यथा भ्रान्तिज्ञानस्वरूपोत्प्रेक्षा तथा संशयज्ञानस्वरूपः संदेहोऽपीति दर्शयितुमाह—

उपमानोपमेयसंशयः संदेहः ॥ ११ ॥

उपमानोपमेययोरतिशयार्थं यः क्रियते संशयः स संदेहः। यथा—

इदं कर्णोत्पलं चक्षुरिदं वेति विलासिनि।
न निश्चिनोति हृदयं किन्तु दोलायते मनः ॥ ११ ॥

हिन्दी—जैसे अतद्रूपाध्वसाना होने के कारण उत्प्रेक्षा भ्रान्तिज्ञानस्वरूपा है उसी तरह संशयज्ञानस्वरूप सन्देह (अलङ्कार) भी है, इसे दिखलाने के लिए कहा है—

उपमान और उपमेय का संशय सन्देह अलङ्कार है।

अतिशय (चमत्कृति) के बोध के लिए एकधर्मी उपमेय में उपमान और उपमेय में उपमान और उपमेय, उभय कोटि का जो संशय किया जाता है वह सन्देह अलङ्कार है। यथा—

हे सुन्दरि, यह तेरे कान का नील कमल है अथवा कान तक फैला हुआ नेत्र है, मेरा हृदय यह निश्चय नहीं कर पा रहा है किन्तु मन दुविधा में है ॥ ११ ॥

यथेति। सन्देहस्य कोटिद्वयावलम्बितत्वादिहापि तदाह—उपमानोपमेय-

योरिति । अतिशयार्थमिति । उपमेयेऽतिशयमाधातुं सन्देहः सम्पाद्यते । न तु विशेषादर्शनादित्यर्थः । व्यक्तमुदाहरणम् ।। ११ ।।

कल्पनारूपत्वाविशेषादतिशयोक्तेरनन्तरं यथा सन्देहालङ्कारः प्राप्तावसरस्तथा विरुद्धकोटिद्वयावलम्बिनस्सन्देहस्याऽनन्तरं विरोधालङ्कारः प्राप्तावसर इति तल्लक्षणं दर्शयतीत्याह—

संदेहवद्विरोधोऽपि प्राप्तावसर इत्याह—

विरुद्धाभासत्वं विरोधः ॥ १२ ॥

अर्थस्य विरुद्धस्येवाभासत्वं विरुद्धाभासत्वं विरोधः । यथा—

पीतं पानमिदं त्वयाद्य दयिते मत्तं ममेदं मनः
पत्राली तव कुङ्कुमेन रचिता रक्ता वयं मानिनि ! ।
त्वं तुङ्गस्तनभारमन्थरगतिर्गात्रेषु मे वेपथु-
स्त्वन्मध्ये तनुता ममाधृतिरहो मारस्य चित्रा गतिः ॥

यथा वा—

सा बाला वयमप्रगल्भमनसः सा स्त्री वयं कातराः
सा पीनोन्नतिमत्पयोधरयुगं धत्ते सखेदा वयम् ।
साऽऽक्रान्ता जघनस्थलेन गुरुणा गन्तुं न शक्ता वयं
दोषैरन्यजनाश्रितैरपटवो जाताः स्म इत्यद्भुतम् ॥ १२ ॥

हिन्दी—सन्देह से विरोध को भी अवसर प्राप्त होता है, इस लिए कहा है—

विरुद्ध के समान प्रतीत होना विरोध नामक अलङ्कार है ।

विरुद्ध न रहने पर भी विरुद्ध अर्थ सदृश प्रतीत होना विरुद्धाभासत्व है और वही विरोध नामक अलङ्कार कहलाता है । यथा—हे प्रिये, तुमने आज मद्य का पान किया हैं और तुम को देखकर मेरा पन मत्त हो रहा है । हे मानिनि, कुङ्कुम से तेरे अङ्गों पर पत्राली (शृङ्गारचित्र) अङ्कित है और उसको देखकर हम अनुरक्त हो रहे हैं । उन्नत स्तनों के भार से तेरी गति मन्द हो गई है और यह देखकर मेरे शरीर में कम्पन हो रहा है । तेरी कमर पतली है किन्तु यह देखकर मुझे अधैर्य हो रहा है । अहो प्रेम की गति विचित्र है ।

अथवा जैसे—

बाला वह है किन्तु चञ्चलता हमारे मन में है । स्त्री वह है किन्तु कातर हम हैं ।

मोटे तथा ऊँचे स्तनों को वह धारण करती है किन्तु उसको देखकर खिन्न हम हो रहे हैं। भारी नितम्बों से युक्त वह है किन्तु उसे छोड़कर यहाँ से जाने में हम असमर्थ हो रहे हैं। दूसरे जन (नायिका) के दोषों से हम असमर्थ हो रहे हैं, यह अद्भुत विषय है ॥ १२ ॥

सन्देहवदिति । व्याचष्टे—अर्थस्येति । विरुद्धवदवभासत इति विरुद्धाभासस्तस्य भावस्तत्त्वम् । प्रकारान्तरेण परिहारे सत्येव विरुद्धस्यार्थस्यावभासनं विरोधालङ्कारः। उदाहरति—यथेति । पानशब्दोऽत्र कर्मसाधनः पेयद्रव्यमाह—पानादीनां मदादीनां च वैयधिकरण्याद्विरोधः । मदादीनामर्थान्तरत्वस्वीकारेण विरोधपरिहारः। सा बालेत्यादावपि विरुद्धाभासत्वं द्रष्टव्यम् ।१२। विभावनां विवरीतुमवतारिकामारचयति—

विरोधाद्विभावनाया भेदं दर्शयितुमाह--

क्रियाप्रतिषेधे प्रसिद्धतत्फलव्यक्तिर्विभावना ॥ १३ ॥

क्रियायाः प्रतिषेधे तस्या एव क्रियायाः फलस्य प्रसिद्धस्य व्यक्तिर्विभावना । यथा--

अप्यसज्जनसाङ्गत्ये न वसत्येव वैकृतम् ॥
अक्षालितविशुद्धेषु हृदयेषु मनीषिणाम् ॥ ॥ १३ ॥

हिन्दी—विरोध अलङ्कार से विभावना अलङ्कार का भेद दिखलाने के लिए कहा है—

क्रिया के प्रतिषेध होने पर उसके प्रसिद्ध फल की उपपत्ति विभावना अलंकार है।

कारणरूप क्रिया का निषेध होने पर उसी क्रिया के प्रसिद्ध फल की उत्पत्ति विभावना अलंकार है। यथा—

असज्जनों की संगति होने पर भी मनीषियों के अप्रक्षालित निर्मल हृदयों में विकार निवास नहीं करता है। (यहाँ 'अक्षालितविशुद्धेषु' तथा 'असज्जनसाङ्गत्ये', में विभावना अलंकार है ॥ १३ ॥

विरोधादिति! लक्षणवाक्यार्थं विवृणोति—क्रियाया इति । क्रियायाः कारणरूपायाः प्रतिषेधे प्रसिद्धस्य तस्याः क्रियायाः फलस्य कार्यभूतस्य व्यक्तिः प्रकाशनं यत् सा विभावनेति वाक्यार्थः । विरोधविशेषो विभावनेति भेदः । अप्यसज्जनेति । विकृतमेव वैकृतम् । प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण । अक्षालितविशुद्धेष्वित्यत्र कारणरूपक्षालनक्रियाप्रतिषेधेऽपि तत्फलभूताया विशुद्धेः प्रकाशनात् विभावना ।।१३।।

अनन्वयं वक्तुमाह—

विरुद्धप्रसङ्गेनानन्वयं दर्शयितुमाह—

एकस्योपमेयोपमानत्वेऽनन्वयः ॥ १४ ॥

एकस्यैवार्थस्योपमेयत्वमुपमानत्वं चानन्वयः । यथा—

गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः ।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ॥
अन्यासादृश्यमेतेन प्रतिपादितम् ॥ १४ ॥

हिन्दी—विरुद्ध के प्रसङ्ग से अनन्वय अलंकार दिखलाने के लिए कहा है—

एक पदार्थ का उपमानत्व और उपमेयत्व दिखलाना अनन्वय अलंकार है। यथा—

आकाश आकाश के सदृश, समुद्र समुद्र के समान और राम तथा रावण का युद्ध राम तथा रावण के युद्ध के समान है ।

इस अनन्वय अलंकार से अनन्यसादृश्य का प्रतिपादन हो गया ॥ १४ ॥

विरोधेति । एकस्यैवार्थस्यैकस्मिन्नेव वाक्ये उपमानान्तरव्युदासेनातिशयमाधातुमुपमानत्वं चोपमेयत्वं चोपकल्प्यते । तत्र व्यधिकरणयोर्धर्मयोरुपमानत्वोपमेयत्वयोरेकत्रान्वयासम्भवादनन्वयालङ्कारः । रामरावणयोरिति—स्पष्टम् । एकस्यैवोपमानोपमेयत्वकल्पनायां फलितमाह—अन्येति उपमानान्तरेणासादृश्यं सादृश्याभावः ॥ १४ ॥

उपमेयोपमासुपपादयितुमुपरितनं सूत्रमुपादत्ते—

क्रमेणोपमेयोपमा ॥ १५ ॥

एकैकस्यैवार्थस्योपमेयत्वमुपमानत्वं च क्रमेणोपमेयोपमा । यथा-

खमिव जलं जलमिव खं हंस इव शशी शशीव हंसोऽयम् ।
कुमुदाकारास्तारास्ताराकाराणि कुमुदानि ॥ १५ ॥

हिन्दी—एक पदार्थ में उपमेयत्व तथा उपमानत्व दोनों का क्रमशः वर्णन करने से उपमेयोपमा अलंकार होता है ।

क्रम से एक ही पदार्थ का उपमेयत्व तथा उपमानत्व दिखलाना उपमेयोपमा अलंकार है । यथा—

आकाश के समान जल (स्वच्छ) है और जल के समान आकाश (निर्मल) है। हंस के समान चन्द्र (शुभ्र) है और चन्द्र के कमान हंस (उज्ज्वल) है। कुमुदों के सदृश ताराएँ हैं और ताराओं के समान कुमुद हैं॥ १५॥

क्रमेणेति। एकस्यैवेत्यनुवर्तते। यत्र क्रमेण वाक्यद्वय एकस्यैव वस्तुन उपमानत्वमुपमेयत्वं च निबध्यते तत्रोपमेयोपमा। खमिवेति। उदाहरणं स्पष्टम्॥ १५॥

साम्यशङ्कायामुपमेयोपमातः परिवृत्तिं व्यावर्तयितुं लक्षणं दर्शयतीत्याह—

इयमेव परिवृत्तिरित्येके तन्निरासार्थमाह—

समविसदृशाभ्यां परिवर्तनं परिवृत्तिः॥ १६॥

समेन विसदृशेन वार्थेन अर्थस्य परिवर्तनं परिवृत्तिः। यथा—

आदाय कर्णकिसलयमियमस्यै चरणमरुणमर्पयति।
उभयोस्सदृशविनिमयादन्योन्यमवञ्चितं मन्ये॥

यथा वा—

विहाय साहारमहार्यनिश्चया विलोलदृष्टिः प्रविलुप्तचन्दना।
ववन्ध बालारुणबभ्रु वल्कलं पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति॥ १६॥

हिन्दी—यही (उपमेयोपमा) परिवृत्ति अलङ्कार है ऐसा कुछ लोग कहते हैं, उनके निराकरण के लिए कहा है—

सदृश तथा असदृश वस्तुओं से जो परिवर्त्तन होता है उसे परिवृत्ति अलंकार कहते हैं—

समान अथवा असमान अर्थ से जो अर्थ का विनिमय होता है वह परिवृत्ति अलङ्कार है। यथा—

यह (नायिका इस शठ नायक से) कान में पहनने के लिए अरुण किसलय लेकर उसे अरुण चरण अर्पण करती है (पैर से मारती है)। यहाँ किसलय तथा चरण दोनों के सम विनिमय से (नायिका तथा नायक) एक दूसरे को ठगा नहीं ऐसा मैं मानता हूँ। (यह सम परिवृत्ति का उदाहरण है)।

अथवा जैसे—

दृढ़ निश्चयवाली, चञ्चलनयनी तथा चन्दनलेप विहीना उस (पार्वती) ने भोजन छोड़कर प्रातःकालीन सूर्य सदृश लालवर्णमय तथा स्तनोन्मता के कारण विघटित सन्धिवाला वल्कल धारण किया॥ १६॥

इयमेवेति । व्याचष्टे—समेनेति । समेन समानेन विसदृशेनाऽसदृशेन वाऽर्थेन अर्थस्य यत्परिवर्तनं विनिमयः सा परिवृत्तिः । उदाहरति—यथेति । अत्र प्रसारिताख्यं करणं सूचितमिति केचिदाचक्षते । 'नायकस्यांस एको द्वितीयः प्रसारित इति प्रसारितकम्' इति वात्स्यायनसूत्रम् । तद्विवृतं रतिरहस्ये 'प्रियस्य वक्षोंऽसतलं शिरोधरा नयेत सव्यं चरणं नितम्बिनी। प्रसारयेद्वा परमायतं पुनर्विपर्ययः स्यादिति हि प्रसारितम्' इति । अत्र चरणकिसलयोः सादृश्यात् समपरिवृत्तिः । विहायेत्यादौ हारवल्कलयोर्वैसादृश्याद्विसदृशपरिवृत्तिः ॥ १६ ॥

क्रमालङ्कारं कथयितुमाह—

उपमेयोपमायाः क्रमो भिन्न इति दर्शयितुमाह—

उपमेयोपमानानां क्रमसम्बन्धः क्रमः ॥ १७ ॥

उपमेयानामुपमानानां चोद्देशिनामनुद्देशिनां च क्रमसम्बन्धः क्रमः । यथा—

तस्याः प्रबन्धलीलाभिरालापस्मितदृष्टिभिः ।
जीयन्ते वल्लकीकुन्दकुसुमेन्दीवरस्रजः ॥ १७ ॥

हिन्दी—उपमेयोपमा अलङ्कार से क्रम अर्थात् यथासंख्य अलङ्कार भिन्न है, यह दिखलाने के लिए कहा है —

उपमेय तथा उपमान का क्रम से सम्बन्ध दिखलाना क्रम अलङ्कार है ।

उद्देशी उपमेय और अनुद्देशी उपमान का जो क्रम-सम्बन्ध है (अर्थात् पहले कहे गए उपमेय और बाद में कहे गए उपमान का जो क्रममूलक सम्बन्ध है) वह क्रम अलङ्कार कहलाता है । यथा—

उस नायिका के, आलाप, विहसन और दृष्टि रूप निरन्तर चलने वाली लीलाओं से वीणा, कुन्दकुसुम और नीलकमलों की मालाएँ जीत ली गईं ॥ १७ ॥

उपमेयेति । वृत्तिः स्पष्टार्था । प्रबन्धेनाविच्छेदेन लीला यासां ताभिः प्रबन्धलीलाभिः ॥ १७ ॥

क्रमदीपकयोः सौहार्दमुन्मुद्रयन् सूत्रमवतारयति—

क्रमसम्बन्धप्रसङ्गेन दीपकं दर्शयितुमाह—

उपमानोपमेयवाक्येष्वेका क्रिया दीपकम् ॥ १८ ॥

उपमानवाक्येषूपमेयवाक्येषु चैका क्रिया अनुपङ्गतः सम्बध्यमाना दीपकम् ॥ १८ ॥

हिन्दी—क्रम अलङ्कार के सम्बन्ध-प्रसङ्ग से दीपक अलङ्कार दिखलाने के लिए कहा है—

उपमान और उपमेय वाक्यों में एक ही क्रिया का सम्बन्ध दिखलाना दीपक अलङ्कार है।

उपमान वाक्यों में तथा उपमेय वाक्यों में प्रसङ्ग से सम्बद्ध एक क्रिया का प्रयोग होना दीपक अलङ्कार है ॥ १८ ॥

क्रमेति। व्याचष्टे—उपमानेति। एकस्यैव प्रधानसम्बन्धितया सकृदुपात्तस्य पदस्य वाक्यान्तरेषु प्रसङ्गात् सम्बन्धोऽनुषङ्गः ॥ १८ ॥

तद्भेदमाह—

तत्त्रैविध्यम्, आदिमध्यान्तवाक्यवृत्तिभेदात् ॥ १९ ॥

तत् त्रिविधं भवति। आदिमध्यान्तेषु वाक्येषु वृत्तेर्भेदात्। यथा—
भूष्यन्ते प्रमदवनानि बालपुष्पैः, कामिन्यो मधुमदमांसलैर्विलासैः।
ब्रह्माणः श्रुतिगदितैः क्रियाकलापैः, राजानो विरलितवैरिभिः प्रतापैः।

वाष्पः पथिककान्तानां जलं जलमुचां मुहुः।
विगलत्यधुना दण्डयात्रोद्योगो महीभुजाम् ॥
गुरुशुश्रूषया विद्या मधुगोष्ठ्या मनोभवः।
उदयेन शशाङ्कस्य पयोधिरभिवर्धते ॥ १९ ॥

हिन्दी—वह तीन प्रकार का है, श्लोकगत आदिम वाक्य, मध्यवाक्य तथा अन्तिम वाक्यों में रहने से।

वह (दीपक अलङ्कार) तीन प्रकार का होता है। आदिम वाक्य, मध्यवाक्य तथा अन्तिम वाक्य में दीपक के रहने से। यथा—

क्रीडोद्यान नए फूलों से, कामिनियाँ मदिरा के मद से पूर्णताप्राप्त हाव-भावों से, ब्राह्मण वेदोक्त क्रिया-कलापों (यज्ञादि कर्मों) से और राजा लोग शत्रु को दलित कर देने वाले प्रतापों से भूषित (सुशोभित) होते हैं। यह आदि दीपक का उदाहरण है क्योंकि यहाँ श्लोक के आदि में दीपक (भूष्यन्ते) का प्रयोग हुआ है)।

राजाओं की दण्डयात्रा की तैयारी के समय पथिकों अर्थात् भागते हुए दुश्मनों की स्त्रियों के आँसू और मेघों के जल-बिन्दु बार-बार गिरते हैं। (यह मध्यदीपक उदाहरण है क्योंकि यहाँ श्लोक के मध्य में दीपक (विगलति) का प्रयोग हुआ है)।

गुरु की सेवा से विद्या, मद्य-पान की गोष्ठी अर्थात् कुसङ्गति से कामदेव और चन्द्र के उदय से समुद्र बढ़ता है ॥ १९ ॥

तत् त्रैविध्यमिति । भूष्यन्त इत्यत्रादिदीपकम् । ब्रह्माण इति । ब्राह्मणाः । वाष्प इत्यत्र मध्यदीपकम् । गलनं बाष्पजलयोः स्यन्दः, दण्डयात्रोद्योगे नाशः । गरुशुश्रूषयेत्यत्रान्तदीपकम् । एवमेव कारकदीपकमप्यूहनीयम् ॥ १९ ॥

निदर्शनं दर्शयितुमाह—

दीपकवन्निदर्शनमपि संक्षिप्तमित्याह—

क्रिययैव स्वतदर्थान्वयख्यापनं निदर्शनम् ॥ २० ॥

क्रिययैव शुद्धया स्वस्यात्मनस्तदर्थः चान्वयस्य संबन्धस्य ख्यापनं संलुलितहेतुदृष्टान्तविभागदर्शनान्निदर्शनम् । यथा—

अत्युच्चपदाध्यासः पतनायेत्यर्थशालिनां शंसत् ।
आपाण्डु पतति पत्रं तयोरिदं बन्धनग्रन्थेः ॥

पततीति क्रिया । तस्याः स्वं पतनम् । तदर्थेऽत्युच्चपदाध्यासः पतनायेति शंसनम् । तस्य ख्यापनमर्थशालिनां शंसदिति ॥ २० ॥

हिन्दी—दीपक के सदृश निदर्शनालङ्कार भी संक्षिप्त होता है, इसे दिखलाने के लिए कहा है—

क्रिया से अपना और अपने प्रयोजन के सम्बन्ध का प्रतिपादन करना निदर्शन अलङ्कार है । केवल अनन्य सहाया (शुद्ध) क्रिया के द्वारा अपना और अपने प्रयोजन के सम्बन्ध का प्रतिपादन हेतु तथा दृष्टान्त के विभाग के मिश्रित दिखाई देने से होता है । अतः इसका नाम निदर्शन है । यथा—

अति उच्च पद पर पहुँचना पतन के लिए है (अर्थात् उसका परिणाम पतन होता है) यह धनाढ्यों को बतलाता हुआ, वृक्ष का यह पीला पत्ता अनी शाखा-सम्बद्ध ग्रन्थि से टूट कर गिर रहा है ।

'पतति' यह क्रिया है, उस (क्रिया का स्व अर्थात् स्वरूप पतन है । उसका तात्पर्य है 'अति उच्च पद की प्राप्ति पतन के लिए है' यह बोध कराना । उसका ख्यापन (बोधन) 'अर्थशालिनां शंसत्' इस पद से होता है ॥ २० ॥

दीपकवदिति । शुद्धयानन्यसहायया क्रिययैवावृत्तिरहितयेत्यर्थः । स्वस्य तदर्थस्य सा क्रिया अर्थः प्रयोजनं यस्य तत्तदर्थं स्वप्रयोजनकमर्थान्तरमित्यर्थः । तयोः स्वतदर्थयोरन्वयस्य सम्बन्धस्य ख्यापनं निदर्शनम् । निदर्शनपदार्थं निर्वक्ति—संलुलितेति । संलुलितः=अविवेचितो, हेतुदृष्टान्तयोर्विभागस्तस्य दर्शनाद्विवेचनान्निर्गढहेतुदृष्टान्तदर्शनरूपत्वान्निदर्शनमित्यर्थः । उदाहरति—

अत्युच्चेति । अर्थशालिनामर्थोल्लेखशालिनां धनशालिनां वा । लक्ष्यलक्षण-योरानुकूल्यमुन्मीलयति । पततीति क्रियेति ॥ २० ॥

अर्थान्तरन्यासं समर्थयितुं सूत्रसङ्गतिं सूचयति--

इदं च नार्थान्तरन्यासः । स ह्यन्यथाभूतस्तमाह—

उक्तसिद्धयै वस्तुनोऽर्थान्तरस्यैव न्यसनम् अर्थान्तरन्यासः ॥ २१ ॥

उक्तसिद्धयै उक्तस्यार्थस्य सिद्ध्यर्थं वस्तुनो वाक्यार्थान्तरस्यैव न्यसनमर्थान्तरन्यासः । वस्तुग्रहणादर्थस्य हेतोर्न्यसनन्नार्थान्तरन्यासः । यथा 'इह नातिदूरगोचरमस्ति सरः कमलसौगन्ध्यात्' इति । अर्थान्तर-स्यैवेति वचनम्, यत्र हेतुर्व्याप्तिगूढत्वात् कथञ्चित् प्रतीयते तत्र यथा स्यात् । यद्यत् कृतकं तत्तदनित्यमित्येवम्प्रायेषु मा भूदिति । उदाहरणम् ।

प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसन्निधावुपाहितां वक्षसि पीवरस्तनी ।
स्रजं न काचिद्विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि ॥

हिन्दी—यह अर्थान्तरन्यास नहीं है, वह तो निदर्शना से भिन्न प्रकार का होता है । उसे कहा है—

उक्त अर्थ की सिद्धि के लिए अर्थान्तर (अन्य वस्तु) का प्रस्तुतीकरण अर्थान्तर-न्यास है ।

उक्त की सिद्धि अर्थात् उक्त अर्थ की सिद्धि के लिए वाक्यार्थान्तर अर्थात् अन्य वस्तु का न्यास (उपस्थित) करना अर्थान्तरन्यास है । वस्तु के ग्रहण से पदार्थ के हेतु का उपस्थापन अर्थान्तरन्यास नहीं है । यथा—

यहाँ तालाब बहुत दूर नहीं मालूम पड़ता है, कमल की सुगन्धि से ।

सूत्र में 'अर्थान्तरस्यैव' ('अर्थान्तर का ही') कहा है । उसका तात्पर्य है कि जहाँ व्याप्ति के गूढ़ होने से हो वहीं अर्थान्तरन्यास हो । जो जो किया गया है अर्थात् बनाया गया है वह अनित्य है, ऐसे स्थलों में अर्थान्तरन्यास न हो ।

उदाहरण, यथा—

प्रिय के द्वारा गूँथी हुई, और सपत्नी के सामने में पीनस्तनयुक्त वक्षःस्थल पर पहनाई गई माला को किसी सुन्दरी ने जल में स्नान करने से खराब हो जाने पर फेंका नहीं । गुण प्रेम में बसते हैं वस्तु में नहीं ॥ २१ ॥

इदं चेति । उक्तस्य वाक्यार्थस्य सिद्धचै, वाक्यार्थान्तरस्यान्यस्य वाक्यार्थस्यैव । वस्तुग्रहणप्रयोजनं प्रस्तौति—वस्त्विति । प्रत्युदाहरणं प्रदर्शयति—यथेति । अत्र कमलसौगन्ध्यादिति हेतोः पदार्थरूपत्वात् तस्य न्यसनं नार्थान्तरन्यासः । अवधारणप्रयोजनमभिधत्ते—अर्थान्तरस्यैवेति । वचनमिति । यत्र वस्तुनो हेतुरूपमेवार्थान्तरं तद्व्याप्तिस्तु यत्र गौरवेण प्रतीयते तत्रालङ्कारता यथा स्यात्, प्रसिद्धव्याप्तिस्थले तु माभूदित्येवमर्थमेवकारकरणमित्यर्थः । उदाहर्तुमाह—उदाहरणमिति । प्रियेणेति । अत्र विशेषरूपमुपमेयं सामान्येनोपमानेन समर्थ्यते ॥ २१ ॥

अर्थान्तरन्यासव्यतिरेकयोर्भेदं दर्शयितुमभेदशङ्कामुन्मीलयति—

अर्थान्तरन्यासस्य हेतुरूपत्वाद्, हेतोश्चान्वयव्यतिरेकात्मकत्वान्न पृथग्व्यतिरेक इति केचित् । तन्निरासार्थमाह--

उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं व्यतिरेकः ॥ २२ ॥

उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं गुणाधिक्यं यद् अर्थादुपमानात् स व्यतिरेकः । यथा—

सत्यं हरिणशावाक्ष्याः प्रसन्नसुभगं मुखम् ।
समानं शशिनः किन्तु स कलङ्कविडम्बितः ॥

कश्चित्तु गम्यमानगुणो व्यतिरेकः । यथा—

कुवलयवनं प्रत्याख्यातं नवं मधु निन्दितं
हसितममृतं भग्नं स्वादोः पदं रससंवदः ।
विषमुपहितं चिन्ताव्याजान्मनस्यपि कामिनां
चतुरललितैर्लीलातन्त्रैस्तवार्धविलोकितैः ॥ २ ॥

हिन्दी—अर्थान्तरन्यास की हेतुरूपता से और हेतु की अन्वयव्यतिरेकात्मकता से व्यतिरेक कोई पृथक् अलङ्कार नहीं है, यह कुछ लोग कहते हैं, उनके खण्डन के के लिए कहा है—

उपमेय का गुणाधिक्य व्यतिरेक है ।

उपमान की अपेक्षा उपमेय के गुणों का जो अतिरेकित्व अर्थात् आधिक्य होता है वह व्यतिरेक अलङ्कार कहलाता है । यथा—

मृगनयनी का प्रसन्न एवं सुन्दर मुख चन्द्र के समान है, यह सत्य है किन्तु वह

(चन्द्र) कलङ्कसहित है। उपमानभूत चन्द्र का कलङ्कसहितत्व और उपमेयभूत मुख का कलङ्करहितत्व होने से यहां उपमान की अपेक्षा उपमेय में गुणाधिक्य है। अतः यहाँ व्यतिरेकालङ्कार उत्पन्न होता है।

किसी का मत है कि गम्यमान गुण वाला व्यतिरेक कहलाता है। यथा —

तेरे चतुर तथा सुन्दर हाव-भावों से और कटाक्षनिक्षेपों से नीलकमल का वन तिरस्कृत हो गया, नवीन मधु निन्दित हो गया, अमृत उपहसित हो गया, रससम्पन्न स्वाद का पद भग्न हो गया तथा चिन्ता के व्याज से प्रियजनों के मन में विष भर दिया ॥ २२ ॥

अर्थान्तरेति। व्याचष्टे—उपमेयस्येति। गुणशब्दोऽत्र धर्ममात्रवचनः। स च वाच्यो, गम्यश्चेति द्विविधः। उभयोऽप्युपमानगतस्तदपकर्षहेतुरुपमेयगतस्तदुत्कर्षहेतुश्चेति द्विविधो भवति। यदोपमानगतस्तेन तदपकर्षहेतुना गुणेनोपमेयस्य गुणातिरेकित्वमर्थाद्भवति। तदा गुणातिरेकित्वमार्थम्। यदा पुनरुपमेयगतस्तदा तेन तदुत्कर्षहेतुनाऽर्थादुपमानादुपमेयस्य गुणातिरेकित्वं भवति। तदा शाब्दमतिरेकित्वम्। तत्रोपमानगतवाच्यगुणप्रयुक्तं व्यतिरेकमुदाहरति—सत्यमिति। अत्र कलङ्कविडम्बितपदवाच्येनोपमानस्यापकर्षहेतुना कलङ्कित्वगुणेनोपमेयस्यार्थादकलङ्कित्वलक्षणं गुणातिरेकित्वमिति व्यतिरेकः। उपमानगतगम्यमानगुणप्रयुक्तं व्यतिरेकमुदाहरति—कुवलयवनमिति। कुवलयवनमध्वादिषु प्रत्याख्याननिन्दनादिभिरवगम्यमानेन निकर्षहेतुना चतुरललितलीलातन्त्रत्वराहित्यलक्षणेन गुणेनार्धविलोकितेषु चतुरललितलीलातन्त्रत्वरूपं गुणातिरेकित्वं शाब्दमपि प्रकृष्टतया प्रतिष्ठापितं भवतीति गम्यमानगुणप्रयुक्तो व्यतिरेकः। अर्थान्तरन्यासे व्यतिरेको विपक्षव्यावृत्तिः। अत्र गुणाधिक्यमिति भेदः॥ २२ ॥

विशेषोक्तिं विवेक्तुमाह—

व्यतिरेकाद्विशेषोक्तेर्भेदं दर्शयितुमाह—

एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः ॥ २३ ॥

एकस्य गुणस्य हानेः कल्पनायां शेषैर्गुणैस्साम्यं यत्तस्य दार्ढ्यं विशेषोक्तिः। रूपकं चेदं प्रायेणेति। यथा—

भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः।
द्यूतं हि नाम पुरुषस्याऽसिंहासनं राज्यम्॥
निर्द्रेयकमला लक्ष्मीः। हस्ती हि जङ्गमं दुर्गम् इति। अत्रापि

जङ्गमशब्दस्य स्थावरत्वनिवृत्तिप्रतिपादनत्वादेकगुणहानिकल्पनैव । एतेन, वेश्या हि नाम मूर्तिमत्येव निकृतिः। व्यसनं हि नाम सोच्छ्वासं मरणम् । द्विजो भूमिबृहस्पतिरित्येवमादिष्वेकगुणहानिकल्पना व्याख्याता ॥ २३ ॥

हिन्दी—व्यतिरेक से विशेषोक्ति का भेद दिखलाने के लिए कहा है—

एक गुण की हानि की कल्पना करने पर जो सादृश्य की दृढता होती है वह विशेषोक्ति अलङ्कार है।

एक गुण की न्यूनता की कल्पना करने पर शेष गुणों से जो साम्य होता है। उसका दृढ होना ही विशेषोक्ति अलङ्कार का लक्षण है। यह रूपकप्राय होता है। यथा—

जहाँ (हिमालय पर) रात में स्वयंप्रकाश योग्य ओषधियाँ, बिना तेल के ही, सुरत के समय में प्रदीप हो जाती हैं।

द्यूत (जुआ) पुरुष के लिए बिना सिंहासन का राज्य है।

हाथी गमनशील दुर्ग (किला) है।

यहाँ जङ्गम शब्द के स्थावरत्व-निवृत्तिप्रतिपादक होने से एक गुण की हानि की कल्पना हो ही जाती है।

इससे 'वेश्या मूर्त्तिमती तिरस्कृति ही है'।

'व्यसन (दुःख) श्वास अर्थात् जीवन सहित मरना है'।

'ब्राह्मण पृथ्वी का बृहस्पति है'।

इत्यादि स्थलों में एक गुण-हानि-कल्पना की व्याख्या हो गई ॥ २३ ॥

व्यतिरेकादिति—एकस्येति। अर्थादुपमेयगतस्य हानिर्लोपः । वर्जनीयतया रूपकमपि सम्भवतीत्याह—रूपकमिति । अतैलपूरा इति । असिंहासनमिति । अकमलेति । अत्रैकगुणहानिकल्पना सिद्धयति । समर्थितामेकगुणहानिकल्पनामन्यत्रातिदिशति—एतेनेति । 'कुसृतिर्निकृतिश्शाठ्यम्' इत्यमरः । मूर्तिमत्येवेत्यत्रामूर्तत्वनिवृत्तिः । सोच्छ्वासमित्यत्रानुच्छ्वासतानिवृत्तिः । भूमिबृहस्पतिरित्यात्राभौमत्वनिवृत्तिः प्रतिपाद्यत इत्येकगुणमानिकल्पनाऽवगन्तव्या ॥२३॥

व्याजस्तुतिं व्याख्यातुं प्रसङ्गं परिकल्पयति—

व्यतिरेकविशेषोक्तिभ्यां व्याजस्तुतिं भिन्नां दर्शयितुमाह—

सम्भाव्यविशिष्टकर्माकरणान्निन्दास्तोत्रार्था व्याजस्तुतिः ॥ २४ ॥

अत्यन्तगुणाधिको विशिष्टस्तस्य च कर्म विशिष्टकर्म, तस्य सम्भाव्यस्य कर्तुं शक्यस्याकरणान्निन्दाविशिष्टसाम्यसम्पादनेन स्तोत्रार्था व्याजस्तुतिः । यथा--

बबन्ध सेतुं गिरिचक्रवालैर्बिभेद सप्तैकशरेण तालान् ।
एवंविधं कर्म ततान रामस्त्वया कृतं तन्न मुधैव गर्वः ॥२४॥

हिन्दी—व्यतिरेक और विशेषोक्ति से व्याजस्तुति भिन्न है यह दिखलाने के लिए कहा है—

सम्भान्य विशिष्ट कर्म न करने से स्तुति के लिए जो निन्दा की जाती है उसे व्याजस्तुति अलङ्कार कहते हैं।

गुणों में अत्यन्त अधिक विशिष्ट कहलाता है। उसका कर्म विशिष्ट कर्म कहलाता है। उस के लिए सम्भाव्य कर्म के न करने से जो निन्दा स्तुति की जाती है विशिष्ट के साथ साम्य सम्पादन द्वारा, वह व्याजस्तुति अलङ्कार है। यथा—

रामने पर्वत-समूहों (पत्थरों के ढेरों) से समुद्र पर पुल का निर्माण किया और एक ही बाण से सात तालवृक्षों का छेदन कर दिया। राम ने इस तरह के साहसिक कार्य किए, तुमने तो एक भी न किया, तेरा गर्व व्यर्थ है ॥ २४ ॥

व्यतिरेकेति। व्याचष्टे —अत्यन्तेति। विशिष्टो रामादिरुपमानभूतस्तस्य कर्म सेतुबन्धनादि। तस्य कर्तुं—शक्यस्य कर्मणोऽकरणाद्वर्णनीयस्य निन्दा रामादिसाम्यापादानात् स्तुतिपर्यवसायिनी व्याजस्तुतिः। बबन्धेति। त्वं राम एवासीति तात्पर्यम्। निन्दाव्याजेन स्तुतिरूपत्वाद् व्यतिरेकविशेषोक्तिभ्यां भेदः ॥ २४ ॥

व्याजक्ति व्याकर्तुमाह—

व्याजस्तुतेर्व्याजोक्तिं भिन्नां दर्शयितुमाह—

व्याजस्य सत्यसारूप्यं व्याजोक्तिः ॥ २५ ॥

व्याजस्य च्छद्मनः सत्येन सारूप्यं व्याजोक्तिः। यां मायोक्तिरित्याहुः। यथा—

शरच्चन्द्रांऽशुगौरेण वाताविद्धेन भामिनि।
काशपुष्पलवेनेदं साश्रुपातं मुखं कृतम् ॥ २५ ॥

हिन्दी—व्याजस्तुति से व्याजोक्ति को भिन्न दिखलाने के लिए कहा है—

व्याज (छल से प्रतिपादित विषय) का सत्य के साथ सारूप्य दिखलाना व्याजोक्ति अलङ्कार है ।

व्याज अर्थात् असत्य के छल से सत्य का सारूप्य दिखलाना व्याजोक्ति अलङ्कार है, जिसको कुछ आलङ्कारिकों ने 'मायोक्ति' कहा है । यथा—

हे सुन्दरि, शरत्कालीन चन्द्र की किरणों के समान शुभ्र और वायु-वेग से उड़कर आए हुए, काशपुष्प के तिनके ने (आँख में गिर कर) इस मुख को अश्रुपातयुक्त बना दिया ॥ २५ ॥

व्याजस्तुतेरिति । व्याचष्टे—व्याजस्येति । असत्यस्येत्यर्थः । सत्येन यथार्थेन । सारूप्यं सत्यत्वकल्पनया समुन्मिषितं सादृश्यम् । असत्ये सत्यत्ववचनं व्याजोक्तिरिति लक्षणार्थः व्याजोक्तिमिमां मतान्तरे संज्ञान्तरेण व्यवहरन्ति, न तु स्वरूपभेद इत्याह—यामिति । उदाहरति—यथेति । चन्द्रांऽशुगौरेणेत्यनेन चन्द्रिकायां काशपुष्पलवस्याविवेचनीयता सूचिता । वाताविद्धेनेत्यनेनाऽप्रसक्तिशङ्का निराकृता । अत्र सत्येन सात्त्विकभावेन कृतोऽश्रुपातः पुष्पलवेन कृत इत्यसत्यस्य सत्यतोक्तिः । अत एव व्याजस्तुतितो भेदः ॥ २५ ॥

तुल्ययोगितां वक्तुमाह—

व्याजस्तुतेः पृथक् तुल्ययोगितेत्याह—

विशिष्टेन साम्यार्थमेककालक्रियायोगस्तुल्ययोगिता ॥ २६ ॥

विशिष्टेन न्यूनस्य साम्यार्थमेककालायां क्रियायां योगस्तुल्ययोगिता । यथा, जलनिधिरशनामिमां धरित्रीं वहति भुजङ्गविभुर्भवद्भुजश्च ॥ २६ ॥

हिन्दी—व्याज स्तुति से तुल्ययोगिता पृथक् है यह दिखलाने के लिये कहा है—

विशिष्ट के साथ समता दिखलाने के लिए एक काल में होने वाली क्रिया से उपमान और उपमेय का योग दिखलाना तुल्ययोगिता अलङ्कार है ।

विशिष्ट (अधिक गुण-विशिष्ट उपमान) के साथ न्यून (न्यून गुणयुक्त उपमेय) का साम्य प्रदर्शित करने के लिए एक काल में होने वाली क्रिया में उपमान तथा उपमेय दोनों का योग दिखलाना तुल्ययोगिता अलङ्कार है, यथा—

समुद्ररूप रशना (करधनी) से युक्त इस सम्पूर्ण पृथ्वी को शेषनाग और आपकी भुजा दोनों धारण करते हैं ॥ २६ ॥

व्याजोक्तेः पृथगिति । विशिष्टेन गुणाधिकेनोपमानेनेति यावत् । अर्थादत्र न्यूनस्येत्यनेनोपमेयस्येत्यवगम्यते । एकः कालो यस्याः सा एककाला तस्यां

क्रियायां, साम्यार्थं यो योगः सा तुल्ययोगिता। उदाहरति—जलनिधीति ॥२६॥

आक्षेपं लक्षयितुं सूत्रमुपक्षिपति—

उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः ॥ २७ ॥

उपमानस्य क्षेपः प्रतिषेध उपमानाक्षेपः। तुल्यकार्यार्थस्य नैरर्थक्यविवक्षायाम्। यथा—

तस्याश्चेन्मुखमस्ति सौम्यसुभगं किं पार्वणेनेन्दुना
सौंदर्यस्य पदं दृशौ च यदि चेत् किं नाम नीलोत्पलैः।
किं वा कोमलकान्तिभिः किसलयैः सत्येव तत्राधरे
हा धातुः पुनरुक्तवस्तुरचनारम्भेष्वपूर्वो ग्रहः ॥

उपमानस्याक्षेपतः प्रतिपत्तिरित्यपि सूत्रार्थः। यथा—

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्दधानार्द्रनखक्षताभम्।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार ॥

अत्र शरद्वेश्येव, इन्दुं नायकमिव, रवेः प्रतिनायकस्येवेत्युपमानानि गम्यन्त इति ॥ २७ ॥

हिन्दी—उपमान का आक्षेप (निषेध) करना आक्षेप अलङ्कार है।

उपमान का आक्षेप अर्थात् प्रतिषेध उपमानाक्षेप कहलाता है। तुल्य कार्यवाले अर्थ की निरर्थकता की विवक्षा में आक्षेप अलङ्कार होता है। यथा—

यदि उसका सौम्य तथा सुन्दर मुख विराजमान है तो फिर तत्तुल्य शोभाधायी पूर्णिमा के चन्द्र से क्या प्रयोजन ? यदि सौन्दर्य का आश्रयरूप उसके नेत्र वर्त्तमान हैं तो फिर नीलकमलों से क्या लाभ ? यदि उसका अधर विद्यमान है तो फिर कोमल कान्तियुक्त किसलयों से क्या लाभ ? दुःख है कि पुनरुक्त वाले पदार्थों की रचना करने में विधाता का अपूर्व आग्रह है ! (अर्थात् नायिका को ऐसे मुख नेत्र तथा अधर के विद्यमान रहने पर विधाता ने ऐसे चन्द्र, नीलोत्पल तथा किसलय की रचना व्यर्थ ही की)।

आक्षेप में उपमान का अर्थ प्रतीत होना आक्षेप अलङ्कार है, यह भी सूत्र का अर्थ है। यथा—

शुभ्र वर्ण के मेघों (अथवा स्तनों) के ऊपर ताजे नखक्षतों के सदृश इन्द्रधनुष को धारण किए हुए और कलङ्कयुक्त चन्द्र (अथवा पराङ्गनोपभोग रूप कलङ्क

से युक्त नायक को निर्मल करती अथवा मनाती) हुई इस शरद ऋतु (अथवा नायिका) ने सूर्य के ताप (प्रतिनायक के क्रोध) को और अधिक कर दिया।

यहाँ 'शरद् वेश्या के सदृश', 'इन्दु नायक के समान' और 'सूर्य प्रतिनायक की तरह' ये उपमान आक्षेप से प्रतीत होते हैं ॥ २७ ॥

उपमानेति। उपमानस्य तादृगुपमेये सति नैरर्थक्यविवक्षायां प्रतिषेध आक्षेप इति वाक्यार्थः। तस्याश्चेन्मुखमित्युदाहरणम्। कारेण समुच्चितार्थमाह—उपमानस्याक्षेपत इति। आक्षेपोऽत्राकर्षणम्। ऐन्द्रं धनुरित्युदाहरणम्। अत्राक्षेपलभ्यं प्रकटयति—अत्र शरदिति ॥ २७ ॥

सहोक्तिं वक्तुमाह—

तुल्ययोगितायाः सहोक्तेर्भेदमाह—

वस्तुद्वयक्रिययोस्तुल्यकालयोरेकपदाभिधानं सहोक्तिः ॥२८॥

वस्तुद्वयस्य क्रिययोस्तुल्यकालयोरेकेन पदेनाभिधानं सहाऽर्थशब्दसामर्थ्यात् सहोक्तिः। यथा—'अस्तं भास्वान् प्रयातः सह रिपुभिरयं संह्रियन्तां बलानि।' अत्रार्थयोर्न्यूनत्वविशिष्टत्वे न स्त इति नेयं तुल्ययोगितेति ॥ २८ ॥

हिन्दी—तुल्ययोगिता से सहोक्ति का भेद कहा है—

दो वस्तुओं की तुल्यकालीन दो क्रियाओं का केवल एक ही पद से प्रतिपादन करना सहोक्ति अलङ्कार है।

दो वस्तुओं की तुल्यकालीन दो क्रियाओं का केवल एक पद से जो उपपादन सहार्थक शब्द के सामर्थ्य से होता है वह सहोक्ति अलङ्कार है। यथा—

शत्रुओं के समान यह सूर्य भी अस्ताचल को चल पड़ा है इसलिए अब सेनाओं को वापस कर लो।

यहाँ अर्थों का न्यूनत्व तथा विशिष्टत्व नहीं है। अतः यह तुल्ययोगिता नहीं है (अर्थात् सहोक्ति अलङ्कार है) ॥ २८ ॥

तुल्ययोगिताया इति। वस्तुद्वयसम्बन्धिन्योः क्रिययोः सहार्थानां सहशब्दपर्यायाणां ग्रहणसामर्थ्यादेकेन पदेनाभिधानं सहोक्तिः। स्पष्टमुदाहरणम्। उभयोरलङ्कारयोर्भेदं दर्शयति—अत्रेति ॥ २८ ॥

समाहितं समीरयितुमाह—

समाहितमेकमवशिष्यते। तल्लक्षणार्थमाह—

यत्सादृश्यं तत्सम्पत्तिः समाहितम् ॥ २९ ॥

यस्य वस्तुनः सादृश्यं गृह्यते तस्य वस्तुनः सम्पत्तिः समाहितम् । यथा--

तन्वी मेघजलार्द्रवल्कलतया धौताधरेवाश्रुभिः
शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद्विश्रान्तपुष्पोद्गमा ।
चिन्तामोहमिवास्थिता मधुलिहां शब्दैर्विना लक्ष्यते
चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा ॥

अत्र पुरूरवसो लतायामुर्वश्याः सादृश्यं गृह्णतः सैव लतोर्वशी संपन्नेति ॥ २९ ॥

जिस वस्तु का सादृश्य उपमेय में दिखलाना है उस वस्तु के रूप को प्राप्त कर लेना (तद्रूपताप्राप्ति) समाहित अलङ्कार है ।

उपमेय में जिस वस्तु के सादृश्य का ग्रहण किया जाता है उपमेय के द्वारा उस वस्तु के रूप को प्राप्त कर लेना समाहित अलङ्कार है । यथा --

वह क्रुद्धा उर्वशी पैरों पर गिरे हुए मुझे (पुरूरवा को) तिरस्कृत कर पश्चात्ताप का अनुभव करती हुई आँसुओं से गीले अधर के सदृश वर्षा के जल से आर्द्र पल्लवों को धारण किए हुए, ऋतुकाल के अभाव से पुष्पोद्गम रहित आभरण शून्य स्त्री और भ्रमरों के शब्द के अभाव में चिन्ता से मौन होकर लता रूप में दिखलाई पड़ती है ।

इस उदाहरण में लता में उर्वशी के सादृश्य को देखने वाले पुरूरवा के लिए उर्वशी लता बन गई है ॥ २९ ॥

समाहितमिति । शुद्धेष्वलङ्कारभेदेषु समाहितमेकं लक्षयितुमवशिष्यत इत्यर्थः । यस्येति । तस्य सम्पत्तिस्तदाकारतापरिणतिः । ताद्रूप्यसंपत्तिरिति यावत् । अत्रोदाहरणं विक्रमोर्वशीये दर्शयितुमाह—तन्वीति । लतायामुर्वशी-सादृश्यं पश्यतः पुरूरवस इयमुक्तिः । अत्रेति । लतामवलोक्य तत्राश्रुधौता-धरत्वाभरणशून्यत्वचिन्तामौनाऽऽश्रितत्वाध्यवसायेन सा तादृश्युर्वशीवेत्यु-त्प्रेक्षमाणस्य पुरूरवसः सैव लतोर्वशी सपत्नेति लताया उर्वशीत्वसम्पत्तेः सम्भवात् समाहितम् । शमनन्तरक्षणभावित्वेऽपि तत्सम्पत्तेस्तस्य तादात्वि-कत्वाभिमानं सूचयितुं भूतप्रत्ययः ॥ २९ ॥

शुद्धालङ्कारनिरूपणोपसंहारव्याजेन मिश्रालङ्कारनिरूपणाय प्रसङ्गं प्रस्फोरयति—

एते चालङ्काराः शुद्धा मिश्राश्च प्रयोक्तव्या इति विशिष्टानाम् अलङ्काराणां मिश्रत्वं संसृष्टिरित्याह--

अलङ्कारस्यालङ्कारयोनित्वं संसृष्टिः ॥ ३० ॥

अलङ्कारस्यालङ्कारयोनित्वं यदसौ संसृष्टिरिति । संसृष्टिः संसर्गः सम्बन्ध इति ॥ ३० ॥

हिन्दी—ये अलङ्कार शुद्ध तथा मिश्र दो रूपो में प्रयोग योग्य हैं, अतः विशिष्ट अलङ्कारों का मिश्रित रूप संसृष्टि अलङ्कार होता है, यह आगे कहा है—

अलङ्कार का अलंकारहेतुत्व होना संसृष्टि है।

एक अलंकार का दूसरे अलंकार के साथ जो हेतुत्व (कार्यकारणभाव) सम्बन्ध है वह संसृष्टि अलङ्कार हैं संसर्ग अर्थात् सम्बन्ध ही संसृष्टि है ॥ ३० ॥

एते चेति । शुद्धाः पूर्वं लक्षिताः, मिश्राः संसृष्टिभेदाः शुद्धा इव मिश्रा अप्यलङ्काराः प्रयोगयोग्याः । शोभातिशयहेतुत्वादिति भावः । इतिशब्दो हेतौ । विशिष्टानामलङ्कारविशेषाणाम् । संसृष्टेर्लक्षणमाह—अलङ्कारस्येति । कार्यकारणभावापन्नयोरलङ्कारयोः सम्बन्धः संसृष्टिरित्यर्थः ॥ ३० ॥

संसृष्टिविभागं दर्शयितुं सूत्रमवतारयति—

तद्भेदावुपमारूपकोत्प्रेक्षावयवौ ॥ ३१ ॥

तस्याः संसृष्टेर्भेदावुपमारूपकं चोत्प्रेक्षावयवश्चेति ॥ ३१ ॥

हिन्दी— उसके दो भेद हैं—उपमारूपक तथा उत्प्रोक्षावयव ।

उस संसृष्टि के दो भेद हैं —उपमारूपक और उत्प्रेक्षावयव ॥ ३१ ॥

तद्भेदाविति । अलङ्कारयोनित्वमित्यत्र यथाक्रमं बहुव्रीहितत्पुरुषाश्रयणेन द्वौ भेदौ भवतः । उपमारूपकमुत्प्रेक्षावयवश्चेति ॥ ३१ ॥

तत्राद्यमुपक्षेप्तुं सूत्रमुपक्षिपति—

उपमाजन्यं रूपकमुपमारूपकम् ॥ ३२ ॥

स्पष्टम् । यथा--

निरवधि च निराश्रयं च यस्य स्थितमनिवर्तितकौतुकप्रपञ्चम् ।
प्रथम इह भवान् स कूर्ममूर्तिर्जयति चतुर्दशलोकवल्लिकन्दः ॥

एवं, रजनिपुरन्ध्रिलोध्रतिलक, इत्येवमादयस्तद्भेदा द्रष्टव्याः ॥३२॥

हिन्दी—उपमाजन्य रूपक उपमारूपक है।

अर्थ स्पष्ट है। उदाहरण, यथा—

जिनके ऊपर अनन्त, अनाश्रय तथा आश्चर्यमय संसार अवस्थित है, चतुर्दश-लोकरूप लताओं का मूलरूप कूर्मावतार सदृश आप इस संसार में अद्वितीय हैं।

इस तरह 'रजनिपुरन्ध्रितिलकः शशी' इत्यादि उपमारूपक के भेद द्रष्टव्य हैं ॥३२॥

उपमाजन्यमिति । सूत्रमिदं निगदव्याख्यानमित्यभिसन्धाय उदाहरणं दर्शयति—यथेति । नन्वत्र कूर्ममूर्तेः कन्दत्वारोपाल्लोकानां वल्लित्वारोपणं वक्तुं युक्तम् । तथाच रूपकजन्यं रूपकमिति वक्तव्यम् । यन्मतान्तरे परम्परितरूपकमित्युच्यते । तत् कथमिदमुपमाजन्यं रूपकमिति चेत् सत्यम् । लोको-वल्लिरिव लोकवल्लिः । व्याघ्रादेराकृतिगणत्वादुपमितसमास । लोकवल्ल्याः कन्द इति कूर्ममूर्तौ कन्दत्वारोपणमिह ग्रन्थकृतो विवक्षितमिति न दोषः । इत्थमेव, रजनिपुरन्ध्रीत्यादावपि द्रष्टव्यम् । ३२ ॥

उत्प्रेक्षावयवं लक्षयितुमाह—

उत्प्रेक्षाहेतुरुत्प्रेक्षावयवः ॥ ३३ ॥

उत्प्रेक्षाया हेतुरुत्प्रेक्षावयवः । अवयवशब्दो ह्यारम्भकं लक्षयति । यथा—

अङ्गुलीभिरिव केशसञ्चयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः ।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥

एभिर्निदर्शनैः स्वीयैः परकीयैश्च पुष्कलैः ।
शब्दवैचित्र्यगर्भेयमुपमैव प्रपञ्चिता ॥
अलङ्कारैकदेशा ये मताः सौभाग्यभागिनः ।
तेऽप्यलङ्कारदेशीया योजनीयाः कवीश्वरैः ॥ ३३ ॥

इति श्रीकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तावालङ्कारिके चतुर्थेऽधिकरणे
तृतीयोऽध्यायः । समाप्तं चेदमालङ्कारिकं
चतुर्थमधिकरणम् ।

हिन्दी—उत्प्रेक्षा का हेतु रूप अन्य अलंकार उत्प्रेक्षावयव कहलाता है।

उत्प्रेक्षा का हेतु (रूपक आदि कोई अन्य अलंकार) उत्प्रेक्षावयव कहलाता है। 'अवयव' शब्द आरम्भ अर्थ लक्षित करता है। यथा—

अंगुलियों के सदृश किरणों से नायिका के केशसञ्चय रूप अन्धकार को हटाकर चन्द्रमा मुँदे हुए कमल-नयनों वाले रजनी अथवा नायिका के मुख का चुम्बन कर रहा है।

स्वकीय तथा परकीय इन प्रचुर उदाहरणों से शब्दवैचित्र्यपूर्ण यह उपमा ही प्रपञ्चित हुई है। अलंकारों के एकदेश जो सुन्दर मालूम पड़े वे भी अलंकारदेशीय (अलंकारसदृश भेदोपभेद) श्रेष्ठ कवियों द्वारा काव्यों में प्रयुक्त होने योग्य हैं ॥ ३३ ॥

काव्यालंकारसूत्रवृत्ति के अन्तर्गत आलंकारिकनामक चतुर्थ अधिकरण में
तृतीय अध्याय समाप्त।

उत्प्रेक्षाहेतुरिति। अवयशब्द इति। अवयव आरम्भको हेतुरित्यर्थः। अङ्गुलीभिरिति। अत्रोपमारूपकानुप्राणितस्य श्लेषस्य उत्प्रेक्षोपपादकत्वादुत्प्रेक्षावयवत्वम्। अमीषामलंकाराणामुपमाप्रपञ्चरूपत्वमुपपादितमुपसंहरति—एभिरिति। निदर्शनैरुदाहरणैः। अलंकाराणामविकललक्षणलक्षितानां शोभातिशयजनकत्वं कैमुतिकन्यायेन सिद्धमिति सूचयितुं तदेकदेशानामपि शोभातिशयहेतुत्वमस्तीत्याह—अलंकारेति ॥ ३३ ॥

इति कृतरचनायामिन्दुवंशोद्वहेन
त्रिपुरहरधरित्रीमण्डलाखण्डलेन।
ललितवचसि काव्यालंक्रियाकामधेना-
वधिकरणमयासीत् पूर्तिमेतच्चतुर्थम् ॥ १ ॥

इति श्रीगोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालविरचितायां वामनालङ्कारसूत्रवृत्तिव्याख्यायां काव्यालङ्कारकामधेनावालङ्कारिके चतुर्थेऽधिकरणे तृतीयोऽध्यायः समाप्तः।

अथ पञ्चमोऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः

किरन्ती कौतुकस्मेरैः कटाक्षैः करुणाऽमृतम् ।
समये संनिधत्तां मे संल्लपन्ती सरस्वती ॥ १ ॥

निर्हेतुके नियतिनिस्पृहमुज्जिहाने कान्तानिभे कविवरप्रतिभाविवर्ते ।
प्रत्यर्थिशून्यपरनिर्वृतिके प्रपञ्चे सारस्वतेऽस्तु समयः सुधियाऽनुपाल्यः ॥ २ ॥

प्रायोगिकं पञ्चममधिकरणमारभ्यते । अधिकरणान्तरारम्भौचित्यमासूत्रयति—

सम्प्रति काव्यसमयं शब्दशुद्धिं च दर्शयितुं प्रायोगिकाख्यमधिकरणमारभ्यते । तत्र काव्यसमयस्तावदुच्यते ।

नैकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण ॥ १ ॥

एकं पदं न द्विः प्रयोज्यं प्रायेण बाहुल्येन । यथा 'पयोदपयोद' इति । किञ्चिदिवादिपदं द्विरपि प्रयोक्तव्यमिति । यथा—'सन्तः सन्तः खलाः खलाः' ॥ १ ॥

हिन्दी—अब काव्यसमय और शब्दशुद्धि के विचार के लिए प्रायोगिक नामक पञ्चम अधिकरण का प्रारम्भ करते हैं। इसमें काव्य-प्रयोग से सम्बद्ध व्यावहारिक नियमों पर विचार किया गया है। इस अधिकरण के दो अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में काव्य-समय अर्थात् काव्य-रचना में परम्परित आचार के निर्वाह का विवेचन हुआ है। यह निर्वाह मूलतः रूढ़िगत होता है। द्वितीय अध्याय में काव्योपनिबद्ध शब्दों की शुद्धता का विश्लेषणात्मक अध्ययन हुआ है।

समय की व्याख्या में कामधेनुकार ने इसका अर्थ 'संकेत' माना है। इसका सम्बन्ध काव्यप्रयोग के विधि-निषेध से है।

एक पद का प्रयोग काव्य में दो बार नहीं करना चाहिए। यथा—'पयोद पयोद'। इससे काव्य की चारुता क्षीण हो जाती है। 'च' आदि कुछ पदों का प्रयोग निर्दोष माना गया है। यथा 'ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः' में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य के कारण एक पद का दो बार प्रयोग उचित है ॥ १ ॥

संप्रतीति । संप्रतिशब्देन काव्यस्य प्रयोजनाधिकार्यात्माङ्गभेददोषगुणालङ्कारेषु दर्शितेषु प्रयोगनियमशब्दशुद्ध्योः प्राप्तावसरत्वं प्रत्याय्यते । प्रयोगविषये नियामकत्वेन भवतीति प्रायोगिकम् । तयोः प्रथमं प्रयोगमर्यादा पर्या-

लोच्यते इत्याह—तत्रेति। समय = सङ्केतः, प्रयोगवर्ज्यावर्ज्यनियम इति यावत्। न द्विः प्रयोज्यमिति। प्रतीतिवैरस्यादशक्तिसूचकत्वाच्चेत्यभिप्रायः। प्रायग्रहणस्य प्रयोजनमाह—किञ्चिदिति। यथा—'ते च प्रापुरुदन्वतं बुबुधे चादिपुरुषः' इति। आदिग्रहणात् पदानुप्रासपदयमकेषु द्विःप्रयोगो न दोषायेति द्रष्टव्यम्॥ १॥

नित्यं संहितैकपदवत् पादेष्वर्धान्तवर्जम्॥ २॥

नित्यं संहितापादेष्वेकपदवदेकस्मिन्निव पदे। तत्र हि नित्या संहितेत्याम्नायः। यथा—संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोरिति। अर्धान्तवर्जमर्धान्तं वर्जयित्वा॥ २॥

हिन्दी—छन्दों के चरणों में अर्धान्त को छोड़कर एक पद के समान सन्धि का विधान होना चाहिए। समान पद में सन्धि होती ही है। यथा—'रमेशः'। इसका शास्त्रीय वचन भी उपलब्ध है—"संहितैकपदे नित्या"। ठीक इस प्रकार, छन्दों के चरणों में भी सन्धि अपरिहार्य है। अर्धान्तवर्जन का तात्पर्य पूर्वार्ध के अन्त और उत्तरार्ध के प्रारम्भ में विधीयमान सन्धि का परित्याग है। यह वर्जना प्रथम चरण के अन्त और द्वितीय चरण के प्रारम्भ और तृतीय चरण के अन्त और चतुर्थ चरण के प्रारम्भ की सन्धियों में नहीं होती। काव्य-रचना में सन्धि के औचित्य की अवहेलना से विसन्धि दोष का जन्म होता है।

नित्यमिति। एकस्मिन् पदे संहिता प्रकृष्टसन्निकर्षो यथा नित्या तथा पादेष्वपि संहिता नित्या भवति। आम्नायः = प्रमाणम्। प्रमाणवचनं दर्शयति—संहितेति। अविशेषेण सर्वत्र प्राप्तौ संहितां क्वचित् पर्युदस्यति—अर्धान्तवर्जमिति॥ २॥

यद्यपि, वा पादान्त इति पादान्तवर्णस्य लघोर्गुरुत्वं विकल्पेन विहितं तदपि न सर्वत्र भवतीति प्रतिपादयितुमाह—

न पादान्तलघोर्गुरुत्वं च सर्वत्र॥ ३॥

पादान्तलघोर्गुरुत्वं प्रयोक्तव्यम्। न सर्वत्र, न सर्वस्मिन् वृत्त इति। यथा—

यासां बलिर्भवति मद्गृहदेहलीनां हंसैश्च सारसगणैश्च विलुप्तपूर्वः।
तास्वेव पूर्वबलिरूढयाङ्कुरासु बीजाञ्जलिः पतति कीटमुखावलीढः॥

एवंप्रायेष्वेव वृत्तेष्विति । न पुनः—'वरूथिनीनां रजसि प्रसर्पति समस्तमासीद्विनिमीलितं जगद्' इत्यादिषु । चकारोऽर्धान्तवर्जमित्यस्याऽनुकर्षणार्थः ॥ ३ ॥

हिन्दी—पादान्त लघु का गुरु होना वैकल्पिक है। सभी वृत्तों में ऐसा नहीं होता। पादान्त लघु के गुरु होने का उदाहरण है—

पहले वैभव के दिनों में मेरे घर की जिन देहलियों की बलि (यज्ञशेषान्न) हंसों तथा सारसों द्वारा खा ली जाती थी पूर्वबलि के यवों के अङ्कुरों से युक्त उन्हीं देहलियों पर कीड़ों के खाए हुए बीजों का ढेर गिर रहा है।

यहाँ 'अङ्कुरासु' में अन्तिम वर्ण ह्रस्व होने के कारण लघु है, परन्तु वसन्ततिलका के लक्षण के अनुसार इस चरण के अन्त्य वर्ण को गुरु होना चाहिए। इस लिए यहाँ उक्त वर्ण में गुरुत्व का विधान हुआ है।

इसका दूसरा पक्ष गुरुत्व की सार्वत्रिक प्रवृत्ति के निषेध से सम्बद्ध है। सभी वृत्तों में पादान्त लघु को गुरु नहीं माना जाता। यथा—

'वरूथिनीनां रजसि प्रसर्पति समस्तमासीद्विनिमीलितं जगत्।'

(सेनाओं के चलने से धूल उड़ने पर सम्पूर्ण जगत् उसमें छिप गया)।

यह वंशस्थवृत्त है और इसके लक्षण के अनुसार इसके पादान्त में 'रगण' रहने से गुरु का प्रयोग होना चाहिए। परन्तु आचार्य वामन के अनुसार यहाँ 'पादान्तस्थ विकल्पेन' की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इस 'प्रसर्पति' का 'ति' लघु हो गया है। इसे हृतवृत्त दोष कहेंगे।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वृत्तविशेष के पादान्त लघु का गुरुवत् प्रयोग होता है और कहीं प्रवृत्ति रहने पर भी इसका निषेध हो जाता है। इसे वृत्तदोष माना जाना चाहिए क्योंकि 'अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दोभङ्गं न कारयेत्' ॥ ३ ॥

न पादान्तेति। प्रथमं तावल्लघोर्गुरुत्वं दर्शयति—यथेति। एवम्प्रायेष्विति।

श्रीतिप्पभूपालक मध्यलोकदेवेन्द्र वज्राङ्गदचन्द्रिकाभिः।
त्वद्बाहुराभाति हसन्निवायं प्रौढौ प्रदाने मणिपारिजातौ ॥

इत्यादिषु इन्द्रवज्रादिषु उपजातिभेदेष्वपि द्रष्टव्यम्। प्रतिषेधविषयं प्रदर्शयति न पुनरिति। तेन, वा पादान्त इत्यस्य व्यवस्थितविभाषा वेदितव्या ॥३॥

न गद्ये समाप्तप्रायं वृत्तमन्यत्रोद्गतादिभ्यः संवादात् ॥ ४ ॥

गद्ये समाप्तप्रायं वृत्तं न विधेयम्। शोभाभ्रंशात्। अन्यत्रोद्गतादिभ्यो विषमवृत्तेभ्यः संवादाद् गद्येनेति ॥ ४ ॥

हिन्दी—गद्य में अपूर्ण वृत्त का प्रयोग वर्जित है। इससे गद्य की शोभा जाती रहती है। तद्गत आदि कुछ ऐसे वृत्त हैं जिनका प्रयोग गद्य में इस लिए सम्भव है कि उनका साम्य गद्य में वर्त्तमान रहता है। ये वृत्त अपवाद माने जा सकते हैं। इन वृत्तों के मिश्रण से वृत्तगन्धि गद्य निर्मित होता है ॥ ४ ॥

न गद्य इति। गद्ये वृत्तगन्धिनि समाप्तप्रायं परिपूर्णकल्पं वृत्तं न विधेयम्। तत्र हेतुमाह—शोभेति। गद्यपरिपाटीविसंवादेन शोभाभ्रंशो जायत इत्यर्थः। अन्यत्रेति। उद्गतादिषु विषमवृत्तेषु गद्यसंवाविषु किञ्चिद् वृत्तं समाप्तप्रायमपि गद्ये प्रयोक्तव्यम्। तत्र हेतुः—संवादादिति। विसंवादाभावादित्यर्थः॥४॥

न पादादौ खल्वादयः ॥ ५ ॥

पादादौ खल्वादयः शब्दा न प्रयोज्याः। आदिशब्दः प्रकारार्थः। येषामादौ प्रयोगो न श्लिष्यति ते गृह्यन्ते। न पुनर्वतहेतप्रभृतयः ॥५॥

हिन्दी—पाद के प्रारम्भ में खलु—इव आदि का प्रयोग करना उचित नहीं है क्योंकि इससे श्रुतिवैरस्य की उत्पत्ति होती है। 'यथा खलूक्त्वा खलु वाचिकम्।' परन्तु 'वत, हन्त' आदि शब्द खल्वादि में परिगणित नहीं है। पादादि में इनका प्रयोग गर्हित नहीं माना जाता ॥ ५ ॥

न पादादाविति। पादादौ खल्वादिप्रयोगे न श्लिष्यति। श्रुतिविरसत्वादिति भावः। यथा—'खलूक्त्वा खलु वाचिकम्। इव सीतागृहच्छद्मच्छन्नो लङ्कापतिः पुरा। किल सृज्जति कामिनीनां किलकिञ्चितमेव कामिजनमोहम्।' इत्यादि ॥ ५ ॥

नाऽर्धे किञ्चिदसमाप्तप्रायं न वाक्यम् ॥ ६ ॥

वृत्तस्यार्धे किञ्चिदसमाप्तप्रायं न प्रयोक्तव्यम्। यथा—

जयन्ति ताण्डवे शम्भोर्भङ्गुराऽङ्गुलिकोटयः।
कराः कृष्णस्य च भुजाश्चक्रांशुकपिशत्विषः ॥ ६ ॥

हिन्दी—श्लोकार्ध में असमाप्तप्राय वाक्यों का प्रयोग वर्जित है। यहाँ असमाप्तप्रायता का तात्पर्य वाक्यों की अपूर्णता है। श्लोकार्ध में अपूर्ण वाक्य के प्रयोग से उसकी भङ्गिमा का संश्लेषज चमत्कार बिखर जाता है। जैसे—

'जयन्ति ताण्डवे···कपिशत्विषः।'

यहाँ 'कराः' का प्रयोग उत्तरार्ध में हुआ है। वस्तुतः इसका प्रयोग पूर्वार्द्ध में होना चाहिए। 'कराः' के उत्तरार्धवर्त्ती होने से पूर्वार्ध का वाक्य अपूर्ण हो जाता है ॥६॥

नार्थ इति । किञ्चित्समाप्तमेकपदावशेषं वाक्यमेकपदार्थविशेषवाक्यार्थ-प्रतिपादकमित्यर्थः । तादृशमर्थमुदाहरति—जयन्तीति ॥ ६ ॥

न कर्मधारयो बहुव्रीहिप्रतिपत्तिकरः ॥ ७ ॥

बहुव्रीहिप्रतिपत्तिं करोति यः कर्मधारयः स न प्रयोक्तव्यः । यथा—अध्यासितश्चासौ तरुश्चाध्यासिततरुः ॥ ७ ॥

हिन्दी—ऐसे कर्मधारय का प्रयोग जिससे बहुव्रीहि की प्रतीति होती हो, नहीं करना चाहिए । यथा—'अध्यासिततरुः' । यह शब्द इसलिए बहुव्रीहि की प्रतीति कराता है कि यह पूर्वपद निष्ठा (क्त, क्तवतु) प्रत्यय से निष्पन्न है । अतः इसका विग्रह 'अध्यासितः तरुर्येन सः अध्यासिततरुः' भी सम्भव है । कर्मधारय में इसका विग्रह होगा—'अध्यासितश्चासौ तरुश्च अध्यासिततरुः' । इस प्रकार एक शब्द में कर्मधारय एवं बहुव्रीहि की प्रवृत्ति हो जाती है । इसलिए यहाँ ऐसे कर्मधारय के प्रयोग को उचित नहीं माना गया है ॥ ७ ॥

न कर्मधारय इति । वृत्तिः स्पष्टार्था । तादृशमुदाहरणं दर्शयति—अध्यासितेति । निष्ठापूर्वपदत्वेन बहुव्रीहिप्रतिपत्तेरेव पुरःस्फूर्तिकत्वादिति भावः ॥७॥

तेन पिपर्ययो व्याख्यातः ॥ ८ ॥

बहुव्रीहिरपि कर्मधारयप्रतिपत्तिकरो न प्रयोक्तव्यः । यथा—वीराः पुरुषा यस्य स वीरपुरुषः । कलो रवो यस्य स कलरव इति ॥८॥

हिन्दी—ऐसे बहुव्रीहि का भी प्रयोग निषिद्ध है जो कर्मधारय की प्रतीति कराता है । यथा—'वीरपुरुषः' 'कलरवः', 'वीरपुरुषः' का विग्रह जहाँ एक ओर 'वीराः पुरुषाः यस्य स वीरपुरुषः' सम्भव है वहाँ दूसरी ओर 'वीरश्चासो पुरुषः' भी हो जाता है । इस प्रकार यहाँ बहुव्रीहि से धर्मधारय की प्रतिपत्ति होती है । ऐसे प्रयोग अनुचित हैं ॥ ८ ॥

तेनेति । समासन्तरप्रतिपत्तिकृतः समासस्य प्रयोगो न कार्य इति न्यायो यः फलितः पूर्वसूत्रे तेनेत्यर्थः । विपर्ययशब्दार्थं विवृणोति—बहुव्रीहिरपीति । वीराः पुरुषा यस्येति । राजा पुरुषो यस्येति वा राजपुरुष इति कर्मधारयो बहुव्रीहिर्वा ईदृशो न कर्त्तव्य इति तात्पर्यम् ॥ ८ ॥

सम्भाव्यनिषेधनिवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ ॥ ९ ॥

सम्भाव्यस्य निषेधस्य निवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ प्रयोक्तव्यौ यथा—

समरमूर्धनि येन तरस्विना न न जितो विजयी त्रिदशेश्वरः ।
स खलु तापसत्राणपरम्पराकवलितक्षतजः क्षितिमाश्रितः ॥ ९ ॥

हिन्दी—संभावित निषेध के निवर्तन के लिए दो प्रतिषेध का प्रयोग करना चाहिए । जैसे—

'समरमूर्द्धनि·········क्षितिमाश्रितः' ।

यहाँ 'न न जितो' में निषेध के निवर्तन का प्रतिषेध है अर्थात् वाक्य को निस्सन्दिन्ध एवं संवेगी बनाने के लिए दो निषेधों की युग्मता से विधि की प्रबलता हो जाती है ॥ ९ ॥

सम्भाव्यस्येति । संप्रतिपत्तियोग्यस्य प्राप्तिपूर्वकत्वात् प्रतिषेधस्येति भावः । समरेति । न जित इति न, जित एवेत्यर्थः ॥ ९ ॥

विशेषणमात्रप्रयोगो विशेष्यप्रतिपत्तौ ॥ १० ॥

विशेष्यस्य प्रतिपत्तौ जातायां विशेषणमात्रस्यैव प्रयोगः । यथा—'निधानगर्भामिव सागराऽम्बराम्' । अत्र हि पृथिव्या विशेषणमात्रमेव प्रयुक्तम् । एतेन—'क्रुद्धस्य तस्याऽथ पुरामरातेर्ललाटपट्टादुदगादुदर्चिः ।' गिरेस्तडित्वानिव तावदुच्चकैर्जवेन पीटादुदतिष्ठदच्युतः' इत्यादयो व्याख्याताः ॥ १० ॥

हिन्दी -- प्रकारान्तर से विशेष्य की प्रतिपत्ति हो जाने पर केवल विशेषण का ही प्रयोग करना चाहिए । यथा—'निधानगर्भामिव सागराम्बराम्' । यहाँ विशेषणों से ही विशेष्य (पृथ्वी) का बोध हो जाता है । एवं दूसरे उदाहरण में 'उर्दाचि' पद प्रयुक्त हुआ है, जो अग्नि का विशेषण है । अग्नि का बोध इसी से हो जाता है । ठीक इसी तरह तीसरे उदाहरण में 'तडित्वान्' विशेषण से उसका विशेष्य 'मेघ' गतार्थ हो जाता है ॥ १० ॥

विशेषणेति । यत्रानन्यसाधारणविशेषणमहिम्ना विशेष्यस्य प्रयोगमन्तरेण प्रतिपत्तिर्भवति तत्र विशेषणमात्रप्रयोगः क्रियते । तदुदाहृत्य दर्शयति—निधानेति । अत्र सागराऽम्बरत्वं भुव एव । ऊर्ध्वार्चिर्योगश्चाग्नेरेव तडित्सम्बन्धश्च मेघस्यैवेत्यनन्यसाधारणत्वम् । यत्र तु विशेषणमहिम्ना प्रतिपन्नं विशेष्यं साधारणविशेषणविशिष्टमभिधित्सितं तत्र विशेष्यस्यापि गतार्थस्य प्रयोगे न दोष इत्यपि द्रष्टव्यम् ॥ १० ॥

सर्वनाम्नाऽनुसन्धिर्वृत्तिच्छन्नस्य ॥ ११ ॥

सर्वनाम्नानुसन्धिरनुसन्धानं प्रत्यवमर्शः । वृत्तिच्छन्नस्य वृत्तौ समासे छन्नस्य गुणीभूतस्य । यथा--

'तत्रापि नीलोत्पलपत्रचक्षुषो मुखस्य तद्रेणुसमानगन्धिनः ।' इति ॥११॥

हिन्दी—सर्वनाम से अनुसन्धि-अनुसन्धान अर्थात् प्रत्यवमर्श, परामर्श सम्भव है। साथ ही समासवृत्ति में गुणीभूत अर्थ का भी सर्वनाम से परामर्श हो सकता है। उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—'तत्रापि……गन्धिनः'।

यहाँ 'तत्' (सर्वनाम) से नीलोत्पल का परामर्श हुआ है। 'नीलोत्पल' पद 'नीलोत्पलपत्रचक्षुषः' का अङ्ग है। यहाँ वहुव्रीहि समास प्रयुक्त 'नीलोत्पल' शब्द गुणीभूत है। उसका प्राधान्य नहीं है ॥ ११ ॥

सर्वनाम्नेति। अत्र भाष्यकारवचनं प्रमाणम्। 'अथ शब्दानुशासनम्। केषां शब्दानाम्' इति तद्रेण्विति ॥ ११ ॥

सम्बन्धसम्बन्धेऽपि षष्ठी क्वचित् ॥ १२ ॥

सम्बन्धेन सम्बन्धः सम्बन्धसम्बन्धस्तस्मिन् षष्ठी प्रयोज्या क्वचित्, न सर्वत्रेति। यथा 'कमलस्य कन्दः' इति। कमलेन संबद्धा कमलिनी तस्या कन्दः इति सम्बन्धः। तेन कदलीकाण्डादयो व्याख्याताः॥१२॥

हिन्दी—सामान्यतः प्रधान अर्थ का ही अन्य के साथ सम्बन्ध होता है। इस लिए साधारण नियम के अनुसार 'तत्' पद से 'नीलोत्पल' का ग्रहण नहीं होता, पर विशेष नियम से सर्वनाम से गुणीभूत अर्थ का भी परामर्श हुआ है।

कहीं-कहीं परम्परा सम्बन्ध को द्योतित करने वाले शब्दों के साथ भी षष्ठी का प्रयोग सम्भव है। यथा—'कमलस्य कन्दः'। यहाँ इसका अर्थ होता है—'कमल की जड़'। परन्तु कमलपुष्प की तो जड़ नहीं होती, वह तो कमल से सम्बद्ध लता कमलिनी की होती है। इस प्रकार यहाँ 'कमल' शब्द कमल ओर कमलिनी की सम्बन्ध परम्परा को द्योतित करता है। इस लिए 'कमलस्य' षष्ठयन्त प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार 'कदलीकाण्ड' आदि की व्याख्या हो सकती है ॥ १२ ॥

सम्बन्धेति। सम्बन्धपारम्पर्येऽपि षष्ठी भवतीत्यर्थः। कदली हि समुदायस्तस्या गर्भस्तत्र काण्डमिति सम्बन्धसम्बन्ध इति ॥ १२ ॥

अतिप्रयुक्तं देशभाषापदम् ॥ १३ ॥

अतीव कविभिः प्रयुक्तं देशभाषापदं प्रयोज्यम् । यथा—'योषिदित्यभिललाष न हालाम्' इत्यत्र हालेति देशभाषापदम् । अनतिप्रयुक्तं तु न प्रयोज्यम् । यथा—'कङ्केलीकाननालीरविरलसत्पल्लवा नर्तयन्तः' इत्यत्र कङ्केलीपदम् ॥ १३ ॥

हिन्दी—अत्यधिक प्रयोगवर्ती देशज शब्द भी संस्कृत काव्य में प्रयुक्त हो सकता है । यथा—'योषिदित्यभिललाष न हालाम्' । 'हाला' शब्द संस्कृत का नहीं है, पर प्रयोगाधिक्य के कारण यह संस्कृत में निर्दोष भाव से प्रयुक्त होता आया है । कालिदास ने भी मेघदूत में इसका प्रयोग किया है—'हित्वा'''लोचनाङ्काम्' । परन्तु अनतिप्रसिद्ध देशज शब्दों का प्रयोग वर्जित है यथा—'कङ्केलो''''''नर्तयन्तः' यहाँ कङ्केली' पद का अर्थ अशोक हैं । यह इस अर्थ में प्रसिद्ध नहीं है । इसलिए यह प्रयोग वर्जित है ॥ १३ ॥

अतिप्रयुक्तमिति । अतीव प्रयुक्तं प्रायशः प्रयुक्तम् । देशव्यवस्थिता भाषा देशभाषा । तत्र सिद्धं पदं देशभाषापदम् । देश्यं पदमित्यर्थः । अतिना व्यावर्त्यं कीर्तयति—अनतीति । कङ्केलिरशोकः ॥ १३ ॥

लिङ्गाऽध्याहारौ ॥ १४ ॥

लिङ्गं चाऽध्याहारश्च लिङ्गाध्याहारावतिप्रयुक्तौ प्रयोज्याविति । यथा—'वत्से मा बहु निश्वसीः, कुरु सुरागण्डूषमेकं शनैः' इत्यादिषु गण्डूषशब्दः पुंसि भूयसा प्रयुक्तो, न स्त्रियाम् आम्नातोऽपि स्त्रीत्वे । अध्याहारो यथा—

मा भवन्तमनलः पवनो वा वारणो मदकलः परशुर्वा ।
वाहिनीजलभरः कुलिशं वा स्वस्ति तेऽस्तु लतया सह वृक्ष ॥

अत्र ह्यधाक्षीदित्यादीनामध्याहारोऽन्वयप्रयुक्तः ॥ १४ ॥

हिन्दी—किसी शब्द का लिङ्ग और अध्याहार प्रयोग के आधार पर निर्भर है । जैसे—'गण्डूष' शब्द स्त्रीलिङ्ग में परिगणित होते हुए भी प्रायः पुंल्लिङ्ग में ही प्रयुक्त होता है । अध्याहार का उदाहरण, यथा—

'मा भवन्त''' ... ... '''सह वृक्ष' ॥

यहाँ 'अधाक्षीत्' आदि पद का अध्याहार हुआ है । यह अध्याहार भी अतिप्रयोग से ही आता है ॥ १४ ॥

लिङ्गाध्याहाराविति । अतिप्रयुक्तमित्यनुवर्तते । न स्त्रियामिति । 'शुण्डाग्रभागे गण्डूषा द्वयोस्तुमुखपूरणे' इति स्त्रीत्वेऽप्याम्नातः स्त्रियां न प्रयुज्यते । माभवन्तमिति । अवाक्षीदित्यत्रादिपदेन 'भाङ्क्षीत, छैत्सीत्, भैत्सीत्, इत्येषामध्याहारो न दुष्यति । अतिप्रयुक्तत्वेन बुद्ध्यारूढत्वादित्यर्थ ।। १४ ।।

लक्षणाशब्दाश्च ॥ १५ ॥

लक्षणाशब्दाश्चातिप्रयुक्ताः प्रयोज्याः । यथा, द्विरेफरोदरशब्दौ भ्रमरचक्रवाकार्थौ लक्षणापरौ । अनतिप्रयुक्ताश्च न प्रयोज्याः । यथा— द्विकः काक इति ॥ १५ ॥

हिन्दी—ऐसे लक्षणा शब्दों का प्रयोग, जिनका प्रयोगप्राचुर्य हो, गर्हित नहीं माना जाता है । यथा—'द्विरेफ' 'रोदर' । ये शब्द भ्रमर और चक्रवाक के लिए स्वीकृत हैं । परन्तु अनतिप्रयुक्त लक्षणाशब्द प्रयोगवर्जित होते हैं । यथा—द्विक (दो ककारवाला) काक के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है ।। १५ ।।

लक्षणाशब्दाश्चेति । द्वौ रेफौ यस्यति द्विरेफः । र उदरे यस्येति रोदरः । द्विरेफरोदरशब्दौ मुख्यया वृत्त्या भृङ्गरथाङ्गनामवाचकयोर्भ्रमरचक्रवाकयोर्वर्तते । तेन तदर्थयो रेफसम्बन्धाभावादतो वाच्यवाचकयोरभेदोपचारेण तदर्थयोर्वर्तेते इति लक्षणाशब्दौ । 'चक्रवाको रोदरश्च कोकश्चकाभिधाह्वय' इति वैजयन्ती । यथा द्विरेफशब्दो भ्रमरे रोदरशब्दश्चक्रवाके, न तथा द्विक इति काके । अनतिप्रयुक्तत्वादिति । यदाहुः—'निरूढा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत् । क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः' इति ।। १५ ।।

न तद्बाहुल्यमेकत्र ॥ १६ ॥

तेषां लक्षणाशब्दानां बाहुल्यमेकस्मिन् वाक्ये न प्रयोज्यम् । शक्यते ह्येकस्यावाचकस्य वाचकवद्भावः कर्तुं, न बहूनामिति ॥१६॥

परन्तु अनेक लक्षणा-शब्दों का प्रयोग एक वाक्य में नहीं करना चाहिए । एक का वाचकवद्भाव किया जा सकता है किन्तु बहुतों का नहीं किया जा सकता ।। १६ ।।

न बहूनामिति । लक्षणापदबाहुल्ये क्लिष्टतादोषप्रसङ्गादिति भावः ।।१६।।

स्तनादीनां द्वित्वाविष्टा जातिः प्रायेण ॥ १७ ॥

स्तनादीनां द्वित्वाविष्टा द्वित्वाध्यासिता जातिः प्रायेण बाहुल्येने

ति । यथा—'स्तनयोस्तरुणीजनस्य' इति । प्रायेणेति वचनात् क्वचिन्न भवति । यथ—'स्त्रीणां चक्षुः' इति । अथ कथं द्वित्वाऽऽविष्टत्वं जातेः । तद्धि द्रव्ये, न जातौ । अतद्रूपत्वात् तस्याः । न दोषः । तदतद्रूपत्वाज्जातेः । कथं तदतद्रूपत्वं जातेः । तद्धि जैमिनीया जानन्ति । वयं तु लक्ष्यसिद्धौ सिद्धपरमतानुवादिनः । न चैवमतिप्रसङ्गः । लक्ष्यानुसारित्वान्न्यायस्येति । एवमन्यापि व्यवस्थोह्या ॥१७॥

इति श्रीकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ प्रायोगिके पञ्चमेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः । काव्यसमयः ॥ ५ ॥ १ ॥

हिन्दी—स्तन आदि पद द्वित्वविशिष्ट जाति के होते हैं। प्रायः स्तन, कर, चक्षु आदि युग्मावयवी शब्दों का प्रयोग द्विवचनान्त होता है। यथा—'स्तनयोस्तरणीजनस्य'।

कहीं-कहीं नहीं भी होती है। जैसे 'स्त्रीणां चक्षुः।' जाति में द्वित्वावेश का प्रश्न विवदास्पद है। द्वित्व द्रव्य में रहता है, जाति में नहीं। जाति और द्रव्य में पर्याप्त भिन्नता है। इसलिए जाति में द्वित्व की स्थिति सन्दिग्ध हो जाती है। गुण की स्थिति द्रव्य में होती है, जाति में नहीं। जाति के तदतद्रूप अर्थाद् जाति का व्यक्ति के साथ भेदाभेद होने के कारण द्वित्व जाति का धर्म हो सकता है। भेदाभेद में भी तो पारस्परिक विरोध है। फलतः जाति और व्यक्ति में भेदाभेद नहीं हो पाता। तो फिर जाति की तदतद्रूपता कैसी ? इसका समाधान मीमांसक कर सकते है; क्योंकि वे जाति, आकृति और व्यक्ति इन तीनों को सम्मिलित रूप से पदार्थ मानते हैं। यहाँ विवाद व्यर्थ है। यहाँ मीमांसकों के एतद्विषयक सिद्धान्तों को स्वीकार किया गया है। इसमें लक्ष्य के अनुसार युक्ति, प्रमाण या लक्षण के होने से अतिप्रसङ्ग की भी सम्भावना नहीं है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए ॥ १७ ॥

काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में प्रायोगिक नामक पञ्चम अधिकरण में प्रथम अध्याय समाप्त।

तरुणीजनस्येति। जनशब्दः समूहवचनः। ननु न जातेर्द्वित्वाऽऽविष्टत्वमुपपद्यते, संख्याया दव्यधर्मत्वेन जातिधर्मत्वाभावादिति शङ्कते। अथ कथ-

मिति। जातेर्द्रव्याभिन्नत्वान्नायं दोष इति। परिहरति न दोष इति। जातिव्यक्त्योरभेद एव कुत इति शङ्कते। कथं तदतद्रूपत्वमिति। जात्यपलापवादिनो जैमिनीयाः प्रष्टव्या इत्याह। जैमिनीया इति। अपसिद्धान्तशङ्कामवधीरयति। वयं त्विति। न वयं जातिमपलप्यान्यापोहवादं समर्थयामहे, किन्तु सिद्धं परमतमनूद्य प्रयोगं प्रतिष्ठापयामः। एवं तर्हि यस्य कस्यचिन्मतमवलम्ब्य यत्किञ्चिदपि समर्थयितुं शक्यत इत्यतिप्रसङ्गमाशङ्क्य परिहरति—न चैवमिति। यथा पाणिनीये क्वचिज्जातिः क्वचिद् व्यक्तिरिति पक्षद्वयमवलम्ब्य लक्ष्यनिर्वाहः क्रियते। प्रसिद्धे लक्ष्ये सति तदनुसारी न्यायोऽन्विष्यते। न तु न्यायोऽस्तीति लक्ष्यमन्वेषणीयम्। लक्ष्यानुसारित्वोन्न्यायस्येति। एवमन्या व्यवस्था प्रयोगमर्यादा स्वयं बुद्धिमद्भिरूहनीया ॥ १७ ॥

इति श्रीगोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालविरचितायां काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिव्याख्यायां काव्यालङ्कारकामधेनौ प्रायोगिके पञ्चमेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥

काव्यसमयः समाप्तः।
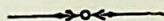
पञ्चमाऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः

छिन्ते मोहं चित्प्रकर्षं प्रयुङ्क्ते सूते सूक्ति सूयते या पुमर्थान् ।
प्रीतिं कीर्तिं प्राप्तुकामेन सैषा शाब्दी शुद्धिः शारदेवाऽस्तु सेव्या ॥ १ ॥

अथेदानीमध्यायान्तरं व्याचिख्यासुस्तत्प्रयोजनं प्रस्तौति—

साम्प्रतं शब्दशुद्धिरुच्यते—

रुद्रावित्येकशेषोऽन्वेष्यः ॥ १ ॥

रुद्रावित्यत्र प्रयोगे एकशेषोऽन्वेष्योऽन्वेषणीयः । रुद्रश्च रुद्राणी चेति 'पुमान् स्त्रिया' इत्येकशेषः । स च न प्राप्नोति । तत्र हि, 'तल्लक्षणश्चेदेव विशेष' इत्यनुवर्तते इति तत्रैवकारकरणात् स्त्रीपुंसकृत एव विशेषो भवतीति व्यवस्थितम् । अत्र तु 'पुंयोगादाख्यायाम्' इति विशेषान्तरमप्यस्तीति । एतेनेन्द्रौ भवौ शर्वावित्यादयः प्रयोगाः प्रत्युक्ताः ॥ १ ॥

हिन्दी—यहाँ शब्द-शुद्धि कही जाती है ।

'रुद्रौ' में एकशेष अन्वेषणीय है। ऐसे प्रयोग व्याकरणसम्मत भी नहीं हैं। 'रुद्रौ' में एकशेषविधायक सूत्र प्रवृत्त होता है या नहीं, यह ध्यातव्य है । रुद्र और रुद्राणी में, 'पुमान् स्त्रिया' की प्राप्ति नहीं होती है क्योंकि उस सूत्र में 'तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' की अनुवृत्ति होती है । उसमें 'एव' की स्थिति रहने से स्त्रीत्व-पुंस्त्व कृत भेद में ही एकशेष सम्भव है। यहाँ 'पुंयोगादाख्यायाम्' से अन्य विशिष्टता से अन्य विशिष्टता भी चली आती है। इसलिए 'रुद्रौ' का प्रयोग उचित नहीं है। इस प्रकार 'इन्द्र', 'भवौ', 'शर्वौ' आदि के प्रयोग भी वर्जित हैं ॥ १ ॥

सांप्रतमिति । तत्र तावदेकशेषविषयं किञ्चिद् बोधयितुं सूत्रमनुभाषते—रुद्राविति । पुमान् स्त्रियेत्येकशेषो विधीयते । तत्र, 'वृद्धो यूना' इतिसूत्रात् 'तल्लक्षणश्चेदेव विशेष' इत्यनुवर्तते । तदिति स्त्रीपुंसयोर्निर्देशः । लक्षणशब्दो निमित्तपर्यायः । चेच्छब्दो यद्यर्थे । एवकारोऽवधारणे । विशेषो वैरूप्यम् । स्त्रिया सह वचने पुमान् शिष्यते । स्त्रीपुंसलक्षण एव चेद्विशेषो भवति । स्त्रीपुंसकृतमेव यदि वैरूप्यं भवतीत्यर्थः । ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च ब्राह्मणाविति । तद्वदेव रुद्रश्च रुद्राणी च रुद्रावित्येकशेषः प्राप्नोतीति यः कश्चिदभिमन्यते, तत्प्रतिषेधाय प्रयोगाऽदर्शनं प्रत्याययति—अन्वेषणीय इति । न्यायतः प्राप्तौ

प्रयोगोऽप्युन्नीयतामिति तत्राह—स च न प्राप्नोतीति। अप्राप्तिमेव दर्शयितुमाह—तत्र हीति। अस्त्वेवं व्यवस्था, प्रकृते कोऽनुरोध इति तत्राह—अत्र त्विति। रुद्राणीत्यत्र 'पुंयोगादाख्यायाम्' इत्यनुवर्तमाने, इन्द्रवरुणेत्यादिना ङीष् विधीयते। पुंस आख्याभूतं यत्प्रातिपदिकं पुंयोगात् स्त्रियां वर्तते तस्माद् ङीष् प्रत्ययो भवतीति। अतस्तल्लक्षणविशेषव्यतिरेकेण विशेषान्तरस्यापि विद्यमानत्वान्नात्रैकशेषप्राप्तिरिति। एतत्समानयोगक्षेमाणि प्रयोगान्तराणि प्रत्याख्येयानीत्याह—एतेनेति॥ १॥

मिलिक्लविक्षपिप्रभृतीनां धातुत्वं, धातुगणस्याऽसमाप्तेः॥२॥

मिलति विक्लवति क्षपयतीत्यादयः प्रयोगाः। तत्र, मिलिक्लविक्षपिप्रभृतीनां कथं धातुत्वम्। गणपाठाद् गणपठितानामेव धातुसंज्ञाविधानात्। तत्राह धातुगणस्याऽसमाप्तेः। वर्धते धातुगण इति हि शब्दविद आचक्षते। तेनैषां गणपाठोऽनुमतः। शिष्टप्रयोगादिति॥ २॥

हिन्दी—धातुपाठ में परिगणित धातुओं के अतिरिक्त भी धातुओं के जैसे—मिलि, क्लवि, क्षपि आदि में भी धातुत्व है। 'मिलति', 'विक्लबति', 'क्षपयति' आदि प्रयोग मिलते हैं। इनके मूल मिलि, क्लबि, क्षपि आदि के धातु-पाठ में पठित न होने के कारण इनकी धातुसंज्ञा कैसे हो सकती है? ये धातु-गुणों में पठित नहीं हैं। वैयाकरणों के अनुसार धातु-गण की समाप्ति नहीं होती। ये बढ़ते ही रहते हैं। शिष्टों के द्वारा प्रयुक्त होने से इनका पाठ धातुगण में माना गया है॥ २॥

मिलिक्लबीति। 'भूवादयो धातवः' इति गणपठितानामेव धातुसंज्ञाविधानाद्धातुगणे मिलिप्रभृतीनामपाठात् कथं धातुत्वमित्याशङ्कापूर्वकं धातुत्वं समर्थयते—मिलति विक्लवति क्षपयतीति। धातुगणस्यापरिसमाप्तौ प्राचीनाचार्यवचनं प्रमाणयति—'वर्धते धातुगण' इति। प्रभृतिग्रहणाद्धीज्याऽऽन्दोलादयः॥ २॥

वलेरात्मनेपदमनित्यं, ज्ञापकात्॥ ३॥

वलेरनुदात्तेत्त्वादात्मनेपदं यत् तदनित्यं दृश्यते—'लज्जालोलं चलन्ती' इत्यादिप्रयोगेषु। तत् कथमित्याह—ज्ञापकात्॥ ३॥

हिन्दी—वलि धातु का आत्मनेपद ज्ञापक से अनित्य है। इस धातु के अनुदात्तेत्

होने से विहित आत्मनेपद 'लज्जालोलं वलन्ती' आदि प्रयोगों में अनित्य प्रतीत होता है ॥ ३ ॥

वलेरात्मनेपदमिति । 'अनुदात्तङित आत्मनेपदमि'ति वलेर्धातोरनुदात्तेत्त्वान्नित्यमात्मनेपदप्राप्तौ शिष्टप्रयोगेषु परस्मैपददर्शनात् तत्सिद्धये क्वचिदनुदात्तेत्त्वनिबन्धनस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वं ज्ञापकेन समर्थयितुमाह—वलेरनुदात्तेत्त्वादिति ॥ ३ ॥

किं पुनस्तज्ज्ञापकमत आह—

चक्षिङो द्व्यनुबन्धकरणम् ॥ ४ ॥

चक्षिङ इकारेणैवानुदात्तेन सिद्धमात्मनेपदं, किमर्थं ङित्करणम् । यत् क्रियते, अनुदात्तनिमित्तस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वज्ञापनार्थम् । एतेन, वेदभर्त्सितर्जिप्रभृतयो व्याख्याताः । आवेदयति, भर्त्सयति, तर्जयतीत्यादीनां प्रयोगाणां दर्शनात् । अन्यत्राप्यनुदात्तनिबन्धनस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वं ज्ञापकेन द्रष्टव्यमिति ॥ ४ ॥

हिन्दी—इसका ज्ञापक क्या है ? चक्षिङ् धातु के 'इकार' और 'ङकार' दो अनुबन्धों का होना ही इसका ज्ञापक है । चक्षिङ् के अनुदात्तेत् से ही आत्मनेपद सिद्ध था, फिर यह ङित् क्यों ? इससे अनुदात्तेत् प्रयुक्त आत्मनेपद का अनित्यत्व-ज्ञापन होता है । इसलिए वेदि भर्त्सि. तर्जि आदि की भी शङ्का समाहित हो जाती है । फलतः आवेदयति, भर्त्सयति, तर्जयति आदि प्रयोग होते हैं । अन्यत्र भी अनुदात्तमूलक आत्मनेपद को अनित्य समझना चाहिए ॥ ४ ॥

अनुदात्तेत्त्वनिबन्धनस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वे चक्षिङो ङित्करणं ज्ञापकमित्याह—चक्षिङो द्व्यनुबन्धकरणमिति । इकारेणैवेति । नन्वेवं 'गोः पादान्त' इत्यतोऽन्तग्रहणानुवृत्तेरन्तेदित्त्वे सति 'इदितो नुम् धातोः' इति नुम् स्यात् तर्हि, चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि इत्यकारान्तः पठ्येतेति भावः । उक्तमात्मनेपदस्यानित्यत्वं वेदिभर्त्सिप्रभृतिष्वपि द्रष्टव्यमित्याह—एतेनेति । 'आगर्वादात्मनेपदिन' इत्यात्मनेपदित्वेनानुदात्तेत्त्वं वक्ष्यत इति भावः । अन्यथानुदात्तेत्त्वनिबन्धनस्यात्मनेपदस्यानित्यताज्ञापने किमायातम् ? न चैवमतिप्रसङ्गः । शिष्टप्रयोगविषयत्वाज्ज्ञापकस्य ॥ ४ ॥

क्षीयत इति कर्मकर्तरि ॥ ५ ॥

क्षीयती इति प्रयोगो दृश्यते, स कर्मकर्तरि द्रष्टव्यः। क्षीयतेरनात्मनेपदित्वात् ॥ ५ ॥

हिन्दी—क्षीयते, यह प्रयोग कर्मकर्तृ में है क्योंकि 'क्षि' परस्मैपदी धातु है ॥ ५ ॥

क्षीयत इति। क्षिणोतेः सौवादिमस्य श्नुप्रत्ययान्तत्वेन प्रसिद्धावपि क्षीयत इति कर्तरि प्रयोगो दृश्यते, तस्योपपत्तिमाह—स कर्मकर्तरि, द्रष्टव्य इति। क्षिणोतेः कर्मस्थभावकत्वात् कर्मवद्भावः ॥ ७ ॥

खिद्यत इति च ॥ ६ ॥

खिद्यत इति च प्रयोगो दृश्यते, सोऽ कर्मकर्तर्येव द्रष्टव्या, न कर्तरि। अदैवादिकत्वात् खिदेः ॥ ६ ॥

हिन्दी—'खिद्यते' प्रयोग भी कर्मकर्तृ में ही है। यह कर्त्ता में प्रयुक्त नहीं होता, क्योंकि 'खिद्' दिवादिगणीय धातुओं में पठित नहीं है ॥ ६ ॥

खिद्यत इति चेति। चकारेण कर्मकर्तरीति समुच्चिनोति—खिन्ने-खिन्ने इति खिदोऽकर्मत्वादन्तर्भावितण्यर्थत्वे प्रयोज्यकर्मस्थभावकत्वात् कर्मवद्भावः। खिदेरनुदात्तेतः श्यनि कृते भिद्यत इति रूपं सिद्ध्यतीति शङ्कां परिहरति—अदैवादिकत्वादिति ॥ ६ ॥

मार्गेरात्मनेपदमलक्ष्म ॥ ७ ॥

चुरादौ 'मार्ग अन्वेषणे' इति पठ्यते। 'आधृषाद्वा' इति विकल्पितणिच्कस्तस्पाद्यदात्मनेपदं दृश्यते—मार्गन्तां देहभारमिति, तदलक्ष्म अलक्षणम्। परस्मैपदित्वान्मार्गेः। तथा च शिष्टप्रयोगः—'करकिसलयं धूत्वा धूत्वा विमार्गति वाससी' ॥ ७ ॥

हिन्दी—मार्ग धातु का आत्मनेपदीय प्रयोग अशुद्ध है। चुरादि गण में 'मार्ग अन्वेषणे' का पाठ है। 'आ धृषाद् वा' उस नियम से उससे (चुरादि में प्राप्त) णिच् विकल्प से आ जाता है। मार्ग धातु से बना आत्मनेपद 'मार्गन्तां देहभारम्' अशुद्ध है। अत एव 'मार्ग' का शिष्ट प्रयोग परस्मैपद में करना उचित है।

'करकिसलयं धूत्वा धूत्वा विमार्गति वाससी' यहाँ विमार्गति' शिष्ट प्रयोग है ॥७॥

मार्गेरिति। चौरदिकस्य मार्गेः, आधृषाद्वा' इति णिचो वैकपिल्पकत्वेन तदभावे सति परस्मैपदित्वान्मार्गतीति शिष्टप्रयोगदर्शनाच्च परस्मैपदे प्रयोक्त-

व्ये, यत्तु प्रयोगे कुत्रचिदात्मनेपदं दृश्यते, मार्गन्तामिति। तल्लक्षणहीनमित्याह—चुरादाविति। द्वयोरपि प्रयोगयोर्दर्शने कथमत्र व्यवस्थेति तत्राह—शिष्टप्रयोग इति ॥ ७ ॥

लोलमानादयश्चानशि ॥ ८ ॥

लोलमानो वेल्लमान इत्यादयश्चानशि द्रष्टव्याः। शानचस्त्वऽभावः। परस्मैपदित्वाद्धातूनामिति ॥ ८ ॥

हिन्दी—यहाँ लोलमान एवं वेल्लमान शब्दों का प्रयोग चानश् में समझना चाहिए। शानच परस्मैपदी धातु में नहीं प्रयुक्त होता है ॥ ८ ॥

लोलमानादय इति। 'लोलमाननवमौक्तिकहारं वेल्लमानचिकुरश्लथमाल्यम्। स्विन्नवक्त्रमविकस्वरनेत्रं कौशलं विजयते कलकण्ठ्याः।' इत्यादिषु लोलमानादयः प्रयोगा दृश्यन्ते। परस्मैपदित्वादेतेषां शानजन्तत्वं विरुद्धम्। आत्मनेपदित्वाच्छानच् इत्याशङ्काया प्रकारान्तरेण साधुत्वं समर्थयते—लोलमानो वेल्लमान इति। 'ताच्छील्यवयोवचदशक्तिषु चानशि' ति ताच्छील्यादिष्वथषु धात्वाधिकारे चानशो विधानादेते प्रयोगाश्चानशि द्रष्टव्याः, न तु शानचि। अतो न विरोधः ॥ ८ ॥

लभेर्गत्यर्थत्वाण्णिचयणौ कर्तुः कर्मत्वाकर्मत्वे ॥ ९ ॥

अस्त्ययं लभिर्यः प्राप्त्युपसर्जनां गतिमाह—अस्ति च गत्युपसर्जनां प्राप्तिमाहेति। अत्र पूर्वस्मिन् पक्षे गत्यर्थत्वाल्लभेर्णिच्यऽणौ यः कर्ता तस्य गत्यादिसूत्रेण कर्मसंज्ञा। यथा—दीर्घिकासु कुमुदानि विकासं लम्भयन्ति शिशिराः शशिभासः। द्वितीयपक्षे गत्यर्थत्वाभावाल्लभेर्णिच्यणौ कर्तुर्न कर्मसंज्ञा। यथा—

सितं सितिम्ना सुतरां मुनेर्वपुर्विसारिभिः सौधमिवाथ लम्भयन्।
द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः शुचिस्मितां वाचमवोचदच्युतः ॥ ९ ॥

हिन्दी—गत्यर्थक लभ् धातु के णिजन्त में अण्यन्त अवस्था के कर्त्ता का कर्मत्व और अकर्मत्व होता है। लभ् धातु में प्राप्ति गुणीभूत होकर गति बन जाती है और गति का गौणत्व प्राप्ति को व्यक्त करता है। प्रथम पक्ष में प्राप्ति गौण है इसलिए गत्यर्थक लभ् धातु की अण्यन्त अवस्था में कर्त्ता की 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्त्ता स णौ' सूत्र से कर्मसंज्ञा हो जाती है। यथा—

'दीर्घिकासु············शशिभासः'

यहाँ अण्यन्त अवस्था में 'कुमुदानि' कर्त्ता है। 'शशिभासः' कुमुद को विकास प्राप्त करवाती है। इस णिजन्त में प्रयोजक कर्त्ता चन्द्रकिरण है और अण्यन्त कर्त्ता कुमुद का कर्म विधान हो गया है।

प्राप्तिमूलक दूसरे पक्ष में लभ् धातु के अगत्यर्थक प्रयोग में अण्यन्य कर्त्ता की कर्मसंज्ञा नहीं होती। यथा—

'सितं······वाचमवोचदच्युतः ॥'

यहाँ लभ् धातु की अगत्यर्थकता के कारण ही 'गतिबुद्धि' इत्यादि सूत्र से अण्यन्त कर्त्ता 'सितिमा' की कर्मसंज्ञा न हो पाई है। अतः 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' की प्राप्ति से 'सितिम्ना लम्भयम्' प्रयोग सिद्ध हुआ है ॥ ९ ॥

लभेरिति। यद्यपि, डुलभष् प्राप्तौ इति प्राप्तिरेव लभेरर्थः। तथापि प्राप्तिर्गतिपूर्वकत्वात् प्राप्तिगत्योः कार्यकारणयोरभेदोपचारेण प्राप्त्युपसर्जन-गत्यर्थत्वमपि लभेरङ्गीकृत्य प्रथमं तावत् पक्षद्वयं प्रस्तौति—अस्त्वयमिति। यः प्राप्त्युपसर्जनां गतिमाह सोऽयं लभिरस्ति। यश्च गत्युपसर्जनां प्राप्तिमाहाऽयमपि लभिरस्ति। योजनाविवक्षावशाद् लभिरयं कदाचित् प्राधान्येन गतिमाह कदाचित् प्राप्तिमित्यर्थः। तत्र प्रथमे पक्षे निर्विदामणिकर्तुर्णिचि कर्मत्वमित्याह—अत्र पूर्वस्मिन्निति। द्वितीये तु गत्यर्थत्वाभावान्नास्त्यणि कर्त्तुः कर्मसंज्ञेत्याह—द्वितीयपक्ष इति। ततश्च सितिम्नेत्यत्र कर्तृकरणयोस्तृतीया इति प्रयोज्ये कर्तरि तृतीया ॥ ९ ॥

ते मे शब्दौ निपातेषु ॥ १० ॥

त्वया मयेत्यस्मिन्नर्थे ते मे शब्दौ निपातेषु द्रष्टव्यौ। यथा श्रुतं— ते वचनं तस्य। वेदानधीत इति नाधिगतं पुरा मे ॥ १० ॥

हिन्दी—त्वया एवं मया के अर्थ में क्रमशः 'ते' तथा 'मे' निपात हैं। यथा— 'श्रुतं ते वचनं तस्य' यहाँ 'ते' त्वया, और 'वेदानधीत इति नाधिगतं पुरा मे' मया अर्थ में हैं ॥ १० ॥

ते मे इत्यादि। अत्र 'ते मयावेकवचनस्ये'ति, युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोस्ते-मयावाऽऽदिष्टौ इति विभक्त्यन्तरस्थयोस्तयोरादेशाप्राप्तौ निपातेषु पाठात् तत्रापि प्रयोगसिद्धिरित्याह—ते मे शब्दाविति ॥ १० ॥

तिरस्कृत इति परिभूतेऽन्तर्ध्युपचारात् ॥ ११ ॥

तिरस्कृत इति शब्दः परिभूते दृश्यते। राज्ञा तिरस्कृतः—इति।

स च न प्राप्नोति। तिरःशब्दस्य हि, 'तिरोऽन्तर्धौ इत्यन्तर्धौ' गति-संज्ञा। तस्यां च सत्यां, 'तिरसोऽन्यतरस्याम्' इति सकारः। तत् कथं तिरस्कृत इति परिभूते, आह—अन्तर्ध्युपचारादिति। परिभूतो ह्यन्तर्हितवद्भवति। मुख्यस्तु प्रयोगो यथा, लावण्यप्रसरतिरस्कृताङ्ग-लेखाम्॥ ११॥

हिन्दी—अन्तर्धान के सादृश्य से तिरस्कृत शब्द का प्रयोग परिभूत (अपमानित) के अर्थ में होता है। तिरस्कृत का अर्थ होता है अपमानित। जैसे 'राजा तिरस्कृतः' इस अर्थ में 'तिरस्कृत' की प्रयुक्ति व्याकरणसम्मत नहीं है। तिरोऽन्तर्धौ' से 'तिरः' को अन्तर्धान के अर्थ में गतिसंज्ञा की प्राप्ति हो जाती है और 'तिरसोऽन्यतरस्याम्' से विसर्ग के सकार हो जाने से 'तिरस्कृत' शब्द निष्पन्न होता है। तब इसका 'उपमान' के अर्थ में प्रयोग कैसे होगा? इस प्रश्न का समाधान है कि तिरस्कार में अन्तर्धान का सादृश्य वर्तमान रहता है। इसलिए उपचार से यह प्रयोग सम्भव है। अपमानित व्यक्ति अन्तर्हित के सदृश होता है। 'तिरस्कृत' का मुख्य प्रयोग तो 'लावण्यप्रसरतिरस्कृताङ्गलेखाम्' में हुआ है॥ ११॥

तिरस्कृत इति। तिरस्कृतशब्दस्य परिभूतार्थे प्रयोगं दर्शयँस्तस्यानुपपत्ति-मुद्घाटयति—तिरस्कृतशब्द इत्यादिना। समाधत्ते—अन्तर्ध्युपचारादिति। मुख्यपूर्वकत्वाद् गौणस्य मुख्यं दर्शयति—मुख्यस्त्विति॥ ११॥

नैकशब्दः सुप्सुपेति समासात्॥ १२॥

'अरण्यानीस्थानं फलनमितनैकद्रुममिदम्' इत्यादिषु नैकशब्दो दृश्यते स च न सिद्ध्यति। नञ्समासे हि 'नलोपो नञः' इति नलोपे, 'तस्मान्नुडचि' इति नुडागमे सत्यनेकमिति रूपं स्यात्। निरनुबन्धस्य नशब्दस्य समासे लक्षणं नास्ति। तत् कथं नैकशब्द इत्याह—सुप्सु-पेति समासात्॥ १२॥

हिन्दी—'नैक' शब्द के प्रयोग की सिद्धि 'सुप सुपा' समास से होती है। 'अरण्यानीस्थानं फलनमितनैकद्रुममिदम्' इत्यादि में नैक-शब्द का प्रयोग दीख पड़ता है। परन्तु नञ् समास होने पर 'नलोपो नञः' सूत्र से 'न' का लोप हो जाएगा और 'तस्मान्नुडचि' से 'नुट' का आगम होगा। इससे 'अनेकम्' पद बनेगा। अनुबन्धहीन नशब्द का समास विधायक सूत्र भी नहीं मिलता। तो फिर 'नैकम्' कैसे सिद्ध हुआ? समाधान में यह कहा जाना उचित है कि 'सुप् सुपा' समास के होने से 'नैकम्' प्रयोग सम्भव है॥ १२॥

नञ्समासे हीति । 'नलोपो नञ' इति नकारलोपे सति, 'तस्मान्नुडचि' इति नुडागमे च कृते, अनेकमिति रूपं स्यान्न तु नैकमिति । ननु न सिद्ध्यति चेन्माऽस्तु नञ्समासः, प्रकारान्तरेण किं न स्यादित्यत आह—निरनुबन्धस्येति । सुप्सुपेति । 'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे' इत्यतः सुबित्यनुवृत्तौ, 'सह सुपा' इति योगविभागात् सुबन्तं पदं सुबन्तेन सह समस्यत इति समासे नैकशब्दः सिद्धो भवतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

मधुपिपासुप्रभृतीनां समासो गमिगाम्यादिषु पाठात् ॥१३॥

'मधुपिपासुमधुव्रतसेवितं मुकुलजालमजृम्भत वीरुधाम्' इत्यादिषु मधुपिपासुप्रभृतीनां समासो गमिगाम्यादिषु पिपासुभृतीनां पाठात् । श्रितादिषु गमिगाम्यादीनां द्वितीयासमासलक्षणं दर्शयति ॥ १३ ॥

हिन्दी—मधुपिपासु आदि का सकास गमिगाम्यादिको में पाठ होने से सम्भव है। मधुपिपासु······वीरुधाम्, इस प्रयोग में मधुपिपासु आदि का समास गमिगाम्यादिकों में 'पिपासु' के पठित होने से हुआ है। 'श्रितादि' में गमिगाम्यादिकों के समास का विधान है ॥ १३ ॥

मधुपिपासुप्रभृतीनामिति । श्रितादिष्वग्रहणान्नात्र द्वितीयासमासः सम्भवति । नाऽपि कृदन्तेन सह षष्ठीसमासः । न लोकेत्यादिसूत्रे उप्रत्ययान्तेन योगे षष्ठीनिषेधात् कथमत्र समास इति चिन्तायां समासस्य गतिमाह—गमिगाम्यादिष्विति ॥ १३ ॥

त्रिवलीशब्दः सिद्धः संज्ञा चेत् ॥ १४ ॥

त्रिवलीशब्दः सिद्धो यदि संज्ञा । 'दिक्सङ्ख्ये संज्ञायाम्' इति संज्ञायामेव समासविधानात् ॥ १४ ॥

हिन्दी—संज्ञावाचक होने से त्रिवली शब्द सिद्ध माना गया है। 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' से संज्ञा में ही समास का विधान किया गया है ॥ १४ ॥

त्रिवलीशब्द इति ।

कोणस्त्रिवल्येव कुचावलाबूस्तस्यास्तु दण्डस्तनुरोमराजिः ।
हारोऽपि तन्त्रीरिति मन्मथस्य सङ्गीतविद्यासरलस्य वीणा ॥

किमियं संज्ञा ? असंज्ञा वा ? असंज्ञापक्षे त्रिवलीशब्दस्य 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इति समासो वक्तव्यः । तत्तु न संघटते । तथाहि न तावत् 'पञ्चकपाल' इत्यादिवत् तद्धितार्थो विषयोऽस्ति । नाऽपि, 'पञ्चगवधन' इत्या-

दिवदुत्तरपदं परम्। नचापि पञ्चपात्रमित्यादिवत् समाहारः। समाहारे हि तस्यैकत्वादेकवद्भावे सति, 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वं स्यात्। तदत्रासंज्ञा पक्षो नेष्ट इत्याभिसंधाय संज्ञापक्षमाश्रित्य समासमाह—त्रिवलीशब्दः सिद्धो यदि संज्ञेति। यदि त्रिवलीशब्दः संज्ञा भवति। तदा त्र्यवयवा वली त्रिवलीति विग्रहे, दिक्संख्ये संज्ञायामिति समासः सिद्धयति॥ १४॥

बिम्बाऽधर इति वृत्ता मध्यमपदलोपिन्याम्॥ १५॥

'बिम्बाधरः पीयते' इति प्रयोगो दृश्यते। स च न युक्तः। अधरबिम्ब इति भवितव्यम्। 'उपमितं व्याघ्रादिभिरि'ति समासे सति तत् कथ बिम्बाधर इत्याह—वृत्तौ मध्यमपदलोपिन्याम्। शाकपार्थिवादित्वात् समासे। मध्यमपदलोपिनि समासे सति बिम्बाकारोऽधरो बिम्बाधर इति। तेन बिम्बोष्ठशब्दोऽपि व्याख्यातः। अत्रापि पूर्ववत् वृत्तिः। शिष्टप्रयोगेषु चैष विधिः। तेन नाऽतिप्रसङ्गः॥ १५॥

हिन्दी—मध्यमपदलोपी समास होने पर 'बिम्बाधर' पद की सिद्धि सम्भव है।

'बिम्बाधरः पीयते' ऐसा प्रयोग मिलता है। 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इस सूत्र से समास होने पर यहाँ 'अधरबिम्ब' होना चाहिए। 'बिम्बाधरः' कैसे? इस शंका का समाधान इस प्रकार है—'बिम्बाकारोऽधरः बिम्बाधरः' इस प्रकार मध्यमपदलोपी समास होने से 'शाकपार्थिवत्वात्' से इसकी सिद्धि हो सकती है। इसी तरह 'बिम्बोष्ठ' आदि शिष्टपद भी सिद्ध हो सकता है। यहाँ भी समासवृत्ति पूर्ववत् ही है॥ १५॥

बिम्बाधर इति। अत्र समासवृत्तिं संवेदयितुमभियुक्तप्रयोगं तावद् दर्शयति—'बिम्बाधरः पीयत' इति। प्रामाणिकप्रयोगदर्शनादयमसाधुरिति वक्तुमयुक्तमित्याशङ्क्याह—स च न युक्त इति। लक्षणानुगुणं प्रयोगं दर्शयन्नस्या अयुक्तत्वं दर्शयति। अधरबिम्ब इति। समाधत्ते—वृत्तौ मध्यमपदलोपिन्यामिति। उक्तामुपपत्तिमन्यत्राप्यनुगमयति—तेनेति। ननु तर्हि व्याघ्राकारः पुरुषो व्याघ्रपुरुष इत्यपि स्यादित्यतिप्रसङ्गं परिहरति। शिष्टप्रयोगेषु चैष विधिरिति॥ १५॥

आमूललोलादिषु वृत्तिर्विस्पष्टपटुवत्॥ १६॥

आमूललोलमामूलसरसमित्यादिषु वृत्तिर्विस्पष्टपटुवन्मयूरव्यंसकादित्वात्॥ १६॥

हिन्दी—'आमूललोल' इत्यादि में 'विस्पष्टपटु' के समान अविहितलक्षण तत्पुरुष समास होता है। 'आमूलसरसम्' आदि की भी सिद्धि मयूरव्यंसकादित्वात् से होती है ॥ १६ ॥

आमूललोलादिष्विति । आमूलं लोलमिति विग्रहः । अत्र तत्पुरुषाधिकारे लक्षणाऽदर्शनात् समासान्तरस्य चाप्रसक्तेः कथमामूललोलादिप्रयोगः सिद्धयतीति चिन्तायामविहितलक्षणस्तत्पुरुषो मयूव्यंसकादिषु द्रष्टव्य इति वचनाद् विस्पष्टपटुशब्दवत् समाससिद्धिरित्याह–आमूललोलमामूलसरसमिति ॥१६॥

न धान्यषष्ठादिषु षष्ठीसमासप्रतिषेधः पूरणेनान्यतद्धितान्तत्वात् ॥ १७ ॥

धान्यषष्ठम्, 'तान्युञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि' इत्यादिषु न षष्ठीसमासप्रतिषेधः। पूरणेन पूरणप्रत्ययान्तेनान्यतद्धितान्तत्वात् । षष्ठो भागः षष्ठ इति, पूरणाद्भागे तीयादन्, षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च' इत्यन्विधानात् स प्राप्तः ॥ १७ ॥

हिन्दी—'धान्यषष्ठ' इत्यादि में 'पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन' से षष्ठीसमास का प्रतिषेध नहीं होता, क्योकि यहाँ पूरण से अन्य तद्धितान्त प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। 'धान्यषष्ठम्' 'तान्युञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि' आदि प्रयोग में षष्ठीसमास का निषेध नहीं किया जा सकता। यहाँ पूरण प्रत्ययान्त से अन्य तद्धितान्त का प्रयोग हुआ है। 'षष्ठो भागः षष्ठः' इस विग्रह में 'पूरणाद् भागे तीयादन्' 'षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च' से 'अन्' का विधान होता है। अतः षष्ठीतत्पुरुष समास की प्राप्ति होती है ॥१७॥

न धान्यषष्ठादिष्विति । धान्यानां षष्ठमुञ्छानां षष्ठमित्यत्र, पूरणगुणसुहितार्थेति सूत्रेण पूरणप्रत्ययान्तेन समासनिषेधः क्रियते । स च न भवतीत्याह । धान्यषष्ठमिति । तत्र हेतुमाह । तद्धितेति । षष्ठशब्दस्य तद्धितान्तत्वादित्यर्थः । पुनरत्र पूरणप्रत्ययव्यतिरेकेण तद्धित इत्याकाङ्क्षायां तद्धितं दर्शयति । षष्ठो भाग इति । पूरणाद्भागे तीयादन् इत्यनुवृत्तौ, 'षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च' इत्यन् विधानादन्यतद्धितान्तत्वमित्यर्थः ॥ १७ ॥

पत्रपीतिमादिषु गुणवचनेन ॥ १८ ॥

पत्रपीतिमा, पक्ष्मालीपिङ्गलिमा इत्यादिषु षष्ठीसमासप्रतिषेधो गुणवचनेन प्राप्तो, बालिश्यात्तु न कृतः ॥ १८ ॥

हिन्दी—'पत्रपीतिमा' आदि प्रयोग में गुणवचन होने से 'पूरणगुण' आदि सूत्र के अनुसार षष्ठीसमास का प्रतिषेध होना चाहिए। वह मूर्खता से नहीं किया गया है। अतः यह प्रयोग दूषित है। पक्ष्मालीपिङ्गलिमा' आदि में भी यही बात है। इन दोनों प्रयोगों में प्रयोक्ता ने अज्ञानवश ऐसा किया है। यह प्रयोग दूषित है ॥ १८ ॥

पत्रपीतिमादिष्विति। अत्र पूरणगुणेत्यादिसूत्रेण गुणवाचिना षष्ठी समास-प्रतिषेधः प्राप्तः स तु मौढ्यान्न कृतः : अतः पत्रपीतिमादया न युक्ता इत्याह। पत्रपीतिमा, पक्ष्मालीपिङ्गलिमेति वर्त्तमानसामीप्ये इति ज्ञापकात् पत्रपीति-मादयः सिद्ध्यन्तीति केचित्। येषान्तु मतं गुणः सम्बन्धत्वाद् गुणिनमा-क्षिपति तेन गुणेन गुणिनः षष्ठीसमासनिषेधः। न च वर्तमानः सामीप्ये गुणी। भूतभविष्यतोरेव तद्गुणित्वादिति। तेषां मते 'उत्तरपदार्थप्राधान्ये' इति ज्ञापकादनित्यः षष्ठीसमासप्रतिषेध इति केचित् ॥ १८ ॥

अवर्ज्यो न व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदः ॥ १९ ॥

अवर्ज्यो न वर्जनीयो व्यधिकरणो बहुव्रीहिः। जन्माद्युत्तरपदं यस्य स जन्माद्युत्तरपदः। यथा—सच्छास्त्रजन्मा हि विवेकलाभः, कान्तवृत्तयः प्राणा इति ॥ १९ ॥

हिन्दी—जन्मादि उत्तरपद से युक्त बहुव्रीहि वर्जनीय नहीं है।

व्यधिकरण बहुव्रीहि का प्रयोग निषिद्ध नहीं माना जाता। जन्मादि उत्तरपद रहने पर व्याधिकरण बहुव्रीहि होता है। जैसे—

'सच्छास्त्रजन्मा हि विवेकलाभः' में 'सच्छास्त्रात् जन्म यस्य' इसमें स्पष्टतः व्यधि-करण बहुव्रीहि है।

'कान्तवृत्तयः प्राणाः' में 'कान्ते प्रिये वृत्तिर्येषां ते कान्तवृत्तयः' में भी व्यधिकरण बहुव्रीहि समास होता है ॥ १९ ॥

अवर्ज्य इति। बहुव्रीहिः समानाधिकरणानामिति वक्तव्यमिति वचनाद् व्यधिकरणस्य बहुव्रीहेरसिद्धौ क्वचिद्विषये तत्प्रसिद्धिमाह—अवर्ज्य इति। सच्छास्त्राज्जन्म यस्य स सच्छास्त्रजन्मा, कान्ते प्रिये वृत्तिर्येषां ते कान्तवृत्तय इति व्याधिकरणत्वम्। तत्र गमकत्वं तत्रेदं वेदितव्यम् ॥ १९ ॥

हस्ताग्राग्रहस्तादयो गुणगुणिनोर्भेदाभेदात् ॥ २० ॥

हस्ताग्रम् अग्रहस्तः, पुष्पाग्रमग्रपुष्पमित्यादयः प्रयोगाः कथम्? आहिताग्न्यादिष्वपाठात्। पाठे वा तदनियमः स्यात्। आह—

गुणगुणिनोर्भेदाभेदात्। तत्र भेदाद्, हस्ताग्रादयः। अभेदादग्रहस्तादयः ॥ २० ॥

हिन्दी—'हस्ताग्रम्' तथा 'अग्रहस्तः' आदि प्रयोग गुण-गुणी के भेद तथा अभेद से बनते हैं।

प्रश्न है कि 'हस्ताग्रम्', अग्रहस्तः', 'पुष्पाग्रम्', 'अग्रपुष्पम्' आदि प्रयोग कैसे सिद्ध होते हैं? 'आहिताग्नि' गण में इनका पाठ नहीं मिलता है। यदि आकृतिगण मानकर पाठ हो जाय तो अनियम हो जायगा। प्रकरण बहुव्रीहि का है और 'हस्ताग्रम्' आदि षष्ठी तत्पुरुष समास में ही बनते हैं। अतः 'आहिताग्नि' आदि में पठित होने पर भी बहुव्रीहि विधायक नियमों की प्रवृत्ति यहाँ नहीं हो सकती।

इसके समाधान में यह कहा गया है कि गुण एवं गुणी के भेद तथा अभेद से ये दो प्रकार के पद बनते हैं। जहाँ भेद हैं वहाँ 'हस्ताग्रम्' आदि सम्भव है और जहाँ अभेद है वहाँ 'अग्रहस्तः' आदि बनते हैं॥ २० ॥

हस्ताग्रेति। अत्र गुणशब्देन परार्थत्वसादृश्यादवयवो लक्ष्यते। तथाच गुणगुणिनाविहावयवावयविनौ। तयोर्भेदविवक्षायां हस्ताऽग्रादयः। तदा षष्ठीसमासः। अभेदविवक्षायां त्वग्रहस्तादयः। तदाऽभेदोपचारेऽपि प्रवृत्तिनिवृत्तिभेदाद्विशेषणसमासः॥ २० ॥

पूर्वनिपातेऽपभ्रंशो लक्ष्यः ॥ २१ ॥

काष्ठतृणं तृणकाष्ठमिति यदृच्छया पूर्वनिपातं कुर्वन्ति। तत्रापभ्रंशो लक्ष्यः परिहरणीयः। अनित्यत्वज्ञापनं तु न सर्वविषयमिति ॥२१॥

हिन्दी—पूर्ण निपात के सम्बन्ध में अपभ्रंश पर ध्यान रखना चाहिए। ऐसे देखा गया है कि कुछ लोग 'काष्ठतृणम्' या 'तृणकाष्ठम्' का प्रयोग करते हैं। उनमें अनुचित प्रयोग का परिहार अपेक्षित है। पूर्णनिपात की अनित्यता का ज्ञापन तो सभी विषयों में व्याप्त नहीं होता॥ २१ ॥

पूर्वनिपात इति। लघ्वक्षरं पूर्वं निपततीति वार्तिककारवचनेन द्वन्द्वे पूर्वनिपातविधानात्तृणकाष्ठमिति वक्तव्ये काष्ठतृणमिति क्वचित् केनचित् प्रयुक्तम्। तत्र पूर्वनिपातेऽपभ्रंशः शास्त्रमर्यादातिक्रमः। स लक्ष्यः परिहरणीयः। तथा न प्रयोक्तव्यमिति तात्पर्यम्। कुमारशीर्षयोरिति ज्ञापकात् पूर्वनिपातव्यत्यासो भविष्यतीति तत्राऽऽहुः। अनित्यत्वज्ञापनं त्विति। न सर्वेति। प्राप्तस्य चाबाधा इति वचनाच्छिष्टप्रयुक्तद्वन्द्वविषयमेवेति भावः॥ २१ ॥

निपातेनाप्यभिहिते कर्मणि न कर्मविभक्तिः परिगणनस्य प्रायिकत्वात् ॥ २२ ॥

अनभिहिते इत्यत्र सूत्रे तिङ्कृत्तद्धितसमासैरिति परिगणनं कृतम्। तस्य प्रायिकत्वान्निपातेनाप्यभिहिते कर्मणि न कर्मविभक्तिर्भवति। यथा—'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्, पण्डितं मूर्ख इति मन्यते' इति ॥ २२ ॥

हिन्दी — निपात से अभिहित कर्म में भी कर्मविभक्ति नहीं होती। 'अनभिहिते' सूत्र में 'तिङ्कृत्तद्धितसमासैः' का परिगणन किया है। उसके प्रायिक होने से निपात से अभिहित कर्म में कर्म विभक्ति नहीं होती। जैसे—

'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्' 'पण्डितं मूर्ख इति मन्यते'

यहाँ 'विषवृक्ष' और 'मूर्ख' में कर्म-विभक्ति नहीं हुई ॥ २२ ॥

निपातेनाऽपीति। ब्राह्मणं देवदत्त इति मन्यते इत्यादावनभिहित इत्यधिकारात् तिङ्कृत्तद्धितसमासैरनभिहिते कारके कर्मणि द्वितीयया भवितव्यमित्याशङ्कायामाह—निपातेनाऽपीति। तत्र हेतुमाह—परिगणनस्येति। भगवता वार्तिककारेण प्रायिकाभिप्रायेण तिङ्कृत्तद्धितसमासैरिति परिगणनं कृतम्। ततश्चैवंविधाः प्रयोगाः सिद्धा इति दर्शयति—विषवृक्ष इति। अत्र संवर्धनच्छेदनक्रिययोः सकर्मकत्वेन कर्माकाङ्क्षायां न कर्मविभक्तिर्भवति विधेया। अयुक्तत्वाभिधायिना असांप्रतमिति निपातेनाभिहितत्वात्। नन्वसाम्प्रतपदस्य तद्धितान्तत्वात् तेन वाभिहिते न भवत्येव कर्मविभक्तिरतो नेदमुदाहरणमिति न चोदनीयम्। 'युक्ते काले च सांप्रतम्' इत्यभिधानादतद्धितान्त एवायं निपातः। तद्धितान्तत्वे वा तस्यानन्यार्थत्वान्न तेनाभिधानमिति भावः। शब्दशक्तिस्वाभाव्यादस्याभिधायकत्वमिति द्रष्टव्यम्। मूर्ख इत्यसमुदायस्य कर्मत्वेऽपि, अर्थवत्समुदायानां समासग्रहणं नियमार्थमिति वाक्यान्न विभक्त्युत्पत्तिः ॥ २२ ॥

शक्यमिति रूपं विलिङ्गवचनस्यापि कर्माभिधायां सामान्योपक्रमात् ॥ २३ ॥

शकेः 'शकिसहोश्च' इति कर्मणि यति सति शक्यमिति रूपं भवति ॥

विलिङ्गवचनस्यापि विरुद्धलिङ्गवचनस्यापि, कर्माभिधायां कर्मवचने सामान्योपक्रमाद् विशेषानपेक्षायामिति । यथा—

शक्यमोषधिपतेर्नवोदयाः कर्णपूररचनाकृते तव ।
अप्रगल्भयवसूचिकोमलाश्छेत्तुमग्रनखसंपुटैः कराः ॥

अत्र भाष्यकृद्वचनं लिङ्गम् । यथा 'शक्यं च श्वमांसादिभिरपि क्षुत् प्रतिहन्तुम्' इति । न चैकान्तिकः सामान्योपक्रमः । तेन 'शक्या भङ्क्तुं झटिति बिसिनीकन्दवच्चन्द्रपादा' इत्यपि भवति ॥ २३ ॥

हिन्दी—विभिन्न लिङ्ग तथा वचन के कर्माभिधान में भी सामान्य उपक्रम के कारण 'शक्यम्' यह प्रयोग हो सकता है ।

शक्लृ धातु से 'शकिसहोश्च' इस सूत्र से कर्म में यत् प्रत्यय करने से 'शक्यम्' रूप होता है । विलिङ्गवचन अर्थात् विरुद्ध लिङ्ग एवं विरुद्ध वचन के कर्माभिधान में विशेष की अविवक्षा होने पर सामान्य का तात्पर्य लिङ्गसामान्य (नपुंसक लिङ्ग) एवं वचन सामान्य (एक वचन) है । उदाहरण, यथा—

'शक्य·········कराः' यहाँ औषधिपतेर्नवोदयाः कराः' 'छेतुं शक्यम्' में 'कराः' के साथ 'शक्यम्' का प्रयोग है ।

इस सम्बन्ध में भाष्यकार का वचन है—'शक्यञ्च श्वमांसादिभिरपि क्षुत् प्रतिहन्तुम्' यहाँ 'क्षुत्' (स्त्रीलिङ्ग) के साथ 'शक्यम्' (नपुंसक लिङ्ग) का प्रयोग का यह सामान्य अवलम्बन अनिवार्य नहीं है । इसका तात्पर्य है कि सामान्य का उपक्रम सर्वत्र मानकर 'शक्यम्' का प्रयोग एक वचन तथा नपुंसक लिङ्ग में ही अनिवार्य नहीं, किन्तु अन्य लिङ्ग तथा वचन में भी हो सकता है। यही कारण है कि निम्नलिखित पंक्ति में पुल्लिङ्ग बहुवचन के रूप में 'शक्याः' का प्रयोग भी हुआ है ॥ २३ ॥

'शक्यमञ्जलिभिः पातुं वाताः केतकगन्धिनः' इत्यादयः प्रयोगा दृश्यन्ते । शकेः कृत्यप्रत्यये शक्यमिति रूपम् । 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' इति कर्मार्थे विहितस्य तस्य कर्माभिधायां विशेष्यवल्लिङ्गवचनाभ्यां भवितव्यमिति प्राप्ते प्राह—शक्यमिति रूपं भवतीति । कर्माभिधायामपि शक्यमिति रूपं सिद्धम् । तत्र हेतुमाह—लिङ्गवचनस्यापीति । लिङ्गं च वचनं च लिङ्गवचनम् । तस्य सामान्योपक्रमाल्लिङ्गसामान्यं नपुंसकं, वचनसामान्यमेकत्वम् । तयोरुपक्रमाद्विशेषनैरपेक्ष्येण लिङ्गवचनसामान्यस्य विवक्षणादित्यर्थः । उदाहृत्य दर्शयति—यथेति । ऐकान्तिको नियतः ॥ २३ ॥

हानिवदाधिक्यमप्यङ्गानां विकारः ॥ २४ ॥

येनाङ्गविकार इत्यत्र सूत्रे यथाऽङ्गानां हानिस्तथाधिक्यमपि विकारः। यथा, अक्ष्णा काण इति भवति तथा, मुखेन त्रिलोचन इत्यपि भवति ॥ २४ ॥

अङ्गों की हानि के समान अङ्गाधिक्य भी विकार है। 'येनाङ्गविकारः' इस सूत्र में अङ्गों की हानि जिस प्रकार विकृति मानी गई है, उसी प्रकार आधिक्य को भी मानना चाहिए। जैसे—अक्ष्णा काणः (आँख का काना) होता है, वैसे ही 'मुखेन त्रिलोचनः' (मुख से त्रिलोचन) भी सम्भव है ॥ २४ ॥

हानिवदिति। मुखेन त्रिलोचन इत्यत्र तृतीयाप्राप्तावनुशासनस्यादर्शनात् कथमत्र तृतीयेति चिन्तायामाह—येनाङ्गविकार इति। हानिर्न्यूनता। यथाङ्गानां न्यूनता विकारस्तथाधिक्यमपि विकार एव। अतो येनाङ्गविकार इति तृतीया ॥ २४ ॥

न कृमिकीटानामित्येकवद्भावप्रसङ्गात् ॥ २५ ॥

'आयुषः कृमिकीटानामलङ्करणमल्पता' इत्यत्र कृमिकीटानामिति प्रयोगो न युक्तः। क्षुद्रजन्तव इत्येकवद्भावप्रसङ्गात्। न च मध्यमपदलोपी समासो युक्तः। तस्याऽसर्वविषयत्वात् ॥ २५ ॥

हिन्दी—एकवद्भाव होने से कृमिकीटानाम् प्रयोग अनुचित है।

'आयुषः कृमिकीटानामलङ्करणमल्पता' इसमें 'कृमिकीटानाम्' प्रयोग शुद्ध नहीं है। 'क्षुद्रजन्तवः' सूत्र से एकवद्भाव की प्राप्ति हो जाती है। मध्यमपदलोपी समास भी नहीं हो सकता, क्योंकि मध्यमपदलोपी समास सर्वत्र नहीं होता है ॥ २५ ॥

न कृमीति। क्षुद्रजन्तुवाचिनां द्वन्द्वसमास एकवद्भावविधानाद् बहुवचनान्तप्रयोगो न साधुरित्याह—आयुष इति। ननु मुखसहिता नासिका मुखनासिकेतिवन्मध्यमपदलोपिसमासः स्यादित्यपि न वक्तुं युक्तम्। तस्याऽसार्वत्रिकत्वादिति समर्थयते। न चेति ॥ २५ ॥

न खरोष्ट्रावुष्ट्रखरमिति पाठात् ॥ २६ ॥

खरोष्ट्रौ वाहनं येषाम् इत्यत्र खरोष्ट्राविति प्रयोगो न युक्तः। गवाश्वप्रभृतिषूष्ट्रखरमिति पाठात् ॥ २६ ॥

हिन्दी—गणपाठ में 'उष्ट्रखरम्' पाठ होने से 'खरोष्ट्री' का प्रयोग अनुचित है। 'खरोष्ट्री वाहनं येषाम्' में प्रयुक्त 'खरोष्ट्री' पद दूषित है। अतः 'उष्ट्रखरम्' का प्रयोग ही युक्त है ॥ २६ ॥

न खरोष्ट्राविति। गवाश्वादिगणे उष्ट्रखरमिति निपातितत्वात्, खरोष्ट्राविति व्यत्यासेन प्रयोगोऽनुपपन्न इत्याह खरोष्ट्रौ वाहनमिति ॥ ३६ ॥

आसेत्यसतेः ॥ २७ ॥

'लावण्यमुत्पाद्य इवास यत्नः' इत्यत्रासेत्यसतेर्धातोः, 'अस गतिदीप्त्यादानेषु' इत्यस्य प्रयोगः, नाऽस्तेः। भूभावविधानात् ॥ २७ ॥

हिन्दी—आस 'अस' धातु से बनता है।

'लावण्यमुत्पाद्य इवास यत्नः' में भ्वादिगणीय 'अस गतिदिप्त्यादानेषु' का लिट् लकार में 'आस' प्रयोग है। अदादिगणीय 'अस् भुवि' का नहीं। इसका कारण है कि अदादिगणीय अस धातु का लिट् लकार में भूभाव के विधान होने से बभूव रूप होगा ॥ २७ ॥

आसेति। अस्तेर्भूरित्यार्धतुके भूभावविधानात् कथमासेति प्रयोग इति प्राप्ते, असतेर्धातोलिटि रूपमासेति, न पुनरस्तेरित्याह। लावण्य इति ॥२७॥

युद्धयेदिति युधः क्यचि ॥ २८ ॥

'यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युद्धयेद्' इति प्रयोगः। स चायुक्तः। युधेरात्मनेपदित्वात्। तत् कथं युद्धयेदित्याह युधः क्यचि युधमात्मन इच्छेद् युद्धयेदिति ॥ २८ ॥

हिन्दी—युध् से क्यच् प्रत्यय करने पर 'युध्येत्' बनता है।

'यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत्' में युध्येत् प्रयोग मिलता है। युध् के आत्मनेपदीय होने से यह प्रयोग अशुद्ध है। तो फिर युध्येत् प्रयोग 'युधामात्मन इच्छेत्' इस अर्थ में क्यच् प्रत्यय होने से निष्पन्न हुआ ॥ २८ ॥

युद्धयेदिति। युधेरात्मनेपदिनः परस्मैपदं दृश्यते। तस्य शिष्टप्रयोगस्य साधुत्वं दर्शयितुमाह य इति युध्शब्दात्' 'सुप आत्मनः क्यच्' इति क्यच्-प्रत्यये कृते सति लिङि युद्धयेदिति सिद्धयतीत्याह। युधमिति ॥ २८ ॥

विरलायमानादिषु क्यङ् निरूप्यः ॥ २९ ॥

'विरलायमाने मलयमारुते' इत्यादिषु क्यङ् निरूप्यः। भृशादिष्वपाठात्। नापि क्यष्। लोहितादिष्वपाठात् ॥ २९ ॥

हिन्दी—विरलायमान आदि प्रयोगों में क्यङ् अन्वेषणीय है। 'विरलायमाने मलयमारुते' यह प्रयोग है। यहाँ भृशादिकों में विरला आदि के पाठ न होने से क्यङ् की प्रवृत्ति नहीं होगी तथा क्यष् भी नहीं हो सकता, क्योंकि इसका पाठ लोहितादि में नहीं है। इसीलिए यह प्रयोग अशुद्ध है ॥ २९ ॥

विरलायमानादिष्वति। क्यङ्क्यषोरप्राप्तत्वात् प्रत्याचष्टे विरालयमान इति ॥ २९ ॥

अहेतौ हन्तेर्णिच्चुरादिपाठात् ॥ ३० ॥

'घातयित्वा दशास्यम्' इत्यत्राहेतौ णिज् दृश्यते। स कथमित्याह। चुरादिपाठात्। चुरादिषु 'चट स्फुट भेदे, घट संघाते, हन्त्यर्थाश्च' इति पाठात् ॥ ३० ॥

हिन्दी—चुरादि गण में पठित होने से हन् से हेतु के अभाव में भी णिच् हो सकता है।

'घातयित्वा दशास्यम्' प्रयोग मिलता है। यह अहेतुक णिच् का प्रयोग देखा जाता है। चुरादिगणीय धातुओं में हन् धातु का पाठ होने से यह प्रयोग बन सकता है। चुरादि में चट स्फुट भेदे, घट संघाते 'हन्त्यर्थाश्च' का पाठ मिलता है ॥ ३० ॥

अहेताविति। घातयित्वेत्यत्राहेतुकर्तृभावेऽपि प्रयोगो दृश्यते स च चुरादिपाठात स्वार्थण्यन्तः साधुरित्याह घातयित्वेति ॥ ३० ॥

अनुचारीति चरेष्टित्वात् ॥ ३१ ॥

'अनुचरी प्रियतमा मदालसा' इत्यत्रानुचरीति न युक्तः। इकारलक्षणाभावात्। तत् कथम्। आह चरेष्टित्वात्। पचादिषु चरडिति पठ्यते ॥ ३१ ॥

हिन्दी—टित् होने से 'अनुचरी' प्रयोग सिद्ध हो सकता है।

'अनुचरी प्रियतमा मदालसा' में अनुचरी प्रयोग उचित नहीं है क्योंकि ईकार विधायक सूत्रों का अभाव यहाँ मिलता है। तब यह सिद्ध कैसे हुआ? समाधानार्थ यह कहा जाता है कि चर धातु के टित् होने से यह प्रयोग बन सकता है। पचादि गण में चरट् पठित है। इस लिए उससे बने अनुचर शब्द में टित्वात्ङीप् लगकर अनुचरी पद बन सकता है ॥ ३१ ॥

अनुचरीति । आक्षेपपूर्वकमनुचरीति पदस्य साधुत्वं समर्थयते । अनुचरी प्रियतमेति । ईकारलक्षणाभावादिति । पचाद्यजन्तत्वेन ङीप्प्राप्तेरभावादित्यर्थः ॥ ३१ ॥

केसरालमित्यलतेरणि ॥ ३२ ॥

'केसरालं शिलीध्रम्' इत्यत्र केसरालमिति कथम्। आह अलतेरणि । अलभूषणपर्याप्तिवारणेषु इत्यस्माद्धातोः केसरशब्दे कर्मण्युपपदे, कर्मण्यण् इत्यनेनाऽणि सति केसरालमिति सिद्ध्यति ॥ ३२ ॥

हिन्दी—अल से अण् प्रत्यय करने पर 'केसरालम्' पद बनता है ।

'केसरालं शिलीन्ध्रम्' में 'केसरालम्' पद कैसे ? समाधानार्थं यह कहा जा सकता है कि अल धातु से अण् प्रत्यय करने पर यह पद संभव है । 'अल भूषणपर्याप्तिवारणेषु' इस धातु से केसर शब्द उपपद रहते 'कमण्यण्' सूत्र से अण् प्रत्यय का विधान होता है और तब 'केसरालम्' पद सिद्ध होता है ॥ ३२ ॥

केसरशब्दस्य प्राण्यङ्गवाचित्वाकारान्तत्वयोरभावात् 'प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम्' इति लजभावात् कथं केसरालमिति प्राप्ते तदुपपत्ति वक्तुमाह केसरालमिति । वृत्तिः स्पष्टार्था ॥ ३२ ॥

पत्रलमिति लातेः के ॥ ३३ ॥

'पत्रलं वनमिदं विराजते' इत्यत्र पत्रलमिति कथम् ? आह लातेः के, ला आदाने इत्यस्माद्धातोरादानार्थात् पत्रशब्दे कर्मण्युपपदे, 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्यये सतीति ॥ ३३ ॥

हिन्दी—'पत्रलम्' ला (आदाने) धातु से 'क' प्रत्यय होने पर बनता है ।

'पत्रलं वनमिदं विराजते' यहाँ 'पत्रलम्' पर शङ्का प्रकट की जाती है । उसके निवारणार्थ यह कहा जाता है कि 'ला' धातु से 'क' प्रत्यय करने पर पत्रलम् शब्द बनेगा । 'ला आदाने' आदानार्थक ला धातु से पत्र शब्द कर्म उपपद की प्राप्ति होने पर 'आतोऽनुपसर्गे कः' से 'क' प्रत्यय होने पर यह पत्रलम् शब्द बनता है ॥ ३३ ॥

पत्रशब्दः सिद्धमादिषु न पठ्यते इति 'सिद्धमादिभ्यश्च' इति नास्ति लच्-प्रत्यय इति कथं पत्रलमिति चिन्तायां साधुत्वं समर्थयते । पत्रलमिति। पत्राणि लाति आदत्त इति विग्रहे 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्यये सति उपपदसमासे कृते, पत्रलमिति सिद्धमित्याह । पत्रलं वनमिति ॥ ३३ ॥

महीध्रादयो मूलविभुजादिदर्शनात् ॥ ३४ ॥

महीध्रधरणीध्रादयः शब्दाः मूलविभुजादिदर्शनात् कप्रत्यये सतीति । महीं धरतीति महीध्र इत्येवयादयोऽन्येऽपि द्रष्टव्याः ॥३४॥

हिन्दी—महीध्र आदि शब्द के मूलविभुजादि गण में पाठ होने से 'क' प्रत्यय द्वारा सिद्ध होते हैं। महीं धरतीति महीध्रः। इस प्रकार के अन्य शब्द भी इसी तरह सिद्ध होते हैं॥ ३४॥

महीध्रादय इयि। महीं धरतीति विग्रहे मूलविभुजादेराकृतिगणत्वात् कप्रत्यये कृते कित्त्वेन गुणाभावाद्यणादेशे सति महीध्रादयः सिद्धा इत्याह महीध्रधरणीध्रादय इति॥ ३४॥

ब्रह्मादिषु हन्तेर्नियमादरिहाद्यसिद्धिः ॥ ३५ ॥

ब्रह्मादिपूपपदेषु हन्तेः क्विब्विधौ, 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु' इत्यत्रारिहारिपुहा इत्येवमादीनामसिद्धिः। नियमात्। ब्रह्मादिष्वेव, हन्तेरेव, क्विबेव, भूतकाल एवेति चतुर्विधश्चात्र नियम इति नियमान्यतरविषयो निरूप्यः॥ ३५॥

हिन्दी—हन् धातु से ब्रह्मादि उपपद रहने पर क्विप् का नियम होने से 'अरिहा' आदि पदों की सिद्धि होती है। हन् से क्विप् प्रत्यय के विधान में ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु' सूत्र से अरिहा, रिपुहा आदि की सिद्धि नहीं हो सकती। ये नियम चार प्रकार के हैं—(१) ब्रह्म आदि शब्दों के उपपद होने से ही (२) हन् धातु से ही, (३) क्विप् प्रत्यय से ही, (४) भूत काल में ही। अतः अरिहा, रिपुहा आदि शब्दों के लिए नियमान्तर का निरूपण करना होगा॥ ३५॥

ब्रह्मादिष्विति। 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' इत्यत्र ब्रह्मादिष्वेवोपपदेषु भूत एव काले हन्तेरेव धातोः क्विवेव प्रत्ययो भवतीत्युपपदकालधातुप्रत्ययविषयस्य चतुर्धा नियमस्यानुशिष्टत्वादरिहेत्यादीनामसिद्धिरित्याह ब्रह्मादिपूपपदेष्विति॥ ३५॥

ब्रह्मविदादयः कृदन्तवृत्त्या ॥ ३६ ॥

ब्रह्मविद्, वृत्रभिदित्यादयः प्रयोगा न युक्ताः। ब्रह्मभ्रूण इत्यादिषु हन्तेरेव इति नियमात्। आह कृदन्तवृत्त्या। वेत्तीति

वित् । भिनत्तीति भित् । क्विप् चेति क्विप् ततः कृदन्तैर्विदाभिः सह ब्रह्मादीनां षष्ठीसमास इति ॥ ३६ ॥

हिन्दी—ब्रह्मवित् आदि पद कृदन्त वृत्ति से सिद्ध हैं प्रश्न है कि ब्रह्मवित्, वृत्रभित् आदि पद प्रयोगार्ह नहीं हैं, क्योंकि ब्रह्मभ्रूण आदि पद रहने पर 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' से हन् धातु से ही क्विप् का विधान होता है, ऐसा नियम है। समाधानार्थ कहते हैं कि कृदन्त बनाकर समास करने से ये पद बनते हैं। 'वेत्तीति वित्' एवं 'भिनत्तीति भित्' में 'क्विप् च' से क्विप् प्रत्यय हुआ है। इसलिए वित्, भित् आदि कृदन्त पदों के साथ ब्राह्म वृत्र आदि पदों का षष्ठीतत्पुरुष समास होता है ।। ३६ ।।

ननु तर्हि चतुर्धा नियमाश्रवणे ब्रह्मविदादीनां का गतिरिति प्राप्ते प्राह ब्रह्मविद् वृत्रभिदिति । उपपदकालनैरपेक्ष्येण क्विलपि सति समासान्ताश्रयणेन, ब्रह्मविदादयस्सिद्धयन्तीति व्याचष्टे वेत्तीति । वेत्तीति वित्, भिनत्तीति भिदितिव्युत्पत्तिसिद्धेन कृदन्तेन सह षष्ठीसमासे सति ब्रह्मविदादीनां साधूत्वमित्यर्थः ।। ३६ ।।

तैर्महीधरादयो व्याख्याताः ॥ ३७ ॥

तैर्विदादिभिर्महीधरादयो व्याख्याताः । धरतीति धरः । मह्या धरो महीधरः । एवं गङ्गाधरादयो व्याख्याताः ॥ ३७ ॥

हिन्दी—उन वित् आदि से ही महीधर आदि पदों की युक्तता की व्याख्या हो सकती है। 'धरतीति धरः' आदि कृदन्त पद बन सकते हैं और इसी प्रकार गङ्गाधरः आदि पद भी शुद्ध हो सकते हैं ।। ३७ ।।

उक्तामेतां युक्तिमन्यत्रापि योजयति तैरिति । अत्र, कर्मण्यण् इति सूत्रेण कर्मण्युपपदे धातोरण्विधानान्महीधरादीनामसाधुत्वशङ्कायामिहाप्युपपदनैरपेक्ष्यषष्ठीसमासाश्रयणाभ्यां साधुत्वमस्तीति व्याचष्टे धरतीति धर इति ॥३७॥

भिदुरादयः कर्मकर्तरि कर्तरि च ॥ ३८ ॥

भिदुरं काष्ठम् । भिदुरं तमः । 'तिमिरभिदुरं व्योम्नः शृङ्गम् इति, छिदुरातपो दिवसः, मत्सरच्छिदुरं प्रेम, भङ्गुरा प्रीतिः, मातङ्गं मानभङ्गुरम् इत्यादयोऽपि प्रयोगा दृश्यन्ते, कथमित्याह ते कर्मकर्तरि कर्तरि च भवन्ति । कर्मकर्तरि चायमिष्यते इत्यत्र, चकारः कर्तरि चेत्यस्य समुच्चयार्थः ॥ ३८ ॥

हिन्दी—भिदुर आदि पद कर्मकर्त्ता तथा कर्त्ता में हैं। 'भिदुरं काष्ठम्', तिमिर-भिदुरं व्योम्नः शृङ्गम् 'भिदुरं तम' इत्यादि प्रयोग मिलते हैं और 'छिदुरातपो दिवसः' 'मत्सरच्छिदुरं प्रेम; भङ्गुरा प्रीतिः मातङ्गं मानभङ्गुरम्' आदि भी प्रयोग मिलते हैं, ये कैसे सिद्ध होंगे? इसके उत्तर में कहा जाता है कि, ये प्रयोग कर्मकर्त्तृक तथा कर्तृक दोनों हैं। 'कर्मकर्त्तरि चायमिष्यते' यहाँ चकार 'कर्त्तरि च' समुच्चयार्थक है। अतः दोनों प्रयोग शुद्ध हैं॥ ३८॥

भिदुरादय इति। 'कर्मकर्तरि चायमिष्यते' इत्यत्र चकारं प्रयुक्तवता तत्र भवता भाष्यकृता कर्तर्यपि प्रयोगोऽप्यनुज्ञात इति भिदुरादयः शब्दाः कर्म-कर्तरि, कर्तरि च प्रयोक्तव्या इत्याह। भिदुरं काष्ठमिति॥ ३८॥

गुणविस्तरादयश्चिन्त्याः॥ ३९॥

गुणविस्तरः, व्याक्षेपविस्तर इत्यादयः प्रयोगाश्चिन्त्याः। प्रथने वावशब्दे इति घञ्प्रसङ्गात्॥ ३९॥

हिन्दी—गुणविस्तर आदि प्रयोग अशुद्ध हैं। 'प्रथने वावशब्दे' सूत्र से घञ् का विधान होने से गुणविस्तरः व्याक्षेपविस्तरः आदि प्रयोग अशुद्ध हैं॥ ३९॥

गुणविस्तरादय इति। 'प्रथने वावशब्द' इति विपूर्वात्स्तृणातेरशब्दविषये प्रथने घञ्विधानाद् गुणविस्तार इत्येव प्रयोक्तव्यं, न तु गुणविस्तर इतीत्याह—प्रथन इति॥ ३९॥

अवतरापचायशब्दयोर्दीर्घह्रस्वत्वव्यत्यासो बालानाम्॥४०॥

अवतरशब्दस्यापचायशब्दस्य च दीर्घत्वह्रस्वत्वव्यत्यासो बालानां बालिशानां प्रयोगेष्विति। ते ह्यवतरणमवतार इति प्रयुञ्जते। मारुतावतार इति। स ह्ययुक्तः। भावे तरतेरब्विधानात्। अपचायमपचय इति प्रयुञ्जते। पुष्पापचय इति। अत्र 'हस्तादाने चेरस्तेये' इति घञ् प्राप्त इति॥ ४०॥

हिन्दी—'अवतर' और 'अपचाय' में ह्रस्व-दीर्घ का परिवर्त्तन लोग मूर्खतावश करते हैं।

'अवतर' और 'अपचाय' शब्दों में ह्रस्व-दीर्घ का परिवर्त्तन मूर्खों का काम है। वे ही अवतरण अर्थ में 'अवतार' प्रयोग करते हैं, यथा—मारुतावतारः। अवतार रूप अशुद्ध इसलिए है कि भाव में 'तृ' से अप् प्रत्यय का विधान हुआ है। मूर्ख ही

'अपचाय' के स्थान पर 'अपचय' का प्रयोग करते हैं, यथा—पुष्पापचयः। यहाँ 'हस्तादाने चेरस्तेये' से घञ् होने से 'पुष्पापचायः' युक्त है 'पुष्पापचयः' नहीं॥ ४०॥

दीर्घव्यत्यास इति। दीर्घस्य स्थानात् प्रच्याव्यास्थाने करणं व्यत्यासः। बालानां पिमर्शविधुराणां भवतीति शेषः। तमेव व्यत्यासं दर्शयति—ते हीति। अब्विधानादिति। 'अवे तृस्त्रोर्घञ्' इति करणाधिकरणयोरेव घञ्विधानात् तरतेः, 'ऋदोरप्' इति भावेऽप् इति भावेऽप्प्रत्यय एव भवतीत्यर्थः। अपचायमिति। 'हस्तादाने चेरस्तेये' इति हस्तेनादानेऽभिधेये चिनोतेर्घञ्विधानादप्प्रत्ययो न प्राप्नोतीत्यर्थः॥ ४०॥

शोभेति निपातनात्॥ ४१॥

शोभेत्ययं शब्दः साधुः। निपातनात्। शुभ शुम्भ शोभार्थौ इति शुभेर्भिदादेराकृतिगणत्वादङ् सिद्ध एव। गुणप्रतिषेधाभावस्तु निपात्यत इति। शोभार्थावित्यत्रैकदेशे, किं शोभा, आहोस्विच्छोभ इति विशेषावगतिराचार्यपरम्परोपदेशादिति॥ ४१॥

हिन्दी—'शोभा' यह पद निपातन से साधु है। 'शुभ-शुम्भ शोभार्थौ' में 'शोभा' पद का पाठ इसकी शुद्धि का प्रमाण है। शुभ से भिदादि आकृतिगण होने से अङ् प्रत्यय तो सिद्ध ही था। यहाँ गुण के प्रतिषेध का अभाव निपातित है। 'शोभार्थौ' इस पद का एक भाग 'शोभा' है अथवा 'शोभा' है। इसका निर्णय आचार्य परम्परा के उपदेश से समझना चाहिए।

शोभेति। 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इति शुभेर्धातोर्भिदादिषु पाठादङ्प्रत्यये सति ङित्करणेन गुणप्रतिषेधे प्रसक्ते निपातनाद् गुणसिद्धिरित्याह—शोभेत्ययं शब्द इति॥ ४१॥

अविधौ गुरोः स्त्रियां बहुलं विवक्षा॥ ४२॥

अविधावविधाने 'गुरोश्च हलः' इति स्त्रियां बहुलं विवक्षा। क्वचिद्विवक्षा, क्वचिदविवक्षा, क्वचिदुभयमिति। विवक्षा यथा, ईहा लज्जेति। अविवक्षा यथा, आतङ्क इति। विवक्षाविवक्षे यथा बाधा-बाधः, ऊहा-ऊहः, व्रीडा-व्रीड इति॥ ४२॥

हिन्दी—गुरु वर्ण युक्त धातु से 'अ' प्रत्यय के विधान में बाहुल्य से स्त्रीत्व विवक्षित होता है। 'अ' प्रत्यय के विधान में 'गुरोश्च हलः' से विहित 'अ' प्रत्यय होने

पर स्त्रीलिङ्ग के प्रयोग में बाहुल्य की विवक्षा होती है। बाहुल्य के चार प्रकार हैं—

क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचित् विभाषा, क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति॥

कहीं विवक्षा होती है, जैसे ईहा लज्जा। कहीं इसका अभाव होता है, जैसे आतङ्क। कहीं विवक्षा और अविवक्षा दोनों की प्रवृत्ति होती है, जैसे—बाधा, बाधः, ऊहा, ऊहः, व्रीडा, व्रीडः, ॥ ४२ ॥

अविधाविति बहुलग्रहणस्य विवक्षितमर्थमाह—क्वचिद्विवक्षा क्वचिदविवक्षा, क्वचिदुभयमिति। आतङ्क इत्यादिषु स्त्रीत्वस्याऽविवक्षितत्वाद् घञेव भवति॥ ४२ ॥

व्यवसितादिषु क्तः कर्तरि चकारात् ॥ ४३ ॥

व्यवसितः, प्रतिपन्न इत्यादिषु भावकर्मविहितोऽपि क्तः कर्तरि। गत्यादिसूत्रे चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात्। भावकर्मानुकर्षणार्थत्वं चकारस्येति चेद्, आवृत्तिः कर्त्तव्या ॥ ४३ ॥

हिन्दी—चकार के पाठ से 'व्यवसित' आदि में कर्त्तृवाच्य में 'क्त' प्रत्यय होता है। 'व्यवसितः, 'प्रतिपन्नः' आदि में भावकर्म में विहित 'क्त' प्रत्यय कर्त्तृवाच्य में हुआ है। गत्यादि सूत्र में चकार से अनुक्त समुच्चयार्थक होने से ऐसे प्रयोग सम्भव हैं। यदि यह कहा जाय कि उक्त गत्यादि सूत्र में अनुक्त समुच्चय के लिये चकार का ग्रहण नहीं हुआ है वरन् भावकर्म की अनुवृत्ति के लिए चकार आया है, तो पुनः चकार की आवृत्ति करनी चाहिए, जिससे इस आवृत्त चकार से अनुक्त समुच्चय का बोध हो सके॥ ४३ ॥

व्यवसितादिष्विति। व्यवसितः, प्रतिपन्न इत्यादिषु कर्तरि क्तप्रत्ययो न प्राप्नोति। सकर्मकेभ्यो धातुभ्यः कर्मणि क्तप्रत्ययविधानाद् गत्यर्थादिसूत्रेण चाप्राप्तेरिति प्राप्ते गत्यर्थादिसूत्रे चकारेणानुक्तसमुच्चयार्थेन व्यवस्यतिप्रभृतयः समुच्चीयन्त इत्याह—व्यवसित इति। ननु भावकर्मणोरनुकर्षणार्थश्चकारः कथमन्यदप्यनुक्तं समुच्चिनुयादिति शङ्कते—भावकर्मेति। समाधत्ते—आवृत्तिरिति चकारस्यावृत्तौ भावकर्मणोरनुकर्षणार्थ एकश्चकारः, अन्यः पुनरनुक्तसमुच्चयार्थ इति येन केनाप्युपायेन शिष्टप्रयोगस्य गतिः कल्पनीयेत्यर्थः ॥४३॥

आहेति भूतेऽन्यणलन्तभ्रमाद् ब्रुवो लटि ॥ ४४ ॥

'ब्रुवः पञ्चानाम्' इत्यादिना आहेति लट् व्युत्पादितः। स भूते प्रयुक्तः। इत्याह भगवान् प्रभुः, इति। अन्यस्य भूतकालाभिधायिनो

णलन्तस्य लिटि भ्रमात्। निपुणाश्चैवं प्रयुञ्जते। 'आह स्म स्मितमधु-मधुराक्षरां गिरम्' इति। अनुकरोति भगवतो नारायणस्म इत्यत्राऽपि मन्ये—स्मशब्दः कविना प्रयुक्तो लेखकैस्तु प्रमादान्न लिखित इति ॥४४॥

हिन्दी—'ब्रू' का 'लट्' में आह प्रयोग होता है। इसे लोग अन्यणलन्त प्रयोगों के भ्रम से भूतकालिक प्रयोग कर देते हैं। 'ब्रुवः' पञ्चानामादित आहो ब्रुवः' इस सूत्र से लट में 'ब्रु' धातु से 'आह' रूप होता है। वह भूत में भी प्रयुक्त होता है, यथा—'इत्याह भगवान् प्रभुः' किन्तु दूसरे भूतकालिक णलन्त प्रयोग के भ्रम से लिट् में प्रयुक्त होता है। परन्तु निपुण लोग तो इसका प्रयोग इस प्रकार करते हैं—

'आह स्म स्मितमधुमधुराक्षरां गिरम्' यहाँ 'आह' के साथ 'स्म' लगा है और यह भूतकालिक है। इसी प्रकार 'अनुकरोति भगवतो नारायणस्य' में भी कवि के द्वारा 'स्म' प्रयुक्त हुआ होगा, पर लेखक ने उसे प्रमादवश छोड़ दिया। तात्पर्य यह हुआ कि 'आह' का भूतकालिक प्रयोग अशुद्ध है। यदि भूतकाल में प्रयोग करना हो तो उसके साथ 'स्म' का आना आवश्यक है ॥ ४४ ॥

आहेति। 'किमिच्छसीति स्फुटमाह वासव' इत्यादिष्वाहेति भूते प्रयुज्यते। स च प्रयोगोऽनुपपन्नः। 'ब्रूवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः' इति ब्रुवो लटि णलाद्यादेशपञ्चकविधानादन्यणलन्तेति। लिटि विहितो यो णल् तदन्तत्व-भ्रान्तिमूलोऽयं प्रयोग इत्यर्थः। आहेत्यव्ययमिति केचित्तु समादधले—शिष्ट-प्रयोगशैलीं दर्शयति। निपुणाश्चेति। लट् स्मे इति लटो विजानात्। प्रसङ्गा-दन्यत्रापि भूतार्थे लट्प्रयोगस्योपपत्तिमाह—अनुकरोतीति ॥ ४४ ॥

शबलादिभ्यः स्त्रियां टापोऽप्राप्तिः ॥ ४५ ॥

'उपस्रोतः स्वस्थस्थितमहिषशृङ्गाग्रशबलाः स्नपन्तीनां जाताः प्रमुदितविहङ्गास्तटभुवः। भ्रमरोत्करकल्माषाः कुसुमानां समृद्धयः' इत्यादिषु स्त्रियां टापोऽप्राप्तिः। अन्यतो ङीष् इति ङीष्विधानात्। तेन शबली कल्माषीति भवति ॥ ४५ ॥

हिन्दी—शबल आदि से स्त्रीलिङ्ग में टाप् की प्राप्ति नहीं है।

प्रसन्न विहगों वाली किनारे की भूमि धारा के समीप आराम से बैठे हुए भैंसों के सींगों से शबल है।

फूलों की समृद्धि भ्रमर-समूह से चित्र-विचित्र है।

यहाँ 'शबला' 'कल्माषा' आदि में टाप् की प्राप्ति नहीं हो सकती। 'अन्यतो ङीष्' इससे प्रत्यय होने से शबली, कल्माषी आदि प्रयोग सिद्ध हैं ॥ ४५ ॥

शबलादिभ्य इति। अन्यतो ङीष् इति ङीष्विधानाच्छवलकल्माषादिभ्यः स्त्रियां टाप्प्रत्ययस्याप्राप्तिरिति। तथा प्रयोगं प्रदर्श्य प्रतिषेधति—उपस्रोत इति ॥ ४५ ॥

प्राणिनी नीलेति चिन्त्यम् ॥ ४६ ॥

'कुवलयदलनीला कोकिला बालचूते' इत्यादिषु नीलेति चिन्त्यम्। कोकिला नीलीति भवितव्यम्। नीलशब्दात्, 'जानपद' इत्यादिसूत्रेण प्राणिनि च इति ङीष्विधानात् ॥ ४६ ॥

हिन्दी– प्राणिवाचक शब्दों के साथ स्त्रीलिङ्ग में 'नीला' (विशेषण पद) का प्रयोग अशुद्ध है।

'आम के नए तरु पर कुनलदल के समान नील कोयल' यहाँ कोकिला का विशेषण पद 'नीला' अशुद्ध है। 'कोकिला' के साथ 'नीला' पद का प्रयोग सम्भव है। 'जानपद' आदि सूत्र से नील शब्द के साथ 'प्राणिनि च' के अनुसार प्राणी के अर्थ में ङीष् के विधान होने से 'नीली' पद बनता है ॥ ४६ ॥

प्राणिनीति। जानपदादिसूत्रे वृत्तिकारेण, 'नीलादोषधौ प्राणिनि च' इति विषयव्यवस्थापनात् प्राणिनि विषये नीलशब्दान्ङीपु प्रत्ययः प्राप्तः, न तु टाप्। अतः प्राणिनि नीलेति न प्रयोक्तव्यमित्याह—कुवलयेति ॥ ४६ ॥

मनुष्यजातेर्विवक्षाविवक्षे ॥ ४७ ॥

इतो मनुष्यजातेः, ऊङुत इत्यत्र मनुष्यजातेर्विवक्षा, अविवक्षा च लक्ष्यानुसारतः।

मन्दरस्य मदिराक्षि पार्श्वतो निम्ननाभि न भवन्ति निम्नगाः।
वा सुवासुकिविकर्षणोद्भवा भामिनीह पदवी विभाव्यते ॥

अत्र मनुष्यजातेर्विवक्षायाम्, 'इतो मनुष्यजातेरि'ति ङीपि सति, 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्व' इति संबुद्धौ ह्रस्वत्वं सिद्ध्यति। नाभिशब्दात् पुनः, इतश्च प्राण्यङ्गाद् इतीकारे कृते, निम्ननाभिकेति स्यात्।

हृतोष्ठरागैर्नयनोदबिन्दुभिर्निमग्ननाभेर्निपतद्भिरङ्कितम्।
च्युतं रुषा भिन्नगतेरसंशयं शुकोदरश्याममिदं स्तनांशुकम् ॥

अत्र निमग्ननाभेरिति मनुष्यजातेरविवक्षेति ङीष् न कृतः। 'सुतनु जहिहि मौनं पश्य पादानतं माम्' इत्यत्र मनुष्यजातेर्विवक्षेति सुतनु-

शब्दाद्, ऊङुत इत्यूङि सति ह्रस्वत्वे सुतन्विति सिद्ध्यति। 'वरतनुरथवाऽसौ नैव दृष्टा त्वया मे।' अत्र मनुष्यजातेरविवक्षेत्यूङ् न कृतः ॥ ४७ ॥

हिन्दी—इकारान्त तथा उकारान्त मनुष्यवाची शब्दों में मनुष्यजाति की विवक्षा तथा अविवक्षा होती है। 'इतो मनुष्यजातेः', 'ऊङुतः' सूत्रों में मनुष्य जाति की विवक्षा और अविवक्षा लक्ष्य के अनुसार होती है।

हे निम्ननाभि, हे मदिराक्षि, हे भामिनी, मन्दराचल के पार्श्व में ये नदियाँ नहीं हैं। वह वासुकि सर्प के खींचने से उत्पन्न रेखा मालूम पड़ती है।

यहाँ मनुष्य जाति की विवक्षा में 'इतो मनुष्यजातेः' सूत्र से ङीष् होने पर सम्बोधन के एकवचन में 'आम्बार्थनद्योह्रस्व' सूत्र से ह्रस्व हुआ है और निम्ननाभि मदिराक्षि आदि पद सिद्ध हुए। पुनः नाभि शब्द से 'इतश्च प्राण्यङ्गात्' सूत्र से ईकार की प्राप्ति पर निम्ननाभीका प्रयोग भी सम्भव है।

मनुष्य जाति की अविवक्षा में ङीष् का अभाव रोष के कारण भिम्नगति निम्नाभि नायिका के ओष्ठ-राग का हरण करनेवाले गिरते हुए आँसुओं से अङ्कित शुक के उदर के समान हरित यह स्तनांशुक गिर गया है।

अविवक्षावश 'निमग्ननामेः' में ङीष् की प्राप्ति नहीं हुई। इसी प्रकार—

'हे सुतनु मान को छोड़ो और चरणों में नत मुझको देखो।' यहाँ मनुष्य जाति की विवक्षा के कारण सुतनु शब्द से 'ऊङुतः' से 'ऊङ्' हुआ तथा ह्रस्व करने पर सम्बोधन में 'सुतनु' शब्द सिद्ध हुआ।

'अथवा मेरी वरतनु प्रिया तुम से नहीं देखी गई।' यहाँ मनुष्य जाति की विवक्षा नहीं होने से ऊङ् का विधान नहीं हुआ ॥ ४७ ॥

मनुष्यजातेरिति। निम्नाभिसुतनुप्रभृतिषु यदि मनुष्यजातित्वमभ्युपेयते तदा, इतो मनुष्यजातेः, ऊङुत इति ङीषूङ्प्रत्यययोः प्राप्तौ, निम्ननाभेः, सुतनोरित्यादयः प्रयोगा न सिद्ध्येयुः। यदि नाभ्युपेयते तर्हि सबुद्धौ, निम्ननाभि, न सुतन्वित्यादयः प्रयोगाः सिद्धाः स्युः। ततः कथं प्रयोगव्यवस्थेति विचारणायामुभयत्र साधुत्वं व्यवस्थापयति। इतो मनुष्यजातेरिति। वक्तुर्विवक्षितपूर्विका हि शब्दप्रवृत्तिरिति न्यायेन मनुष्यजातेर्विद्यमानाया अपि क्वचिद्विवक्षा, क्वचिदविवक्षा चेति लक्ष्यानुसारेणोत्प्रेक्षणीयेति प्रयोगदर्शनपूर्वकं विवक्षाविवक्षे व्युत्पादयति। मन्दरस्येति। अत्र मनुष्यजातिविवक्षायां रूपसिद्धिं दर्शयति। इतो मनुष्यजातेरिति। ननु इतश्च प्राण्यङ्गवाचिनो वा ङीष् वक्तव्य इति नाभिशब्दादीकारे कृते, अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः इति ह्रस्वत्वे च कृते निम्ना-

नाभीति संबुद्धिः सिद्धयति, किमनेन यत्नेनेति चेत् तत्राह—नाभिशब्दादिति। निम्ननाभीत्यत्र बहुव्रीहिसमासे, नद्यृतश्च इति कपा समासान्तेन, न कपि इति ह्रस्वत्वप्रतिषेधेन च भवितव्यम्। ततश्च निम्ननाभीके इति स्याद्, न तु निम्ननाभि इति। इतो मनुष्यजातेः क्वचिदविवक्षां दर्शयति—हृतोष्ठरागै-रिति। उक्तन्यायेन सुतनुशब्दादौ विवक्षाविवक्षे दर्शयति—सुतनु जहि-हीति ॥ ४७ ॥

ऊकारान्तदाप्यूङ् प्रवृत्तेः ॥ ४८ ॥

उत ऊङ् विहित ऊकारान्तादपि क्वचिद् भवति। आचार्य-प्रवृत्तेः। क्वाऽसौ प्रवृत्तिः। अप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनाम् इति। अलाबूः, कर्कन्धुरित्युदाहरणम्। तेन, सुभ्रु किं संभ्रमेण। अत्र सुभ्रुशब्द ऊङि सिद्धो भवति। ऊङि त्वसति सुभ्रूरिति स्यात् ॥ ४८ ॥

हिन्दी—ह्रस्व उकारान्त शब्दों से ऊङ का विधान है, ऊकारान्त से भी उङ् कहीं-कहीं होता है।

ऊकारान्त शब्दों से भी उङ् प्रत्यय होता है। आचार्यों की प्रवृत्ति इसका मूल कारण है। यह प्रवृत्ति कहाँ है? 'अप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनाम्' अलाबूः, कर्कन्धूः आदि। 'हे सुभ्रु, व्यर्थ भय क्यों?' यहाँ 'सुभ्रु' शब्द से ऊङ्' प्रत्यय लगने पर सम्बोधन में 'सुभ्रु' शब्द सिद्ध हुआ। 'ऊङ्' नहीं होने पर 'सुभ्रूः' प्रयोग होगा ॥ ४८ ॥

ऊकान्तादपीति। यद्यपि, ऊङुत इत्यत्र तपरकरणमुकान्तादूङ्विधानार्थं कृतं, तथाप्याचार्यवचनसामर्थ्यादूकारान्तादप्यङ् प्रवर्तत इत्याह—उत ऊङ् विहित इति। प्रश्नपूर्वकं प्रवृत्ति दर्शयति—क्वाऽसौ प्रवृत्तिरिति। प्रवत्तिरारम्भः। अलाबूः। कर्कन्धूरित्युदाहरणसिद्धयर्थम्, अप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनाम् इत्यूका-रान्तादप्यूङ्प्रत्ययारम्भात्तपरकरणविवक्षितमिति ज्ञायते। ननु यदेतदूकारा-न्तादूङ्विधानं तत् पिष्टपेषणप्रायमिति शङ्कां परिहरति—तेनेति। सुभ्रुशब्दा-दपि मनुष्यजातिविवक्षीयामूङ्प्रत्ययेनदी संज्ञायां संबुद्धौ ह्रस्वो भवतीति दर्शयति—अत्र सुभ्रुशब्द इति ॥ ४८ ॥

कार्तिकीय इति ठञ् दुर्धरः ॥ ४९ ॥

कार्तिकीयो नभस्वान् इत्यत्र कालाट्ठञ् इति ठञ् दुर्धरः। ठञ् भवनं दुःखेन ध्रियत इति ॥ ४९ ॥

हिन्दी—कार्त्तिकीय के प्रयोग में ठञ् दुर्निवार है। 'कार्त्तिक की हवा' इस अर्थ में 'कालाट्ठञ्' से ठञ् प्रत्यय दुर्निवार है। अतः 'कार्त्तिकीय' प्रयोग अशुद्ध है। शुद्ध प्रयोग 'कार्त्तिकिकः' होना चाहिए ॥ ४९ ॥

कर्तिकीय इति। अत्र कार्तिके भव इति भवार्थत्वं वक्तुं युक्तम्। तथात्वे कालाट्ठञ् इति शैषिकेष्वर्थेषु विधीयमानष्ठञ दुर्निवारतया प्राप्नोति। अतः, कार्तिकीय इति न सिद्ध्यतीत्याह—अत्रेति। दुर्वर इति पदार्थमाह—दुःखे-नेति। दुर्निरोध इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

शार्वरमिति च ॥ ५० ॥

शार्वरं तम इत्यत्र च, कालाट्ठञ् इति ठञ् दुर्धरः ॥ ५० ॥

हिन्दी—शार्वर प्रयोग भी अनुचित है। 'शार्वरं तमः' में कालाट्ठञ् से ठञ् दुर्धर है। अतः 'शार्वरिक' प्रयोग शुद्ध है ॥ ५० ॥

शार्वरमिति। अत्रापि ठञो दुर्धरत्वेन शार्वरमिति न सिद्ध्यतीत्याह। शार्वरं तम इति ॥ ५० ॥

शाश्वतमिति प्रयुक्तेः ॥ ५१ ॥

शाश्वतं ज्योतिरित्यत्र शाश्वतमिति न सिद्ध्यति कालट्ठञ् इति ठञ्प्रसङ्गात्। येषां च विरोधः शाश्वतिक इति सूत्रकारस्यापि प्रयोगः। आह—प्रयुक्तेः। शाश्वते। प्रतिषेध इति प्रयोगात् शाश्वत-मिति भवति ॥ ५१ ॥

हिन्दी—'शाश्वतम्' शब्द प्रयोग-सिद्ध है। यहाँ प्रश्न होता है कि कालाट्ठञ् से ठञ् प्रत्यय होने पर 'शाश्वतिकं ज्योतिः' प्रयोग होना चाहिए। साथ ही पाणिनि ने भी 'येषाञ्च विरोधः शाश्वतिकः' का ही प्रयोग किया है। 'शाश्वतं ज्योतिः' प्रयोग कैसे? इसका समाधान करते हुए 'शाश्वते प्रतिषेधः' आदि प्रयोग देखने के कारण यह प्रयोग भी शुद्ध माना जाता है ॥ ५१ ॥

शाश्वते प्रतिषेध इति वार्तिककारवचनादत्राऽण्प्रत्यये सति शाश्वतमिति शब्दः साधुरित्याक्षेपपूर्वकं समर्थयते। शाश्वतं ज्योतिरिति ॥ ५१ ॥

राजवंश्यादयः साध्वर्थे यति भवन्ति ॥ ५२ ॥

राजवंश्याः, सूर्यवंश्या इत्यादयः शब्दाः, तत्र साधुरित्यनेन साध्वर्थे यति प्रत्यये सति साधवो भवन्ति। भवार्थे पुनर्दिगादिपाठे-

ऽपि वंशशब्दस्य वंशशब्दान्तान्न यत् प्रत्ययः। तदन्तविधेः प्रति-षेधात् ॥ ५२ ॥

हिन्दी—साधु अर्थ में यत् प्रत्यय करने पर 'राजवंश्यम्' सिद्ध होता है। राज-वंश्याः, सूर्यवंश्याः आदि शब्द 'तत्र साधुः' सूत्र से साधु अर्थ में यत् प्रत्यय करने पर सिद्ध होते हैं।

भवार्थ में दिवादि गण में 'वंश' के पठित होने पर भी वंश शब्दान्त से यत् प्रत्यय नहीं होता, क्योंकि यहाँ तदन्त विधि का प्रतिषेध है ॥ ५२ ॥

राजवंश्यादय इति। वंशशब्दस्य दिगादिषु पाठाद्, दिगादिभ्यो यदिति भवार्थे यत् प्रत्ययो विधीयते। स च वंशशब्दान्न प्राप्नोति। ग्रहणवता प्रातिपदिकेनेति तदन्तविधिप्रतिषेधात्। साध्वर्थविवक्षायां तु, तत्र साधुरिति यत्प्रत्यये सति राजवंश्यादयः सिद्धा इत्याह—राजवंश्या इति ॥ ५२ ॥

दारवशब्दो दुष्प्रयुक्तः ॥ ५३ ॥

दारवं पात्रमिति दारवशब्दो दुष्प्रयुक्तः। नित्यं वृद्धशरादिभ्य इति मयटा भवितव्यम्। ननु विकारावयवयोरर्थयोर्मयड् विधीयते। अत्र तु, दारुण इदमिति विवक्षायां दारवमिति भविष्यति। नैतदेव-मपि स्यात्। वृद्धाच्छ इति छविधानात् ॥ ५३ ॥

हिन्दी—'दारवम्' शब्द का प्रयोग अशुद्ध है।

'दारवम् पात्रम्' में दारवम् अनुचित है। 'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः' सूत्र से दारु शब्द से मयट् का विधान प्राप्य है। अतः 'दारुमयम्' होना चाहिए।

पूर्वपक्ष—मयट् विकार तथा अवयव के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यहाँ तो 'दारुण इदम्' से सम्बन्ध सामान्य की विवक्षा होती है। इसलिए दारवम् होगा।

उत्तरपक्ष—ऐसा भी कहीं हो सकता; क्योंकि 'वृद्धाच्छः' सूत्र से 'छ' के विधान में 'दार्वीयं पात्रम्' का प्रयोग न्याय्य है। अतः किसी भी स्थिति में 'दारवं पात्रम्' प्रयोग अशुद्ध ही है ॥ ५३ ॥

दारवशब्द इति। दारुणो विकार इत्यस्मिन्नर्थे, नित्यं वृद्धशरादिभ्य इति मयटो विधानाद् दारुमयमिति प्रयोक्तव्यं, न तु दारवमितीत्याह—दारवं पात्र-मिति। नन्वत्र विकारार्थो न विवक्षितः, किन्तु सम्बन्धसामान्यम्। ततः, तस्ये-दमिति दारुशब्दादणप्रत्यये कृते दारवमित्येव भवतु, को विरोध इति शङ्कते—नन्विति। सम्बन्धसामान्यविवक्षायामप्यण प्रत्ययो न सिद्ध्यति। वृद्धाच्छ इति छप्रत्ययप्रसङ्गादिति परिहरति—नैतदेवमिति ॥ ५३ ॥

मुग्धिमादिष्विमनिज्मृग्यः ॥ ५४ ॥

मुग्धिमा, मौढिमा इत्यादिषु इमनिज् मृग्यः = अन्वेषणीय इति ॥ ५४ ॥

हिन्दी—'मुग्धिमा' आदि में इमनिज् प्रत्यय अनुसन्धेय है। अर्थात् इन शब्दों से इमनिज् प्रत्यय लगकर शब्द नहीं बन सकते। क्योंकि 'पृथ्वादिभ्य इमनिज् वा' इस सूत्र से पृथ्वादि गण पठित-शब्दों से इमनिच का विधान है। परन्तु वहाँ मुग्ध, प्रौढ आदि शब्दों का पाठ नहीं मिलता है। अतः मुग्धिमा, प्रौढिमा आदि प्रयोग अशुद्ध हैं ॥ ५४ ॥

मुग्धिमादिष्विति। पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा इतीमनिच् प्रत्ययो विधीयते। स च मुग्धप्रौढादिशब्देभ्यो न प्राप्नोति। तेषां पृथ्वादिपाठाभावादित्यभिप्रायेण व्याचष्टे—मुग्धिमा प्रौढिमेति ॥ ५४ ॥

औपम्यादयश्चातुर्वर्ण्यवत् ॥ ५५ ॥

औपम्य सान्निध्यमित्यादयश्चातुर्वर्ण्यवत्। गुणवचन इत्यत्र चातुर्वर्ण्यादीनामुपसंख्यानम् इति वार्तिकात् स्वार्थिकष्यञन्तः ॥५५॥

हिन्दी—'औपम्यम्', 'सान्निध्यम्' आदि शब्द चातुर्वर्ण्य के समान सिद्ध होते हैं। 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' सूत्र में 'चातुर्वर्ण्यादीनां स्वार्थं उपसंख्यानम्' वार्त्तिक से स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय होने पर 'औपम्यम्', 'सान्निध्यम्' आदि पद सिद्ध होते हैं ॥ ५५ ॥

औपम्यादय इति। चातुर्वर्ण्यादयः स्वार्थे इति स्वार्थिके ष्यञि चातुर्वर्ण्यमिति यथा सिद्ध्यति तथा चातुर्वर्ण्यादिपाठादुपमैवौपम्यं, सन्निधिरेव सान्निध्यमित्यादयः स्वार्थिकष्यञन्ताः साधिता इत्याह—औपम्यं, सान्निध्यमिति ॥५५॥

ष्यञः षित्करणादीकारो बहुलम् ॥ ५६ ॥

गुणवचनब्राह्मणादिभ्य इति यः ष्यञ् तस्य षित्करणादीकारो भवति। स बहुलम्। ब्राह्मण्यमित्यादिपु न भवति। सामाग्र्यं सामग्री, वैदग्ध्यं वैदग्धीति ॥ ५६ ॥

हिन्दी—ष्यञ् प्रत्यय के षित्करण से ईकार बहुलता पूर्वक प्राप्त होता है।

'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः' सूत्र से षित्करण के कारण ङीष् बहुलता से होता है।

यथा—ब्राह्मण्यम् आदि में नहीं होता, पर सामग्रचम्-सामग्री, वैदग्ध्यम्-वैदग्धी आदि में विकल्प से होता है ॥ ५६ ॥

ष्यञ् इति । गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च इति ष्यञ् विधीयते। ततश्च ष्यञन्तेभ्यः स्त्रियां, षिद्गौरादिभ्यश्च इति यो ङीष्प्रत्ययो विधीयते, स ईकारो बहुलं भवति । क्वचिन्न प्रवर्तते क्वचिद्विकल्पेन प्रवर्तत इत्याह—ब्राह्मण्यमित्यादिष्विति ॥ ५६ ॥[1]

धन्वीति व्रीह्यादिपाठात् ॥ ५७ ॥

व्रीह्यादिषु धन्वन्शब्दस्य पाठाद्धन्वीति इनौ सति सिद्धो भवति ॥ ५७ ॥

हिन्दी—धन्वी पद की सिद्धि व्रीह्यादि गण में पाठ होने से होती है। व्रीह्यादि गण में 'धन्व' शब्द का पाठ मानने से इनि प्रत्यय के विधान में धन्वी की सिद्धि सम्भव है ॥ ५७ ॥

धन्वीति । धन्वन्शब्दस्यादन्तत्वाभावात्, अत इनिठनौ इतीनिप्रत्ययस्याप्राप्तौ व्रीह्यादेराकृतिगणत्वेनेनिप्रत्यये सति धन्वीति सिद्धचतीत्याह—व्रीह्यादिष्विति ॥ ५७ ॥

चतुरस्रशोभीति णिनौ ॥ ५८ ॥

बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेनेत्यत्र चतुरस्रशोभीति न युक्तम् । व्रीह्यादिषु शोभाशब्दस्य पाठेऽपि इनिरत्र न सिद्धयति । ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिप्रतिषेधात् । भवतु वा तदन्तविधिः । कर्मधारयान्मत्वर्थीयानुपपत्तिः । लघुत्वात् प्रक्रमस्येति बहुव्रीहिणैव भवितव्यम् । तत्कथमिति मत्यर्थीयस्याऽप्राप्तौ चतुरस्रशोभीति प्रयोगः।आह णिनौ । चतुरस्रं शोभत इति ताच्छीलिके णिनायं प्रयोगः । अथ, अनुमेयशोभीति कथम् । न ह्यत्र पूर्ववद् वृत्तिः शक्या कर्तुमिति । शुभेः साधुकारिण्यावश्यके वा णिनिं कृत्वा तदन्ताच्च भावप्रत्यये पश्चाद् बहुव्रीहिः कर्तव्यः । अनुमेयं शोभित्वं यस्येति ।

१, ५६—५७ सूत्रमोर्मध्ये, सामाग्रचमित्यादिषु विकल्पेन इत्येवं मूलपुस्तकेषु सूत्रान्तरं दृश्यते । तच्च प्रक्षिप्तमिति त्रिपुरहरभूपालेन न व्याख्यातम् ॥

भावप्रत्ययस्तु गतार्थत्वान्न प्रयुक्तः। यथा, निराकुलं तिष्ठति, सधीरमुवाचेति ॥ ५८ ॥

हिन्दी—णिनि प्रत्यय के विधान से 'चतुरस्रशोभी' पद सिद्ध होता है।

'नव यौवन से मण्डित उसका शरीर सर्वथा शोभायुक्त हो गया।' यहाँ 'चतुरस्रशोभि' पद युक्त नहीं है। व्रीह्यादि गण में पाठ होने पर भी 'व्रीह्यादिभ्यश्च सूत्र' के अनुसार इनि प्रत्यय नहीं हो सकता, क्योंकि 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन' से तदन्त विधि का निषेध हो जाता है। अथवा यदि तदन्त विधि हो भी जाए, फिर भी कर्मधारय से मत्वर्थीय इनि प्रत्यय की अनुपपत्ति ही है। प्रक्रियालाघव के लिए बहुव्रीहि समास ही मान्य है। तो फिर मत्वर्थीय की अप्राप्ति में 'चतुरस्रशोभि' प्रयोग कैसे युक्तिसंगत हो सकता है?

इस प्रश्न के समर्थन में यह कहा जा सकता है कि 'चतुरस्रं शोभते' इस प्रकार ताच्छील्यविषय णिनि होने पर यह 'चतुरस्रशोभि' पद सिद्ध हो सकता है। तो फिर 'अनुमेयशोभि' कैसे बनेगा? यहाँ तो पूर्ववत् वृत्ति सम्भव नहीं है।

शुभ धातु से साधुकारी या आवश्यक अर्थ में णिनि प्रत्यय करने पर और णिनि प्रत्ययान्त से भाव प्रत्यय होने पर उस शोभित्व शब्द से अनुमेय शब्द का बहुव्रीहि समास सम्भव है। 'अनुमेयं शोभित्वं यस्य' यह बहुव्रीहिगत स्वरूप होगा। भाव प्रत्यय का प्रयोग गतार्थतावश नहीं होता है। यथा—'निराकुलं तिष्ठति' 'सधीरमुवाच' आदि में भाव प्रत्यय की गतार्थता स्पष्ट हो जाती है॥ ५८॥

चतुरस्रशोभीति। अत्र साधुत्वं समर्थयिष्यमाणः प्रामाणिकप्रयोगं तावत् प्रदर्शयति बभूवेति। अत्र मत्वर्थीयप्रत्ययस्यानुपपत्तिमाह अत्र चतुरस्रशोभीति। चतुरस्रा चासौ शोभा च चतुरस्रशोभा, साऽस्यास्तीति चतुरस्रशोभीति मत्वर्थीयेन सिद्धयति। व्रीह्यादिपाठाभावादिति शङ्कितुरभिप्रायः। अभ्युपगम्यमाने वा व्रीह्यादिपाठे, ग्रहणवता प्रातिपदिकेन न तदन्तविधिरिति वार्तिककारवचनाच्छोभाशब्दान्तादिनिप्रत्ययो न प्राप्नोतीत्याह व्रीह्यादिष्विति। यथा कथञ्चिदभ्युपगमेऽपि वा तदन्तविधेः स दोषस्तदवस्थः। न कर्मधारयान्मत्वर्थीय इति निषेधादित्याह—भवत्विति। कर्मधारयबहुव्रीहिक्रमपरीक्षायां बहुव्रीहिपरिपाटी श्रेयसी। लाघवात्, अतश्चित्रगुशब्दादिवत् बहुव्रीहेर्नमत्वर्थीयस्य प्राप्तिरित्याह–लघुत्वादिति। प्रयोगानुपपत्तिप्रतिपादनं निगमयति—तत् कथमिति। चतुरस्रं शोभितुं शीलमस्येति विग्रहे, सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये इति ताच्छीलिके णिनिप्रत्यये सति चतुरस्रशोभीति सिद्धयतीति सिद्धान्तयति–चतुरस्रं शोभत इतीति। ननु चतुरस्रशोभीत्यत्र समर्थितेऽपि साधुत्वेऽनुमेयशोभीति न सिद्धयति, उक्तन्यायाऽप्रवृत्तेरिति शङ्कते–अथेति

तदप्रवृत्तिमेव दर्शयति—न ह्यत्रेति। चतुरस्रशोभीतिवदनुमेयं शोभितुं शील-मस्येति विग्रहे विवक्षितार्थाऽसिद्धिः। कर्मविवक्षाया असंभवात्। अविवक्षिते कर्मण्युपपदे कृत्प्रत्ययः कर्तुं न शक्यत इति शङ्कार्थः। ताच्छीलिकणिनेरसम्भवेऽपि, साधुकारिणि चेति वक्तव्यबलात्। आवश्यकाधर्मण्ययोर्णिनिरिति सूत्राद्वा साधुकारिण्यावश्यके वार्थे विवक्षिते णिनिः सिद्धयति। ततः शोभिनो भाव इति भावार्थे त्वप्रत्यये सति पश्चादनुमेयं शोभित्वं यस्येति बहुव्रीहौ सत्यनन्तरम्, उक्तार्थानामप्रयोग इति त्वप्रत्ययस्य निवृत्तौ च सत्यामनुमेयशोभीति सिद्धयतीति परिहरति—शुभेरिति ॥ ५८ ॥

कञ्चुकीया इति क्यचि ॥ ५९ ॥

जीवन्ति राजमहिषीमनु कञ्चुकीया इति कथम्। मत्वर्थीयस्य छप्रत्ययस्याभावात्। अत आह। क्यचि। क्यचि प्रत्यये सति कञ्चुकीया इति भवति। कञ्चुकमात्मन इच्छन्ति कञ्चुकीयाः ॥ ५९ ॥

हिन्दी—क्यच् प्रत्यय से 'कञ्चुकीया' यह प्रयोग सिद्ध होता है।

'राजमहिषी से कञ्चुकीय जीते हैं।' इस 'कञ्चुकीय' पद की सिद्धि पर शंका उपस्थित की गई है कि मत्त्वर्थीय 'छ' प्रत्यय के अभाव होने से यह प्रयोग असिद्ध है। समाधान में कहते हैं कि क्यच् प्रत्यय होने पर यह 'कञ्चुकीय' पद सिद्ध होता है। इसका विग्रह हुआ—'कञ्चुकमात्मन इच्छति'। (अपने लिए कञ्चुक चाहते हैं)। इस अर्थ में 'सुप आत्मनः क्यच्' इस सूत्र से क्यच् प्रत्यय होने से यह पद शुद्ध है॥ ५९ ॥

कञ्चुकीया इति। कञ्चुका येषां सन्तीति कञ्चुकीया इति न शक्यते वक्तुम् छप्रत्ययस्य मत्वर्थीयस्याभावात्, कथं कञ्चुकीया इति चोदयति। जीवन्तीत्यादिना। कञ्चुकगात्मन इच्छन्तीत्येतस्मिन्नर्थे, सुप आत्मनः क्यच् इति क्यचि कृते, क्यचि चेतीकारे च सति ततः पचाद्यचि कृते कञ्चुकीया इति सिद्धयतीति परिहरति—क्यचि प्रत्यये सतीति ॥ ५९ ॥

बौद्धप्रतियोग्यपेक्षायामप्यातिशायनिकाः ॥ ६० ॥

बौद्धस्य प्रतियोगिनोऽपेक्षायामप्यातिशायनिकास्तरवादयो भवन्ति। घनतरं तमः, बहुलतरं प्रमेति ॥ ६० ॥

हिन्दी—बौद्ध (शब्द से अनुपात्त होने पर भी) प्रतियोगी की अपेक्षा में भी अतिशयवाचक तरप् तमप् आदि प्रत्यय होते हैं। यथा—'घनतरं तमः', 'बहुलतरं प्रेम'। यहाँ बुद्धिनिष्ठ प्रतियोगी की अपेक्षा में अतिशयार्थक तरप् प्रत्यय है॥ ६० ॥

बौद्धप्रतियोग्यपेक्षायामिति । इदं घनमिदं च घनमिदमनयीरतिशयेन घनमिति विग्रहे शब्दोपात्तप्रतियोग्यपेक्षयाऽतिशयनार्थे तरवादिविधानादसति शब्दोपात्ते प्रतियोगिनि घनतरं तम इति प्रयोगः कथमिति चिन्तायां बुद्धि-सन्निधापितेऽपि प्रतियोगिन्यातिशायनिकाः प्रत्यया भवन्तीति दर्शयति बौद्ध-स्येति ।। ६० ।।

कौशिलादय इलचि वर्णलोपात् ॥ ६१ ॥

कौशिलो, वासिल इत्यादयः कथम , आह । कौशिकवासिष्ठादि-भ्यः शब्देभ्यो नीतावनुकम्पायां वा, घनिलचौ चेतीलचि कृते, ठाजा-दावूर्ध्वं द्वितीयादच इति वर्णलोपात् सिद्धयन्ति ॥ ६१ ॥

हिन्दी—कौशिल आदि शब्द इलच् प्रत्यय के विधान में वर्णलोप से सिद्ध होते हैं।

'अनुकम्पितः कौशिकः कौशिल' 'अनुकम्पितो वसिष्ठः वासिलः' इस विग्रह में प्रयुक्त 'कौशिल' 'वासिल' पद कैसे बनते हैं ? इस प्रश्न के समाधान में कहते हैं कि कौशिक या वशिष्ठ आदि शब्दों के साथ नीति या अनुकम्पा में 'घनिलचौ च' सूत्र से इलच् प्रत्यय करने पर 'ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः' सूत्र से वर्ण के लोप होने पर कौशिल एवं वासिलः शब्द बन सकते हैं ।। ६१ ।।

कौशिलादय इति । अनुकम्पितः कौशिकः, अशुकम्पितो वासिष्ठ इत्यस्मि-न्नर्थे कौशिलो वासिल इत्यादयः प्रयोगाः कथमिति विचारणायां, घनिलचौ चेति सूत्रेणाऽनुकम्पायान्नीतौ वा बह्वचो मनुष्यनाम्नः घनिलचौ प्रत्ययौ विधीयेते । अतः कौशिकवासिष्ठशब्दाभ्यामुक्तलक्षणाभ्यामिलचि कृते, ठाजादा-वूर्ध्वं द्वितीया च इत्यजादौ प्रत्यये परतः प्रकृतेर्द्वितीयादचः परस्य शब्दरूपस्य लोपे सति, यस्येति चेतीकारलोपे च कौशिलो वासिल इत्यादयः प्रयोगाः सिद्धयन्तीति समर्थयते कौशिलो वासिल इति ।। ६१ ।।

मौक्तिकमिति विनयादिपाठात् ॥ ६२ ॥

मुक्तैव मौक्तिकमिति विनयादिपाठात् द्रष्टव्यम् । स्वार्थिकाश्च प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते इति नपुंसकत्वम् ॥ ६२ ॥

हिन्दी—मौक्तिकादि गण में पठित होने से 'मौक्तिकम्' पद सिद्ध है।

'मुक्तैव मौक्तिकम्' इस अर्थ में 'मौक्तिकम्' पद विनयादि गण में पठित होने से

सिद्ध है। स्वार्थिक प्रत्ययान्त प्रकृति के लिङ्ग एवं वचन भिन्न हो सकते हैं। भाष्यकार के इस वचन से 'मौक्तिक' नपुंसक माना गया है ॥ ६२ ॥

मौक्तिकमिति। विनयादिषु पाठेऽभ्युपगते, विनयादिभ्यष्ठक् इति स्वार्थिके ठकि कृते मौक्तिकमिति सिद्ध्यतीत्याह—मुक्तैव मौक्तिकमिति अत्र प्रकृतिलिङ्गस्यातिक्रमणे भाष्यकारवचनं प्रमाणयति स्वार्थिका इति ॥ ६२ ॥

प्रातिभादयः प्रज्ञादिषु ॥ ६३ ॥

प्रातिभादयः शब्दाः प्रज्ञादिषु द्रष्टव्याः प्रतिभाविकृतिद्विता-दिभ्यः शब्देभ्यः प्रज्ञादिपाठादणि स्वार्थिके कृते, प्रातिभं, वैकृतं, द्वैतमित्यादयः प्रयोगाः सिद्ध्यन्तीति ॥ ६३ ॥

हिन्दी—प्रातिभ आदि शब्द प्रज्ञादि गण में हैं। प्रतिभा, विकृति, द्विता आदि शब्दों के प्रज्ञादि गण में पठित होने से उनके साथ स्वार्थ में अण् प्रत्यय करने पर 'प्रातिभम्, वैकृतम्, द्वैतम्' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं ॥ ६३ ॥

प्रातिभादय इति। प्रज्ञादिभ्यश्चेति स्वार्थिकोऽण् विधीयते। प्रतिभादीनामप्यत्र पाठाभ्युपगमेन स्वार्थिकेऽणप्रत्यये कृते, प्रातिभं, वैकृतं, द्वैतं, चारित्रमित्यादयः सिद्ध्यन्तीति व्याचष्टे—प्रातिभादयः शब्दा इति ॥ ६३ ॥

न सरजसमित्यनव्ययीभावे ॥ ६४ ॥

मधुसरजसं मध्येपद्मं पिबन्ति शिलीमुखा इत्यादिषु सरजसमिति न युक्तः प्रयोगोऽनव्ययीभावे। अव्ययीभाव भाव एव सरजसशब्द-स्येष्टत्वात् ॥ ६४ ॥

हिन्दी—अव्ययीभाव की सीमा से वाहर 'सरजसम्' का प्रयोग अशुद्ध है।
'पद्म के मध्य में भ्रमर पराग सहित मधु का पान करते हैं।'

यहाँ 'सरजसम्' प्रयोग अव्ययीभाव से वाहर होने से अयुक्त है। अव्ययीभाव में ही सरजसम् पद का विधान होता है ॥ ६४ ॥

न सरजसमिति। वहुव्रीहिप्रयोगो न साधुरिति दर्शयितुमाह—मधु सरजसमित्यादिना। अनव्ययीभावे प्रयोगो न युक्तः। रजसः सह वर्तत इति सरजसमिति बहुव्रीहिसमासो न सिद्ध्यति। तस्मिन् हि सति सरजस्कमितिस्यात्। अव्ययीभावे तु सिद्ध्यति। अव्ययं विभक्ति इत्यादिना साकल्यार्थेऽव्ययीभावे कृते, अचतुरादिसूत्रेणाकारान्तत्वनिपातनात् सरजसमिति भवति। तथा चाह

वृत्तिकारः। तत एकोऽव्ययीभावः साकल्ये। सरजसमभ्यवहरतीति। बहुव्रीहो न भवति। रजसा सह वर्तते इति सरजस्कं पङ्कजमितीति ॥ ६४॥

न धृतधनुषीत्यसंज्ञायाम् ॥ ६५ ॥

धृतधनुषि शौर्यशालिनि इत्यत्र धृतधनुषीत्यसंज्ञायां न युक्तः प्रयोगः। धनुषश्चेत्यनङ् विधानात्। संज्ञायां ह्यनङ् विकल्पितः। वा संज्ञायामिति ॥ ६५ ॥

हिन्दी—'धृतधनुषि' प्रयोग असंज्ञा में युक्त नहीं है।

'धृतधनुषि शौर्यशालिनि' में असंज्ञा में 'धृतधनुषि' प्रयोग अशुद्ध है, क्योंकि 'धनुषश्च' सूत्र से अनङ् विधान होने पर 'धृतधनुः' प्रयोग नहीं, किन्तु 'धृतधन्वा' होगा। संज्ञा में वा संज्ञायाम्' से अनङ् वैकल्पिक है ॥ ६५ ॥

न धृतधनुषीति। निगदव्याख्यातमेतत् ॥ ६५ ॥

दुर्गन्धिपद इद् दुर्लभः ॥ ६६ ॥

दुर्गन्धिः काय इत्यादिषु दुर्गन्धिपद इत् समासान्तो दुर्लभः। उत्पूत्यादिषु दुःशब्दस्याऽपाठात् ॥ ६६ ॥

हिन्दी—दुर्गन्धि पद में इत् दुर्लभ है।

'दुर्गन्धः कायः' आदि प्रयोगों में 'दुर्गन्धि' पद में समासान्त इत् की प्राप्ति नहीं है। 'गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः' में 'दुः' का पाठ नहीं रहने से 'दुर्गन्धि' में इत् नहीं हो सकता ॥ ६६ ॥

दुर्गन्धिपद इति। गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्य इत्युदादिभ्यश्चतुर्भ्यः परस्य गन्धशब्दस्य समासान्तविधानादुदादिषु दुरो ग्रहणाभावाद् दुर्गन्धिरिति प्रयोगो न साधुरिति दर्शयति। दुर्गन्धिः काय इति ॥ ६६ ॥

सुदत्यादयः प्रतिविधेयाः ॥ ६७ ॥

सा दक्षरोषात् सुदती ससर्जेति, शिखरदति पतति रशना इत्यादिषु सुदत्यादयः शब्दा प्रतिविधेयाः। दत्रादेशलक्षणाभावात्। तत्र प्रतिविधानम्। अग्रान्तादिसूत्रे चकारस्याऽनुक्तसमुच्चयार्थत्वात् सुदत्यादिषु दत्रादेश इत्येके। अन्ये तु वर्णयन्ति। सुदत्यादयः स्त्र्यभि-

धायिनो योगरूढशब्दाः। तेषु, स्त्रियां संज्ञायामिति दत्रादेशो विकल्पेन सिद्ध एवेति ॥ ६७ ॥

हिन्दी—सुदती आदि शब्द समाधेय हैं।

'सा दक्षरोषात् सुदती ससर्ज', 'शिखरदति पतति रशना' आदि निदर्शनों में 'सुदती' 'शिखरदति' आदि शब्दों का समाधान होना चाहिए। यहाँ दतृ आदेश के विधायक सूत्र के अभाव होने से ये प्रयोग अशुद्ध लगते हैं। इसका समाधान है—(१) 'अग्रान्तशुद्धशुभ्रवराहेभ्यश्च' सूत्र में चकार के अनुक्त समुच्चयार्थक मानने से सुदती आदि शब्दों में 'दतृ' का आदेश सम्भव है। (२) दूसरा समाधान है कि सुदती आदि शब्द स्त्रीवाची योगरूढ है। उनमें 'स्त्रियां संज्ञायाम्' सूत्र से दतृ का वैकल्पिक आदेश होता ही है, अतः सुदती पद का प्रयोग युक्त है ॥ ६७ ॥

सुदत्यादय इति। वयस्यविवक्षिते दत्रादेशप्राप्तेरभावेऽपि शिष्टप्रयुक्तत्वात् सुदत्यादयः प्रतिविधेयाः समाधेयाः। अत्र केचिदग्रान्तादिसूत्रे चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वादहिदान्नित्यादिष्विव दत्रादेशे कृते, उगितश्चेति ङीपि सति सुदत्यादयः सिद्धयन्तीति प्रतिविदधते। अपरे तु—स्त्रीमात्राभिधायिनो योगरूढाः सुदत्यादय इति स्त्रियां, वा संज्ञायामिति दत्रादेशे सिद्धयन्तीति वदन्तीत्यभिप्रायेण व्याचष्टे—सा दक्षरोषादित्यादिना ॥ ६७ ॥

क्षतदृढोरस इत्यस्य साधुत्वं समर्थयितुं प्रथमं तावत् प्रामाणिकप्रयोगं प्रदर्शयति।

क्षतदृढोरस इति न कप् तदन्तविधिप्रतिषेधात् ॥ ६८ ॥

प्लवङ्गनखकोटिभिः क्षतदृढोरसो राक्षसा इत्यत्र दृढोरःशब्दाद्, उरःप्रभृतिभ्यः कप् इति कप् न कृतः। ग्रहणवता प्रातिपदिकेनेति तदन्तविधेः प्रतिषेधात्। समासवाक्यं त्वेवं कर्तव्यम्—क्षतं दृढोरो येषामिति ॥ ६८ ॥

हिन्दी—तदन्त विधि के निषेध से 'क्षतदृढोरसः' प्रयोग में कप् प्रत्यय नहीं हो सकता।

'राक्षसगण, जिनका दृढ उरःस्थल वानरों के नखकोटि से क्षत हो गया है।' यहाँ 'दृढोरः' शब्द से 'उरःप्रभृतिभ्यः कप्' से कप् नहीं हुआ है, क्योंकि 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन' से तदन्त विधि का प्रतिषेध होता है। इसमें विग्रह-वाक्य इस प्रकार है—दृढञ्च तदुरः दृढोरः (कर्मधारय), उसके बाद 'क्षतं दृढोरः येषाम्' (बहुव्रीहि) ॥६८॥

प्लवङ्गेति। ननु बहुव्रीहौ समासे, उरःप्रभृतिभ्यो नित्यं कब्विधानात्, क्षतदृढोरस्क इति कपा भवितव्यमिति प्राप्ते कबभावे कारणं कथयितुमाह—उरःप्रभृतिभ्य इति। ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नेष्यते इति वचनादुरःशब्दान्तात् कप्प्रत्ययो न भवति। तथा च विग्रहवाक्यमेवं कर्तव्यम्। दृढं च तदुरश्च दृढोरः। क्षतं दृढोरो येषामिति। अतः क्षतदृढोरस इति सिद्धयतीत्यर्थः ।। ६८ ।।

अवैहीति वृद्धिरवद्या ।। ६९ ।।

अवैहीत्यत्र वृद्धिरवद्या। गुण एव युक्त इति ।। ६९ ।।

हिन्दी—'अवैहि' यहाँ वृद्धि निन्दनीय है।

'अवैहि' पद में वृद्धि ठीक नहीं, गुण ही उचित है ।। ६९ ।।

अवैहीति। अवैहीत्यत्र इणो लोण्मध्यमपुरुषे, सेर्ह्यपिच्चेति ह्यादेशे सति ङिद्वद्भावाद् गुणाभावे, इहीतिरूपम्। ततश्चावशब्दस्य प्राक्प्रयोगे, आद् गुण इति गुणे सति, अवेहीति भवति। एत्येधत्यूठ्स्वित्यत्र, एतेरेचि इत्यमुवर्तनाद् वृद्धिर्न भवति। नन्ववाङोरुभयोरुपसर्गयोः प्राक्प्रयोगे वृद्धिः सिद्धयतीति न चोदनीयम्। ओमाङोश्चेति पररूपप्रसङ्गात्। तस्मादवैहीत्यत्र वृद्धिरसाधीयसीत्यर्थः ।। ६९ ।।

अपाङ्गनेत्रेति लुगलभ्यः ।। ७० ।।

अपाङ्गे नेत्रं यस्याः सेयमपाङ्गनेत्रेत्यत्र लुगलभ्यः। अमूर्धमस्तकात् स्वाङ्गादकामे इति सप्तम्या अलुग्विधानात् ।। ७० ।।

हिन्दी—'अपाङ्गनेत्रा' में सप्तमी का लोप असम्भव है।

'अपाङ्गे नेत्रे यस्याः सेयमपाङ्गनेत्रा' यहाँ लुक् की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि 'अमूर्धमस्तकात् स्वाङ्गादकामे' इस सूत्र से काम शब्द को छोड़कर स्वाङ्गवाची शब्दों के परे रहने पर सप्तमी का लुक् नहीं होता है। अतः कण्ठेकालः आदि प्रयोगों की तरह 'अपाङ्गेनेत्रा' प्रयोग शुद्ध है ।। ७० ।।

अपाङ्गनेत्रेति। नेत्रशब्देन समुदायवाचिना तदेकदेशः कनीनिका लक्ष्यते। ततश्चापाङ्गे नेत्रं कनीनिका यस्याः सापाङ्गेनेत्रेति प्रयोक्तव्यं, न त्वपाङ्गनेत्रेति। अमूर्धमस्तकात् स्वाङ्गादकामे इति नित्यं सप्तम्या अलुग्विधानादित्यभिप्रायवानाह—अपाङ्गे नेत्रमिति ।। ७२ ।।

नेष्टाः श्लिष्टप्रियादयः पुंवद्भावप्रतिषेधात् ।। ७१ ।।

श्लिष्टप्रियः, विश्लिष्टकान्त इत्यादयो नेष्टाः। स्त्रियाः पुंवदिति पुंवद्भावस्य प्रियादिषु निषेधात् ।। ७१ ।।

हिन्दी—श्लिष्टप्रिय आदि प्रयोग इष्ट नहीं है पुंवद्भाव के प्रतिषेध होने से।

प्रिय आदि के परे रहने पर पुंवद्भाव का निषेध हो जाता है और 'श्लिष्टा प्रिया येन' इस प्रकार का विग्रह करने पर पुंवद्भाव करने के कारण 'श्लिष्टप्रियः' यह प्रयोग अशुद्ध है। इसी प्रकार 'विश्लिष्टकान्तः' आदि प्रयोग भी इष्ट नहीं है क्योंकि 'स्त्रियाः पुंवदिति' सूत्र से प्रियादि के परे पुंवद्भाव का निषेध होता है॥ ७१॥

नेष्टा इति। श्लिष्टा प्रिया येन, विश्लिष्टा कान्ता यस्मात् स श्लिष्टप्रियो, विश्लिष्टकान्त इत्यादयः प्रयोगा इष्टा न भवन्ति। स्त्रियाः पुंवदित्यादिसूत्रे प्रियादिषु पुंवद्भावप्रतिषेधादिति दर्शयति श्लिष्टप्रिय इत्यादिना॥ ७१॥

दृढभक्तिरसौ सर्वत्र॥ ७२॥

दृढभक्तिरसौ ज्येष्ठे, अत्र पूर्वपदस्य, स्त्रियामित्यविवक्षितत्वात्॥ ७२॥

हिन्दी—'दृढभक्तिः' यह प्रयोग सर्वत्र मिलता है।

'दृढभक्तिरसौ ज्येष्ठे' (कालिदास-रघुवंश)

'दृढा भक्तिर्यस्य' इस प्रकार विग्रह कर स्त्रीत्व की अविवक्षा में 'दृढभक्तिः' पद सिद्ध हो सकता है॥ ७२॥

दृढभक्तिरिति। अत्र भक्तिशब्दस्य प्रियादिपाठात् पर्वपदस्य पुंवद्भावो दुर्घट इति प्राप्ते पूर्वपदस्य दृढशब्दस्य विग्रहवाक्ये स्त्रीत्वस्याविवक्षितत्वाद् दृढभक्तिरिति सिद्धयतीत्याह—अत्रेति। तथा चाह वृत्तिकारः—दृढभक्तिरित्येवमादिषु पूर्वपदस्य स्त्रीत्वस्याविवक्षितत्वात् सिद्धमिति समाधेयमिति। गणव्याख्यानकारोऽपि, दृढं भक्तिरस्येति नपुंसकपूर्वपदो बहुव्रीहिरिति। न्यासकारोऽपि—अदार्ढ्यनिवृत्तिपरे दृढशब्दे लिङ्गविशेषस्यानुपकारकत्वात् स्त्रीत्वमविवक्षितमेव, तस्मादस्त्रीलिङ्गस्यैव दृढशब्दस्यायं प्रयोग इत्यभिप्राय इति। भोजराजस्त्वन्यथा समाधत्ते। भक्तौ च कर्मसाधनायामित्यत्र सूत्रे कर्मसाधनस्यैव भक्तिशब्दस्य प्रियादिषु पाठाद् भवानीभक्तिरित्यादौ पुंवद्भावप्रतिषेधः। दृढभक्तिरित्यादौ भावसाधनत्वात् पुँवद्भावे सिद्धे स्त्री पूर्वपदत्वमेवेति॥ ७२॥

जम्बुलतादयो ह्रस्वविधेः॥ ७३॥

जम्बुलतादयः प्रयोगाः कथं। आह—ह्रस्वविधेः। इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्येति ह्रस्वविधानात॥ ७३।

हिन्दी—ह्रस्व के विधान होने से जम्बुलता आदि पदों की सिद्धि होती है। 'इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य' सूत्र से ह्रस्व का विधान होता है। अतः 'जम्बूलता' न होकर 'जम्बुलता' होता है ॥ ७३ ॥

जम्बुलतादय इति। इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्येति ङ्यन्तव्यतिरिक्तस्येगन्तस्योत्तरपदे परतो विकल्पेन ह्रस्वविधानाज्जम्बुलतादयः सिद्धा इत्याह—जम्बुलतादय इति ॥ ७३ ॥

तिलकादयोऽजिरादिषु ॥ ७४ ॥

तिलकादयः शब्दा अजिरादिषु द्रष्टव्याः। अन्यथा, तिलकवती कनकवतीत्यादिषु मतुपि, मतौ बह्वचोऽनजिरादीनामिति दीर्घत्वं स्यात्। अन्ये तु वर्णयन्ति—नद्यां मतुबिति यो मतुप् तत्रायं विधिः। तेषां मतेनाऽमरावतीत्यादीनामसिद्धिः ॥ ७४ ॥

हिन्दी—तिलक आदि शब्द अजिरादि गण में हैं।

तिलक आदि शब्द इस गण में नहीं आते तो तिलकवती, कनकवती आदि में मतुप् के परे रहने से 'मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम्' सूत्र से दीर्घत्व की प्राप्ति होती 'तथा' 'तिलकवती' न होकर 'तिलकावती' प्रयोग होता। अन्यव्याख्याकार के मत में 'नद्यां मतुप्' सूत्र से विहित मतुप् में ही दीर्घ विधान हुआ है। उनके मतानुसार अमरावती आदि पद असिद्ध हैं ॥ ७४ ॥

तिलकादय इति। मतौ बह्वचोऽनजिरादीनामिति मतुप्प्रत्यये परतोऽजिरादिवर्जितस्य बह्वचो दीर्घविधानात्तिलकादीनामजिरादिपाठाभ्युपगमेन दीर्घनिषेधात्तिलकवतीत्यादयः सिद्धयन्तीत्याह। तिलकादयः शब्दा इति। अजिरादिषु पाठानभ्युपगमे प्रयोगविरोधं प्रदर्शयति—अन्यथेति। परे तु-प्रकारान्तरेण प्रयोगं प्रतिष्ठापयन्ति। तेषां मतं दूषयितुमनुभाषते अन्ये त्विति। यत्र, नद्यां मतुबिति नदीविषये मतुप्प्रत्ययो विधीयते तत्रायं दीर्घविधिः। तिलकादिषु, तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुब्विधानात्तिलकवतीत्यादिषु दीर्घाभाव इति। तदेतद् दूषयति तेषामिति ॥ ४७ ॥

निशम्यनिशमय्यशब्दौ प्रकृतिभेदात् ॥ ७५ ॥

निशम्य निशमय्येत्येतौ शब्दौ श्रुत्वेत्येतस्मिन्नर्थे। शमेः, ल्यपि लघुपूर्वादित्ययादेशे सति निशमय्येति भवितव्यम्, न निशम्येति। आह—प्रकृतिभेदात्। शमेदवादिकस्य निशम्येति रूपम्।

शमोऽदर्शने इति चुरादौ णिचि मित्संज्ञकस्य निशमय्येति रूपम् ॥७५॥

हिन्दी—'निशम्य' एवं निशमय्य' प्रयोग प्रकृति भेद से शुद्ध हैं।

ये दोनों शब्द 'श्रुत्वा' के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। शम् धातु से 'ल्यपि लघुपूर्वात्' सूत्र से अय् आदेश होने पर निशमय्य' प्रयोग होगा, न कि 'निशम्य' होगा।

समाधान में कहते हैं कि प्रकृति के भेद से 'निशम्य' शब्द निष्पन्न होता है। दिवादि गणीय शम् धातु से 'निशम्य' रूप बनता है और चुरादि गणीय 'शमोऽदर्शने' धातु से णिच् की प्राप्ति होने पर मित् संज्ञा में 'निशमय्य' रूप बनता है ॥ ७५ ॥

निशम्येति। दिवादिपाठादण्यन्तशमेरेका प्रकृतिः। चुरादिषु पाठात्, शमो दर्शने इति श्रवणार्थे मित्संज्ञको णिजन्तः शमिरपरा प्रकृतिः। अतः प्रकृतिभेदाद्रूपद्वयसिद्धिरित्याह—निशम्येत्यादि ॥ ७५ ॥

संयम्यनियम्यशब्दावणिजन्तत्वात् ॥ ७६ ॥

कथं संयम्यनियम्यशब्दौ। ल्यपि लघुपूर्वादिति णेरयादेशेन भवितव्यम्। आह—अणिजन्तत्वात्। धातोर्णिच् तु न। गतार्थत्वात्। यथा, वाचं नियच्छति इति। णिजर्थानवगतौ णिच् प्रयुज्यते एव। यथा, संयममितुमारब्ध इति ॥ ७६ ॥

हिन्दी—धातु के अणिजन्त होने से 'संयम्य' एवं 'नियम्य' प्रयोग होते हैं।

प्रश्न उठता है कि 'संयम्य' एवं 'नियम्य' शब्दों में 'ल्यपि लघुपूर्वात्' सूत्र से 'णि' के स्थान में अय् आदेश होने के कारण ये 'संयम्य' एवं 'नियम्य' प्रयोग बन सकते हैं? धातु के अणिजन्त होने से यह संभव है। गतार्थता के कारण यहाँ णिच् का विधान नहीं हो सकता। जैसे वाचं नियच्छतीति। णिजर्थ का बोध न होने पर णिच् का प्रयोग होता ही है। जैसे—संयमयितुमारब्धः (बंधवाना शुरू किया) ॥७६॥

संयम्येति। प्रयोजकव्यापारप्रतीतेरत्र णिचा भवितव्यम्। तस्मिंस्तु सति, ल्यपि लघुपूर्वादिति णेरयादेशे संयम्य, निशम्येति प्रयोक्तव्यम्। कथं, संयम्यनियम्यशब्दाविति प्रयोक्तुरभिप्रायः। शङ्कामिमां शकलयितुं हेतुमाह—अणिजन्तत्वादिति। णिजभावाण्णेरयादेशो न प्रसज्ज्यत इत्यर्थः। ननु प्रयोजकव्यापारप्रतीतौ णिच्प्रत्ययः किं न स्यादित्यत आह–णिच् तु नेति। गतार्थत्वात् प्रयोजकव्यापारशून्यस्य सकर्मकस्य प्रकृत्यर्थस्य धातुनैवाभिहितत्वादित्यर्थः। तत्र दृष्टान्तमाह—यथा वाचमिति। यत्र णिजर्थः स्वभावतो नावगम्यते तत्र णिच् प्रयुज्यत एवेति दर्शयति—णिजर्थानवगताविति ॥ ७६ ॥

प्रपीयेति पीङः ॥ ७७ ॥

प्रपीयेत्ययं शब्दः, पीङ् पाने इत्येतस्य पिबतेर्हि, न ल्यपि इतीत्वप्रतिषेधात् प्रपायेति भवति ॥ ७७ ॥

हिन्दी—पीङ् (पाने) धातु से प्रपीय प्रयोग बनता है। पिबति (पा पाने) धातु से तो 'न ल्यपि' सूत्र से इत्व का पतिषेध होने से 'प्रपाय' होता है ॥ ७७ ॥

प्रपीयेति । पीङ् पाने इति धातोर्ल्यबन्तमिदं, न तु पिबतेः । तस्य न ल्यपीतीत्वप्रतिषेधादित्याह—पिबतेरिति ॥ ७७ ॥

दूरयतीति बहुलग्रहणात् ॥ ७८ ॥

दूरयत्यवनते विवस्वति इत्यत्र दूरयतीति कथम् । णाविष्ठवद्भावे, स्थूलदूर इत्यादिना गुणलोपयोः कृतयोर्दवयतीति भवितव्यम् । आह—बहुलग्रहणात् । प्रतिपादिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्चेत्यत्र बहुलग्रहणात् स्थूलदूरादिसूत्रेण यद् विहितं तन्न भविष्यतीति ॥७८॥

हिन्दी—'दूरयति' यह प्रयोग बहुल ग्रहण से होता है। 'दूरयत्यवनते विवस्वति' में 'दूरयति' का प्रयोग कैसे हुआ ? इसका रूप तो णिच् के होने पर इष्ठवद् भाव के कारण 'स्थूलदूर' इत्यादि सूत्र से गुण और 'र' के लोप से 'दवयति' होना चाहिए।

उत्तर है कि यह बहुल ग्रहण के कारण हुआ है। 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च' सूत्र में बहुल के कारण नियम की प्रवृत्ति यहाँ नहीं होगी। अतः 'दूरयति' प्रयोग युक्तिसंगत है ॥ ७८ ॥

दूरयतीति प्रयोगस्य साधुत्वं समर्थयितुं शङ्कामिमामङ्कुरयति दूरयतीति—शेषं सुगमम् ॥ ७८ ॥

गच्छतीप्रभृतिष्वनिषेध्यो नुम् ॥ ७९ ॥

हरति हि वनराजिर्गच्छती श्यामभावमित्यादिषु गच्छतीप्रभृतिषु शब्देषु, शप्श्यनोर्नित्यमिति नुम् अनिषेध्यो निषेद्धुमशक्यः ॥ ७९ ॥

हिन्दी—'गच्छती' आदि में नुम् का निषेध संभव नहीं है।

'श्यामभाव को प्राप्त करती हुई बन-पंक्ति हृदय को हर लेती है।' यहाँ 'गच्छती' आदि शब्दों में नुम् 'शप्श्यनोर्नित्यम्' से नुम् अनिवार्य है ॥ ७९ ॥

गच्छतीप्रभृतिष्विति । शप्श्यनोर्नित्यमिति नित्यं नुमागमस्य विधानाद् गच्छतीत्यादयो न साधव इत्यर्थः ॥ ७९ ॥

मित्रेण गोप्त्रेति पुंवद्भावात् ॥ ८० ॥

मित्रेण गोप्त्रेति कथम् गोप्तृणा भवितव्यम् । इकोऽचि विभक्ता-विति नुम्विधानात् । आह—पुंवद्भावात् । तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्येति पुंवद्भावेन गोप्त्रेति भवति ॥ ८० ॥

हिन्दी—'मित्रेण गोप्त्रा' पुंवद्भाव से होता है।

'मित्रेण गोप्त्रा' कैसे ? 'गोप्तृणा' होना चाहिए क्योंकि 'इकोऽचि विभक्ती' सूत्र से नुम् का विधान होता है।

समाधान में यह कहा जाता है कि पुंवद्भाव होने से 'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य' ॥ ८० ॥

मित्रेण गोप्त्रेति । स्पष्टमवशिष्टम् ॥ ८० ॥

वेत्स्यसीति पदभङ्गात् ॥ ८१ ॥

पतितं वेत्स्यसि क्षितौ इत्यत्र वेत्स्यसीति न सिद्ध्यति । इट्-प्रसङ्गात् । आह—पदभङ्गात् सिद्ध्यति । वेत्स्यसीति पदं भज्यते—वेत्सि, असि । असीत्ययं निपातस्त्वमित्यस्मिन्नर्थे । क्वचिद्वाक्यालंकारे प्रयुज्यते । यथा, पार्थिवस्त्वमसि सत्यमभ्यधा इति ॥ ८१ ॥

हिन्दी—सूत्र से पुंवद्भाव होने से 'गोप्त्रा' हो सकता है।

'वेत्स्यसि' यह पदभङ्ग से बनता है।

'पतितं वेत्स्यसि क्षितौ' (पृथ्वी पर गिरा हुआ जानोगे) । यहाँ वेत्स्यसि की सिद्धि कैसे होगी ? इट् होने से 'वेदिष्यति' प्रयोग होगा। इसका समाधान है कि पदभङ्ग से वेत्स्यसि का विभाजन इस प्रकार होगा—वेत्सि + असि । यहाँ असि निपात त्वम् के अर्थ में आया है। कहीं यह वाक्यालङ्कार में भी प्रयुक्त होता है। यथा—

'पार्थिव त्वमसि सत्यमभ्यधाः' (हे नृप तुमने सत्य ही कहा) ॥ ८१ ॥

वेत्स्यसीति । विदेर्ज्ञानार्थस्यानुदात्तोपदेशत्वाभावादिडागमेन भवि-तव्यम् । तथा च वेत्स्यसीति न सिद्ध्यतीति चिन्तायां पदं विभज्य प्रयोगसाधुत्वं समर्थयते—पतितमित्यादिना ॥ ८१ ॥

कामयानशब्दस्सिद्धोऽनादिश्चेत् ॥ ८२ ॥

कामयानशब्दः सिद्धः । आगमानुशासनमनित्यमिति मुक्यकृते, यद्यनादिः स्यात् ॥ ८२ ॥

हिन्दी—अनादि काल से यह कामयान शब्द प्रयोग में है तो सिद्ध है।
'आगमानुशासनमनित्यम्' नियम से मुक् न होने से यह शब्द अनादि प्रयोग-वशात् सिद्ध माना जाता है ॥ ८२ ॥

कामयान इति । आगमानुशासनमनित्यमिति वचनात्, आने मुक् इत्यकृते मुगागमे कामयान इति । स च प्रामाणिकैः प्रयुक्तश्चेत् साधुरित्य-भिप्रायः ॥ ८२ ॥

सौहृददौर्हृदशब्दावणि हृद्भावात् ॥ ८३ ॥

सुहृदयदुर्हृदयशब्दाभ्यां युवादिपाठादणि कृते, हृदयस्य हृद्भावः । आदिवृद्धौ सौहृददौर्हृदशब्दौ भवतः । सुहृद्दुर्हृच्छब्दाभ्यां युवादि-पाठादेवाणि कृते, हृद्भगसिन्ध्वन्ते इति हृदन्तस्य तद्धितेऽणि कृते सत्युभयपदवृद्धौ सत्यां सौहार्दं दौहार्दमिति भवति ॥ ८३ ॥

हिन्दी—सौहृद और दौर्हृद शब्द अण् प्रत्यय करने पर हृदय शब्द का हृद् आदेश होने से साधु है । सुहृद् और दुर्हृद के युवादि में पठित होने से अण् प्रत्यय करने पर हृदय का हृद्भाव और आदि वृद्धि करने पर सौहृद और दौर्हृद शब्द बनते हैं । सुहृद् तथा दुर्हृद शब्दों से युवादि पाठ से ही अण् की स्थिति में 'हृद्भग-सिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' सूत्र से अण् प्रत्यय करने पर उभयपद-वृद्धि होने से सौहार्दम् तथा दौर्हार्दम् सिद्ध होते हैं ॥ ८३ ॥

सौहृददौर्हृदशब्दाविति । शोभनं हृदयं यस्य, दुष्टं हृदयं यस्येति विग्रह-सिद्धाभ्यां सुहृदयदुर्हृदयशब्दाभ्यां भावार्थे, हायनान्तयुवादिभ्योऽण् इत्यणि कृते सति, हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेष्विति हृदादेशे, तद्धितेष्वचामादेरित्यादि-वृद्धौ च सत्यां सौहृददौर्हृदशब्दौ सिद्धौ । अत्र हृच्छब्दस्य लाक्षणिकत्वाद्, हृद्भगसिन्ध्वन्ते इत्यत्र प्रतिपदोक्तस्य ग्रहणादुभयपदवृद्ध्यभावः । शोभनं हृद् यस्य, दुष्टं हृद् यस्येति विग्रहे, युवादिपाठादणि कृते, हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्व-पदस्येत्युभयपदवृद्धौ, सौदार्दं दौहार्दमिति च सिद्धमिति च व्याचष्टे । सुहृदय इत्यादिना ॥ ८३ ॥

विरम इति निपातनात् ॥ ८४ ॥

रमेरनुदात्तोपदेशत्वाद्, नोदात्तोपदेशस्येत्यादिना वृद्धप्रति-

षेधस्याभावात् कथं विरम इति । आह—निपातनात् । एतत्तु, यम उपरमे इत्यत्रोपरमे इति । अतन्त्रं चोपसर्ग इति ॥ ८४ ॥

हिन्दी—विरम शब्द निपातन से सिद्ध होता है ।

रम धातु के अनुदात्तोपदेश होने से 'नोदात्तोपदेशस्य' इत्यादि से वृद्धि-प्रतिषेध न होने पर विराम रूप होना चाहिए । 'विरम' प्रयोग कैसे होगा ? उत्तर देते हैं कि निपातन से । यह निपातन तो 'यम उपरमे' में उप उपसर्ग के साथ है लेकिन उपसर्ग प्रयोजक नहीं है । अतः 'उपरम' के समान 'विरम' प्रयोग भी हो सकता है ॥ ८४ ॥

विरम इति । विरमेर्मान्तत्वेऽपि अनुदात्तोपदेशत्वाद्, नोदात्तोपदेशस्येत्यादिना वृद्धिप्रतिषेधाभावाद् वृद्धौ सत्यां विराम इति युक्तं प्रयोक्तुं, कथं विरम इति प्राप्ते, यम उपरमे इत्यत्र निपातनात् सिद्ध्यतीति दर्शयति—रमेरिति । उपरम इति निपातेन विरम इत्यस्य किमायातमिति तत्राह—एतत्त्विति । एतत्तु निपातनं सोपसर्गस्य रमेरुपलक्षणमित्यवगन्तव्यम् ॥ ८४ ॥

उपर्यादिषु सामीप्ये द्विरुक्तेषु द्वितीया ॥ ८५ ॥

उपर्यादिषु शब्देषु सामीप्ये द्विरुक्तेषु, उपर्यध्यधसः सामीप्ये इत्यनेन, उपर्यादिषु त्रिषु—द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु इति द्वितीया । वीप्सायां तु द्विरुक्तेषु षष्ठ्येव भवति, उपर्युपरि बुद्धिनां चरन्तीश्वर बुद्धयः ॥ ८५ ॥

हिन्दी—'उपरि' आदि शब्दों के योग में सामीप्य अर्थ में द्विरुक्त होने पर द्वितीया होती है ।

'उपरि' आदि शब्दों के सामीप्यार्थ में 'उपर्यध्यधसः सामीप्ये' सूत्र से उपर्यादि तीनों में 'द्वितीयाम्रेडितान्तेषु' सूत्र से द्वितीया होती है । वीप्सामूलक द्विरुक्ति होने पर षष्ठी विभक्ति ही होती हैं । जैसे—

'उपर्युपरि बुद्धीनां चरन्तीश्वरबुद्धयः' ॥ ८५ ॥

उपर्यादिषु 'उपर्यध्यधसः सामीप्ये' इत्युपर्यादीनां सामीप्यार्थे द्विर्वचनविधानाद् विरुक्तैस्तैर्योगे सति द्वितीया विभक्तिर्भवतीति व्यवस्थामाह—उपर्यादिष्विति । क्रियागुणाभ्यां युगपत् प्रयोक्तुर्व्याप्तुमिच्छा वीप्सा ॥ ८५ ॥

मन्दं मन्दमित्यप्रकारार्थत्वे ॥ ८६ ॥

मन्दं मन्दं नुदति पवन इत्यत्र मन्दं मन्दमित्यप्रकाराऽर्थे भवति। प्रकारार्थत्वे तु, प्रकारे गुणवचनस्येति द्विर्वचने कृते कर्मधारयवद्भावे च मन्दमन्दमिति प्रयोगः। मन्दं मन्दमित्यत्र तु नित्यवीप्सयोरिति द्विर्वचनम्। अनेकभावात्मकस्य नुदेर्यदा सर्वे भावा मन्दत्वेन व्याप्तुमिष्टा भवन्ति तदा वीप्सेति ॥ ८६ ॥

हिन्दी—'मन्दं मन्दम्' यह प्रयोग अप्रकारार्थक होने से हो सकता है।

'मन्दं मन्दं नुदति पवनः' में 'मन्दं मन्दम्' वीप्सार्थक है। प्रकारार्थ में तो 'प्रकारे गुणवचनस्य' सूत्र से द्वित्व करने पर कर्मधारयवद्भाव की स्थिति में 'मन्दमन्दम्' प्रयोग उचित है। 'मन्दम् मन्दम्' में तो 'नित्यंवीप्सयोः' सूत्र से द्विर्वचन हुआ है। अनेक भावात्मक नुद् धातु के सब पदार्थों में एक साथ जब व्याप्ति वाञ्छित हो तब वह वीप्सा कहलाती है॥ ८६ ॥

मन्दं मन्दमिति। वीप्साप्रकारार्थयोः प्रयोगद्वयव्यवस्थां प्रतिपादयितुमाह—मन्दं मन्दं नुदतीति। कर्मधारयवद्भावे चेति। कर्मधारयवदुत्तरेषु इत्यनेन कर्मधारयवद्भावे सुलोपादिर्भवति। अनेकभावविषया व्याप्तुमिच्छा येति वीप्सा। तां दर्शयति—अनेकभावेति॥ ८६ ॥

न निद्राद्रुगिति भष्भावप्राप्तेः ॥ ८७ ॥

निद्राद्रुकाद्रवेयच्छविरुपरिलसद्घर्घरो वारिवाह इत्यत्र निद्राद्रुगिति न युक्तः। एकाचो बशो भष् इति भष्भावप्राप्तेः। अनुप्रासप्रियैस्तत्त्वपभ्रंशः कृतः ॥ ८७ ॥

हिन्दी—भष् भाव की प्राप्ति होने से 'निद्राद्रुक्' प्रयोग अशुद्ध है।

'ऊपर घर्घर शब्द से युक्त राक्षस के तुल्य मेघ निद्राद्रोही है।' यहाँ 'निद्राद्रुक्' प्रयोग अशुद्ध है, क्योंकि 'एकाचो बशो भष्' सूत्र से भष् भाव की प्राप्ति है। अनुप्रासप्रिय कवियों ने 'निद्राध्रुक्' को विकृत कर 'निद्राद्रुक्' बना दिया है॥ ८७ ॥

न निद्रेति। निद्राध्रुगिति वक्तव्यं निद्राद्रुगित्यपभ्रंश इत्याह निद्राद्रुक्काद्रवेय इति॥ ८७ ॥

निष्यन्द इति षत्वं चिन्त्यम् ॥ ८८ ॥

न ह्यत्र षत्वलक्षणमस्ति। कस्कादिपाठोऽप्यस्य न निश्चितः ॥८८॥

हिन्दी—'निष्यन्द' मे षत्व अशुद्ध है । यहाँ कोई षत्व-विधायक सूत्र नहीं मिलता । कस्कादिगण में इसका पाठ भी निश्चित नहीं है ॥ ८८ ॥

निष्यन्द इति । अत्र षत्वप्राप्तावनुशासनादर्शनात् कस्कादिष्वपि पाठानिश्चयाच्च षत्वं चिन्त्यं, निश्चेतुमशक्यमित्याह । न हीति ॥ ८८ ॥

नाङ्गुलिसङ्ग इति मूर्धन्यविधेः ॥ ८९ ॥

म्लायन्त्यङ्गुलिसङ्गेऽपि कोमलाः कुसुमस्रज इत्यत्राङ्गुलिसङ्ग इति न युक्तः । समासेऽङ्गुलेः षङ्ग इति मूर्धन्यविधानात् ॥ ८९ ॥

हिन्दी—'अङ्गुलिसङ्ग' प्रयोग षत्वहीन होने से अशुद्ध है ।

'कोमल फूल की मालाएं अङ्गुलिसङ्ग से भी म्लान होती हैं ।' यहाँ 'अङ्गुलिसङ्ग' अयुक्त है, क्योंकि 'समासेऽङ्गुलेः सङ्गः' से मूर्धन्य 'ष' का विधान प्राप्त है ॥ ८९ ॥

नाङ्गुलिसङ्ग इति । स्पष्टोऽर्थः ॥ ८९ ॥

तेनावन्तिसेनादयः प्रत्युक्ताः ॥ ९० ॥

तेनाङ्गुलिसङ्ग इत्यनेनावन्तिसेनः, इन्दुसेन एवमादयः शब्दाः प्रत्युक्ताः प्रत्याख्याताः । सुषामादिषु च एति संज्ञायामगादिति मूर्धन्यविधानात् ॥ ९० ॥

हिन्दी—उससे 'अवन्तिसेन' आदि प्रयोग भी खण्डित हो जाते हैं । 'सुषामादिषु च' और 'एति संज्ञायामगात्' सूत्रों से मूर्धन्य 'ष' का विधान होने से 'अवन्तिसेन', 'इन्दुसेन' आदि प्रयोग अशुद्ध हैं ॥ ९० ॥

तेनेति । सुषामादिषु चेति सूत्रे, एति संज्ञायामगादिति गणसूत्रबलादेकारपरस्यागकारात् परस्य संज्ञायां विषये मूर्धन्यादेशविधानादवन्तिसेनादयः प्रत्याख्याता इत्याह—तेनाङ्गुलिसङ्ग इत्यनेनेति ॥ ९० ॥

नेन्द्रवाहने णत्वमाहितत्वस्याविवक्षितत्वात् ॥ ९१ ॥

कुथेन नागेन्द्रमिवेन्द्रवाहनमित्यत्रेन्द्रवाहनशब्दे, वाहनमाहितादिति णत्वं न भवति । आहितत्वस्याऽविवक्षितत्वात् । स्वस्वामिभावमात्रं ह्यत्र विवक्षितम् । तेन सिद्धमिन्द्रवाहनमिति ॥ ९१ ॥

सदसन्तो मया शब्दा विविच्यैवं निदर्शिताः ।
अनयैव दिशा कार्यं शेषाणामप्यवेक्षणम् ॥ १ ॥

इति काव्याऽलङ्कारसूत्रवृत्तौ प्रायोयिके पञ्चमेऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः । शब्दशुद्धिः । समाप्तं चेदं प्रायोगिकं पञ्चमाधिकरणम् ।

हिन्दी—आहितत्व की अविवक्षा में 'इन्द्रवाहन' में णत्व नहीं होगा ।

'कुथेन नागेन्द्रमिवेन्द्रवाहनम्' में 'वाहनमाहितात्' से णत्व नहीं होता है। यहाँ भी आहितत्व अविवक्षित है। यहाँ केवल स्वामिभाव ही विवक्षित है। इसलिए 'इन्द्रवाहनम्' सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार मैंने साधु या असाधु शब्दों की विवेचना प्रस्तुत की है। इसी पद्धति से शेष शब्दों पर भी विचार करना चाहिए ॥ ९१ ॥

काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में प्रायोगिक नामक पञ्चम
अधिकरण में द्वितीय अध्याय समाप्त ।

प्रायोगिक नामक पञ्चम अधिकरण भी समाप्त ।

नेन्द्रवाहने णत्वमिति । चकासतं चारुचमूरुचर्मणा कुथेन नागेन्द्रमिवेन्द्रवाहनमित्यादिप्रयोगो दृश्यते, अत्र वाहनमाहिताद् इति सूत्रे आहितवाचि यत् पूर्वपदं तस्मान्निमित्तादुत्तरस्य वाहननकारस्य णकारादेशो विधीयते । वाहने यदारोपितं तदाहितमित्युच्यते। तस्मादिक्षुवाहणमितिवदिन्द्रवाहणमिति प्रयोक्तव्यं, न पुनरिन्द्रवाहनमिति प्राप्ते तन्निषेद्धुमाह—इन्द्रवाहनशब्द इति । अयमर्थः । पूर्वपदार्थस्येक्षुशरादेरिव नेन्द्रस्याहितत्वं विवक्ष्यते, किन्तु इन्द्रस्वामिकं वाहनमिन्द्रवाहनमिति स्वस्वामिसम्बन्धो विवक्ष्यते। ततश्च दाक्षिवाहनमितिवदिन्द्रवाहनमिति सिद्धमिति ॥ ९१ ॥

सदसन्त इति । एवमुक्तप्रकारेण साधवश्चासाधवश्च शब्दा विविच्य पृथक्कृत्य निदर्शिता उदाहृताः । अनयैव दिशाऽस्मदुक्तेनैव सदसद्विवेकमार्गेण

शेषाणामनुक्तानां सतामसतां च शब्दानामवेक्षणं पर्यालोचनं कार्यं कर्तव्यमिति भद्रम् ।। १ ।।

इत्थं समिद्धगुणसंपदि वामनस्य
प्रस्थानसीमनि चिरादलसोज्झितायाम् ।
व्याख्यानपद्धतिरियं व्यवहारहेतो-
र्निष्कण्टका निपुणमारचिता कवीनाम् ।। १ ।।

न्यायोक्तिवीचिनिचयेन कुतर्कजाल-
कूलङ्कषेण गहने गुणरत्नगर्भे ।
सारस्वताऽमृतसरस्वति नावमेना-
मालम्ब्य रन्तुमनसो विचरन्तु धीराः ।। २ ।।

पदे केचिद्वाक्ये कतिचन परे मान इतरे
कवित्वेऽलङ्कारे कतिचन परे नाट्यनिगमे ।
भजन्ति प्रागल्भ्यं न खलु वयमेतेषु गणिता
बहूकुर्वन्त्येते बुधसदसि नः किन्तु सुधियः ।। ३ ।।

शब्दार्थौ चरणौ प्रतीकविसरो वाक्यानि गुम्फो लस-
न्मूर्तिर्वस्तु शिरः परिष्कृतिरलङ्कारोऽसवो रीतयः ।
यस्याः स्वीयगुणा गुणाः सुरुचिराः शृंगारचेष्टादयो
रम्याऽष्टादशवर्णना कृतिवधूः सेयं जगन्मोहिनी ।। ४ ।।

इति कृतरचनायामिन्दुवंशोद्भवेन
त्रिपुरहरधरित्रीमण्डलाखण्डलेन ।
ललितवचसि काव्यालंक्रियाकामधेना-
वधिकरणमयासीत् पञ्चमं पूर्तिमेतत् ।। ५ ।।

इति श्रीगोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालविरचितायां वामनालङ्कारसूत्रवृत्तिव्याख्यायां काव्यालङ्कारकामधेनौ पञ्चमेऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ।

समाप्तं चेदं प्रायोगिकं पञ्चममधिकरणम् ।
समाप्तश्चायं ग्रन्थः । श्रीरस्तु ।

परिशिष्टम्

वृत्तिवर्जितानि

काव्यालङ्कारसूत्राणि

प्रथमाऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः

१ काव्यं ग्राह्यम् अलङ्कारात् ।
२ सौन्दर्यमलङ्कारः ।
३ स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम् ।
४ शास्त्रतस्ते ।
५ काव्यं सद् दृष्टाऽदृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् ।

प्रथमाऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः

१ अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च कवयः ।
२ पूर्वे शिष्याः, विवेकित्वात् ।
३ नेतरे तद्विपर्ययात् ।
४ न शास्त्रमद्रव्येष्वर्थवत् ।
५ न कतकं पंकप्रसादनाय ।
६ रीतिरात्मा काव्यस्य ।
७ विशिष्टा पदरचना रीतिः ।
८ विशेषो गुणात्मा ।
९ सा त्रेधा वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति ।
१० विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या ।
११ समग्रगुणा वैदर्भी ।
१२ ओजःकान्तिमती गौडीया ।
१३ माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली ।
१४ तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात् ।
१५ न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात् ।
१६ तदारोहणार्थमितराभ्यास इत्येके ।
१७ तच्च न, अतत्त्वशीलस्य तत्त्वानिष्पत्तेः ।
१८ न शणसूत्रवानाभ्यासे त्रसरसूत्रवानवैचित्र्यलाभः ।
१९ साऽपि समासाभावे शुद्धवैदर्भी ।
२० तस्यामर्थगुणसम्पदास्वाद्या ।

२१ तदुपारोहादर्थगुणलेशोऽपि ।
२२ साऽपि वैदर्भी तात्स्थ्यात् ।

प्रथमाऽधिकरणे तृतीयोऽध्यायः

१ लोको विद्या प्रकीर्णश्च काव्याङ्गानि ।
२ लोकवृत्तं लोकः ।
३ शब्दस्मृत्यभिधानकोशाच्छन्दोविचितिकलाकामशास्त्रदण्डनीतिपूर्वा विद्याः ।
४ शब्दस्मृतेः शब्दशुद्धिः ।
५ अभिधानकोशतः पदार्थनिश्चयः ।
६ छन्दोविचितेवृत्तसंशयच्छेदः ।
७ कलाशास्त्रेभ्यः कलातत्त्वस्य संवित् ।
८ कामशास्त्रतः कामोपचारस्य ।
९ दण्डनीतेर्नयापनययोः ।
१० इतिवृत्तकुटिलत्वं च ततः ।
११ लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवाऽवेक्षणं प्रतिभानमवधानं च प्रकीर्णम ।
१२ तत्र काव्यपरिचयो लक्ष्यज्ञत्वम् ।
१३ काव्यबन्धोद्य पोऽनियोगः ।
१४ काव्योपदेशगुरुशुश्रूषणं वृद्धसेवा ।
१५ पदाधानोद्धरणमवेक्षणम् ।
१६ कवित्वबीजं प्रतिभानम् ।
१७ चित्तैकाग्र्यमवधानम् ।
१८ तद्देशकालाभ्याम् ।
१९ विविक्तो देशः ।
२० रात्रियामस्तुरीयः कालः ।
२१ काव्यं गद्यं पद्यं च ।
२२ गद्यं वृत्तगन्धि चूर्णमुत्कलिका प्रायं च ।
२३ पदभागवद् वृत्तगन्धि ।
२४ अनाविद्धललितपदं चूर्णम् ।
२५ विपरीतमुत्कलिकाप्रायम् ।
२६ पद्यमनेकभेदम् ।
२७ तदनिबद्धं च ।
२८ क्रमसिद्धिस्तयोः स्रगुत्तंसवत् ।
२९ नानिबद्धं चकास्त्येकतेजःपरमाणुवत् ।

३० सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः ।
३१ तद्धि चित्रं चित्रपटवद्विशेषसाकल्यात् ।
३२ ततोऽन्यभेदक्लृप्तिः ।

द्वितीयाधिकरणे प्रथमोऽध्यायः

१ गुणविपर्ययात्मानो दोषाः ।
२ अर्थतस्तदवगमः ।
३ सौकर्याय प्रपञ्चः ।
४ दुष्टं पदमसाधु कष्टं ग्राम्यप्रतीतमनर्थकं च ।
५ शब्दस्मृतिविरुद्धमसाधु ।
६ श्रुतिविरसं कष्टम् ।
७ लोकमात्रप्रयुक्तं ग्राम्यम् ।
८ शास्त्रमात्रप्रयुक्तमप्रतीतम् ।
९ पूरणार्थमनर्थकम् ।
१० अन्यार्थनेयगुढार्थाश्लीलक्लिष्टानि च ।
११ रूढिच्युतमन्यार्थम् ।
१२ कल्पितार्थं नेयार्थम् ।
१३ अप्रसिद्धार्थप्रयुक्तं गुढार्थम् ।
१४ असभ्यार्थान्तरमसभ्यस्मृतिहेतुश्चाश्लीलम् ।
१५ न गुप्तलक्षितसंवृत्तानि ।
१६ अप्रसिद्धासभ्यं गुप्तम् ।
१७ लाक्षणिकासभ्यं लक्षितम् ।
१८ लोकसंवीतं संवृतम् ।
१९ तत् त्रैविध्यं व्रीडाजुगुप्सामङ्गलातङ्कदायिभेदात् ।
२० व्यवहितार्थप्रत्ययं क्लिष्टम् ।
२१ अरूढार्थत्वात् ।
२२ अन्त्याभ्यां वाक्यं व्याख्यातम् ।

द्वितीयाऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः

१ भिन्नवृत्तयतिभ्रष्टविसंधीनि वाक्यानि ।
२ स्वलक्षणच्युतवृत्तं भिन्नवृत्तम् ।
३ विरसविरामं यतिभ्रष्टम् ।
४ तद्धातुनामभागभेदे स्वरसंध्यकृते प्रायेण ।

५ न वृत्तदोषात् पृथग् यतिदोषो वृत्तस्य यत्यात्मकत्वात् ।
६ न लक्ष्मणः पृथकत्वात् ।
७ विरूपपदसन्धिर्विसन्धिः ।
८ पदसन्धिवैरूप्यं विश्लेषोऽश्लीलत्वं कष्टत्वञ्च ।
९ व्यर्थैकार्थसन्दिग्धाप्रयुक्तापक्रमलोकविद्याविरुद्धानि च ।
१० व्याहतपूर्वोत्तरार्थं व्यर्थम् ।
११ उक्तार्थपदमेकार्थम् ।
१२ न विशेषश्चेत् ।
१३ धनुर्ज्याध्वनौ धनुःश्रुतिरारूढेः प्रतिपत्त्यै ।
१४ कर्णावतंसश्रवणकुण्डलशिरःशेखरेषु कर्णादिनिर्देशः सन्निधेः ।
१५ मुक्ताहारशब्दे मुक्ताशब्दः शुद्धे ।
१६ पुष्पमालाशब्दे पुष्पपदमुत्कर्षस्य ।
१७ करिकलभशब्दस्ताद्रूप्यस्य ।
१८ विशेषणस्य च ।
१९ तदिदं प्रयुक्तेषु ।
२० संशयकृत् सन्दिग्धम् ।
२१ मायादिकल्पितार्थमप्रयुक्तम् ।
२२ क्रमहीनार्थमपक्रमम् ।
२३ देशकालस्वभावविरुद्धार्थानि लोकविरुद्धानि ।
२४ कलाचतुर्वर्गशास्त्रविरुद्धार्थानि विद्याविरुद्धानि ।

तृतीयाऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः

१ काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः ।
२ तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः ।
३ पूर्वे नित्याः ।
४ ओजःप्रसादश्लेषसमतासमाधिमाधुर्यसौकुमार्योदारताऽर्थव्यक्तिकान्तयो बन्धगुणाः ।
५ गाढबन्धत्वमोजः ।
६ शैथिल्यं प्रसादः ।
७ गुणः संप्लवात् ।
८ न शुद्धः ।
९ स त्वनुभवसिद्धः ।
१० साम्योत्कर्षौ च ।

११ मसृणत्वं श्लेषः ।
१२ मार्गाभेदः समता ।
१३ आरोहावरोहक्रमः समाधिः ।
१४ न पृथगारोहावरोहयोरोजःप्रसादरूपत्वात् ।
१५ न संपृक्तत्वात् ।
१६ अनैकान्त्याच्च ।
१७ ओजःप्रसादयोः क्वचिद्भागे तीव्रावस्थायां ताविति चेदभ्युपगमः ।
१८ विशेषापेक्षित्वात्तयोः ।
१९ आरोहावरोहनिमित्तं समाधिराख्यायते ।
२० क्रमविधानार्थत्वाद्वा ।
२१ पृथक्पदत्वं माधुर्यम् ।
२२ अजरठत्वं सौकुमार्यम् ।
२३ विकटत्वमुदारता ।
२४ अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः ।
२५ औज्ज्वल्यं कान्तिः ।
२६ नाऽसन्तः संवेद्यत्वात् ।
२७ न भ्रान्ता निष्कम्पत्वात् ।
२८ न पाठधर्माः सर्वत्रादृष्टेः ।

तृतीयाऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः

१ त एवार्थगुणाः ।
२ अर्थस्य प्रौढिरोजः ।
३ अर्थवैमल्यं प्रसादः ।
४ घटना श्लेषः ।
५ अवैषम्यं समता ।
६ सुगमत्वं वाऽवैषम्यमिति ।
७ अर्थदृष्टिः समाधिः ।
८ अर्थो द्विविधोऽयोनिरन्यच्छायायोनिर्वा ।
९ अर्थो व्यक्तः सूक्ष्मश्च ।
१० सूक्ष्मो भाव्यो वासनीयश्च ।
११ उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम् ।
१२ अपारुष्यं सौकुमार्यम् ।
१३ अग्राम्यत्वमुदारता ।

१४ वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः ।
१५ दीप्तरसत्वं कान्तिः ।

चतुर्थाऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः

१ पदमनेकार्थमक्षरं वा वृत्तं स्याननियमे यमकम् ।
२ पादः पादस्यैकस्यानेकस्य चादिमध्यान्तभागा स्थानानि ।
३ भङ्गादुत्कर्षः ।
४ शृङ्खलापरिवर्तकश्चूर्णमिति भङ्गमार्गः ।
५ वर्णविच्छेदचलनं शृङ्खला ।
६ सङ्गविनिवृत्तौ स्वरूपापत्तिः परिवर्तकः ।
७ पिण्डाक्षरभेदे स्वरूपलोपश्चूर्णम् ।
८ शेषः सरूपोऽनुप्रासः ।
९ अनुल्बणो वर्णाऽनुप्रासः श्रेयान् ।
१० पादानुप्रासः पादयमकवत् ।

चतुर्थाऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः

१ उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा ।
२ गुणबाहुल्यतश्च कल्पिता ।
३ तद्द्वैविध्यं पदवाक्यार्थवृत्तिभेदात् ।
४ सा पूर्णा लुप्ता च ।
५ गुणद्योतकोपमानोपमेयशब्दानां सामग्र्ये पूर्णा ।
६ लोपे लुप्ता ।
७ स्तुतिनिन्दातत्त्वाख्यानेषु ।
८ हीनत्वाधिकत्वलिङ्गवचनभेदासादृश्याऽसम्भवास्तद्दोषाः ।
९ जातिप्रमाणधर्मन्यूनतोपमानस्य हीनत्वम् ।
१० धर्मयोरेकनिर्देशोऽन्यस्य संवित् साहचर्यात् ।
११ तेनाधिकत्वं व्याख्यातम्
१२ उपमानोपमेययोर्लिङ्गव्यत्यासो लिङ्गभेदः ।
१३ इष्टः पुन्नपुंसकयोः प्रायेण ।
१४ लौकिक्यां समासाभिहितायामुपमाप्रपञ्चे च ।
१५ तेन वचनभेदो व्याख्यातः ।
१६ अप्रतीतगुणसादृश्यमसादृश्यम् ।
१७ असादृश्यहता ह्युपमा, तन्निष्ठाश्च कवय. ।

१८ उपमानाधिक्यात् तदपोह इत्येके ।
१९ नापुष्टार्थत्वात् ।
२० अनुपपत्तिरसम्भवः ।
२१ न विरुद्धोऽतिशयः ।

चतुर्थाऽधिकरणे तृतीयोऽध्यायः

१ प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपञ्चः ।
२ उपमेयस्योक्तौ समानवस्तुन्यासः प्रतिवस्तु ।
३ अनुक्तौ समासोक्तिः ।
४ किञ्चिदुक्तावप्रस्तुतप्रशंसा ।
५ समेन वस्तुनाऽन्यापलापोऽपह्नुतिः ।
६ उपमानेनोपमेयस्य गुणसाम्यात् तत्त्वारोपो रूपकम् ।
७ स धर्मेषु तन्त्रप्रयोगे श्लेषः ।
८ साद्दश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः ।
९ अतद्रूपस्यान्यथाध्यवसानमतिशयार्थमुत्प्रेक्षा ।
१० सम्भाव्यधर्मतदुत्कर्षकल्पनाऽतिशयोक्तिः ।
११ उपमानोपमेयसंशयः संदेहः ।
१२ विरुद्धाभासत्वं विरोधः ।
१३ क्रियाप्रतिषेधे प्रसिद्धतत्फलव्यक्तिर्विभावना ।
१४ एकस्योपमेयोपमानत्वेऽनन्वयः ।
१५ क्रमेणोपमेयोपमा ।
१६ समविसदृशाभ्यां परिवर्तनं परिवृत्तिः ।
१७ उपमेयोपमानानां क्रमसम्बन्धः क्रमः ।
१८ उपमानोपमेयवाक्येष्वेका क्रिया दीपकम् ।
१९ तत्त्रैविध्यम् , आदिमध्यान्तवाक्यवृत्तिभेदात् ।
२० क्रिययैव स्वतदर्थान्वयख्यापनं निदर्शनम् ।
२१ उक्तसिद्ध्यै वस्तुनोऽर्थान्तरस्यैव न्यसनम् अर्थान्तरन्यासः ।
२२ उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं व्यतिरेकः ।
२३ एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः ।
२४ सम्भाव्यविशिष्टकर्माकरणान्निन्दास्तोत्रार्था व्याजस्तुतिः ।
२५ व्याजस्य सत्यसारूप्यं व्याजोक्तिः ।
२६ विशिष्टेन साम्यार्थमेककालक्रियायोगस्तुल्ययोगिता ।
२७ उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः ।

२८ वस्तुद्वयक्रिययोस्तुल्यकालयोरेकपदाभिधानं सहोक्तिः ।
२९ यत्सादृश्यं तत्सम्पत्तिः समाहितम् ।
३० अलङ्कारस्यालङ्कारयोनित्वं संसृष्टिः ।
३१ तद्भेदावुपमारूपकोत्प्रेक्षावयवौ ।
३२ उपमाजन्यं रूपकमुपमारूपकम् ।
३३ उत्प्रेक्षाहेतुरुत्प्रेक्षावयवः ।

पञ्चमाऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः

१ नैकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण ।
२ नित्यं संहितैकपदवत् पादेष्वर्धान्तवर्जम् ।
३ न पादान्तलघोर्गुरुत्वं च सर्वत्र ।
४ न गद्ये समाप्तप्रायं वृत्तमन्यत्रोद्गतादिभ्यः संवादात् । ।
५ न पादादौ खल्वादयः ।
६ नाऽर्धे किञ्चिदसमाप्तप्रायं वाक्यम् ।
७ न कर्मधारयो बहुव्रीहिप्रतिपत्तिकरः ।
८ तेन विपर्ययो व्याख्यातः ।
९ सम्भाव्यनिषेधनिवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ ।
१० विशेषणमात्रप्रयोगो विशेष्यप्रतिपत्तौ ।
११ सर्वनाम्नाऽनुसन्धिर्वृत्तिच्छन्नस्य ।
१२ संबन्धसंबन्धेऽपि षष्ठी क्वचित् ।
१३ अतिप्रयुक्तं देशभाषापदम् ।
१४ लिङ्गाऽध्याहारौ ।
१५ लक्षणाशब्दाश्च ।
१६ न तद्बाहुल्यमेकत्र ।
१७ स्तनादीनां द्वित्वाविष्टा जातिः प्रायेण ।

पञ्चमाऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः

१ रुद्रावित्येकशेषोऽन्वेष्यः ।
२ मिलिक्लबिक्षपिप्रभृतीनां धातुत्वं, धातुगणस्याऽसमाप्तेः ।
३ वलेरात्मनेपदमनित्यं, ज्ञापकात् ।
४ चक्षिङो द्व्यनुबन्धकरणम् ।
५ क्षीयत इति कर्मकर्तरि ।
६ खिद्यत इति च ।

७ मार्गेरात्मनेपदमलक्ष्म ।
८ लोन्नमानादयश्चानशि ।
९ लभेर्गत्यर्थत्वाण्णिच्यणौ कर्तुः कर्मत्वाकर्मत्वे ।
१० ते मे शब्दौ निपातेषु ।
११ तिरस्कृत इति परिभूतेऽन्तर्ध्युपचारात् ।
१२ नैकशब्दः सुप्सुपेति समासात् ।
१३ मधुपिपासुप्रभृतीनां समासो गमिगाम्यादिषु पाठात् ।
१४ त्रिवलीशब्दः सिद्धः संज्ञा चेत् ।
१५ बिम्बाऽधर इति वृत्तौ मध्यमपदलोपिन्याम् ।
१६ आमूललोलादिषु वृत्तिर्विस्पष्टपटुवत् ।
१७ न धान्यषष्ठादिषु षष्ठीसमासप्रतिषेधः पूरणेनान्यतद्धितान्तत्वात् ।
१८ पत्रपीतिमादिषु गुणवचनेन ।
१९ अवर्ज्यो न व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदः ।
२० हस्ताग्राग्रहस्तादयो गुणगुणिनोर्भेदाभेदात् ।
२१ पूर्वनिपातेऽपभ्रंशो लक्ष्यः ।
२२ निपातेनाप्यभिहिते कर्मणि न कर्मविभक्तिः परिगणनस्य प्रायिकत्वात् ।
२३ शक्यमिति रूपं विलिङ्गवचनस्यापि कर्माभिधायां सामान्योपक्रमात् ।
२४ हानिवदाधिक्यमप्यङ्गानां विकारः ।
२५ न कृमिकीटानामित्येकवद्भावप्रसङ्गात् ।
२६ न खरोष्ट्रावुष्ट्रखरमिति पाठात् ।
२७ आसेत्यसतेः ।
२८ युद्धेद्येदिति युधः क्यचि ।
२९ विरलायमानादिषु क्यङ् निरूप्यः ।
३० अहेतौ हन्तेर्णिच्चुरादिपाठात् ।
३१ अनुचारीति चरेष्टित्वात् ।
३२ केसरालमित्यलतेरणि ।
३३ पत्रलमिति लातेः के ।
३४ महीध्रादयो मूलविभुजादिदर्शनात् ।
३५ ब्रह्मादिषु हन्तेर्नियमादरिसाद्यसिद्धिः ।
३६ ब्रह्मविदादयः कृदन्तवृत्त्या ।
३७ तैर्महिधरादयो व्याख्याताः ।
३८ भिदुरादयः कर्मकर्तरि कर्तरि च ।
३९ गुणविस्तरादयश्चिन्त्याः ।

४० अवतरापचायशब्दयोर्दीर्घह्रस्वत्वव्यत्यासो बालानाम् ।
४१ शोभेति निपातनात् ।
४२ अविधौ गुरोः स्त्रियां बहुलं विवक्षा ।
४३ व्यवसितादिषु क्तः कर्तरि चकारात् ।
४४ अहेति भूतेऽन्यणलन्तभ्रमाद्ब्रुवो लटि ।
४५ शबलादिभ्यः स्त्रियां टापोऽप्राप्तिः ।
४६ प्राणिनी नीलेति चिन्त्यम् ।
४७ मनुष्यजातेर्विवक्षाविवक्षे ।
४८ ऊकारान्तादप्यूङ्प्रवृत्तेः ।
४९ कार्तिकीय इति ठञ् दुर्वरः ।
५० शार्वरमिति च ।
५१ शाश्वतमिति प्रयुक्तेः ।
५२ राजवंश्यादयः साध्वर्थे यति भवन्ति ।
५३ दारवशब्दो दुष्प्रयुक्तः ।
५४ मुग्धिमादिष्विमनिज्मृग्यः ।
५५ औपम्यादयश्चातुर्वर्ण्यवत् ।
५६ ष्यञः षित्करणादीकारो बहुलम् ।
५७ धन्वति व्रीह्यादिपाठात् । ।
५८ चतुरस्रशोभीति णिनौ ।
५९ कञ्चुकीया इति क्यचि ।
६० बौद्धप्रतियोग्यतेक्षायामप्यातिशायनिकाः ।
६१ कौशिलादय इलचि वर्णलोपात् ।
६२ मौक्तिममिति विनयादिपाठात् ।
६३ प्रतिभादयः प्रज्ञादिषु ।
६४ न सरजसमित्यनव्ययीभावे !
६५ न घृतधनुषीत्यसंज्ञायाम् ।
६६ दुर्गन्धिपद इद् दुर्लभः ।
६७ सुदत्यादयः प्रतिविधेयाः ।
६८ क्षतदृढोरस इति न कप् तदन्तविधिप्रतिषेधात् ।
६९ अवैहीति वृद्धिरवद्या ।
७० अपाङ्गनेत्रेति लुगलभ्यः ।
७१ नेष्टाः श्लिष्टप्रियादयः पुंवद्भावप्रतिषेधात् ।
७२ दृढभक्तिरसौ सर्वत्र ।

७३ जम्बुलतादयो ह्रस्वविधेः ।
७४ तिलकादयोऽजिरादिषु ।
७५ निशम्यनिशमय्यशब्दौ प्रकृतिभेदात् ।
७६ संयम्यनियम्यशब्दावणिजन्तत्वात् ।
७७ प्रपीयेति पीङः ।
७८ दूरयतीति बहुलग्रहणात् ।
७९ गच्छतीप्रभृतिष्वनिषेध्यो नुम् ।
८० मित्रेण गोप्त्रेति पुंवद्भावात् ।
८१ वेत्स्यसीति पदभङ्गात् ।
८२ कामयानशब्दस्सिद्धोऽनादिश्चेत् ।
८३ सौहृददौहृदशब्दावणि हृद्भावात् ।
८४ विरम इति निपातनात् ।
८५ उपर्यादिषु सामीप्ये द्विरुक्तेषु द्वितीया ।
८६ मन्दं मन्दमित्यप्रकारार्थत्वे ।
८७ न निद्राद्रुगिति भष्भावप्राप्तेः ।
८८ निष्यन्द इति षत्वं चिन्त्यम् ।
८९ नाङ्गुलिसङ्ग इति मूर्धन्यविधेः ।
९० तेनावन्तिसेनादयः प्रयुक्ताः ।
९१ नेन्द्रवाहने णत्वमाहितत्वस्याविवक्षितत्वात् ।

इति कविवरवामनविरचितानि काव्यालङ्कारसूत्राणि ।

काव्यालङ्कारसूत्रानुक्रमणिका

काव्यालङ्कारसूत्रवृत्त्युदाहृतश्लोकानुक्रमणिका